मजेना उपन्यासकार गोपीनाथ महान्ती की ज्ञानपीठ पुरस्कार-जयी प्रस्तुत कृति 'माटीमटाल' का नाम भारतीय उपन्यास साहित्य की शीर्षस्थ कृतियों में आता है। इस उपन्यास को १९७३ का ज्ञानपीठ पुरस्कार इस आधार पर प्राप्त हुआ है कि १९६२-६६ के बीच प्रकाशित भारतीय भाषाओं के सर्जनात्मक साहित्य में इसे 'सर्वश्रेष्ठ' की समकक्षता का गौरव प्राप्त हुआ है।

'माटीमटाल' लगभग १००० पृष्ठों का उपन्यास है जिसके लिखने में १० वर्ष से अधिक का समय लगा है। कथा का विस्तार, पात्रों की बहुलता, उनके मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों का प्रसार, प्रकृति के नाना रूपों का जीवन्त चित्रण आदि अनेक पक्ष हैं जिनके आधार पर इस उपन्यास को 'गद्य का महाकाव्य' कहा और माना गया है। उपन्यास का एक-एक चरित्र सजीव होकर मानस पटल पर अंकित होता चलता है और उपन्यासकार की तूलिका के चित्र-विचित्र रंग ऐसे भी पाठक को मन्त्रमुग्ध कर देते हैं।

माटीमटाल

[भाग–२]

मूल : गोपीनाथ महान्ती
अनु. : शंकरलाल पुरोहित



भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक ३७८
सम्पादक एवं नियोजक
लक्ष्मीचन्द्र जैन
जगदीश



Lokodaya Series : Title No. 378
MATIMATAL [Part–II]
(Novel)
GOPINATH MAHANTI
First Edition : January 1975
Price : Rs. 25.00



BHARATIYA JNANPITH
B/45-47 Connaught Place
NEW DELHI–110001

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
बी/४५-४७ कॅनॉट प्लेस, नयी दिल्ली-११०००१
प्रथम संस्करण : जनवरी १९७५
मूल्य : पचीस रुपये

मुद्रक
सन्मति मुद्रणालय
दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी–२२१००५

माटीमटाल

[भाग-२]



चैत चढ़ आया। चातक ताक रहा है मेघ की ओर, केला की स्त्री को डाकिये का इन्तजार है। शायद ले आये वही चिट्ठी जिसका वह मन ही मन सपना देखती है—'कुछ खाने को रखा है ? मैं जाता हूँ।' कभी-कभी हलका कोहरा दिख जाता, बरामदे में खड़े होकर लगता कि बाड़ी के उस पार मानो दूर तक सब कुछ तैर रहा है, बीच-बीच में किसी सपन-गड़े बोहित की तरह का अनजाना गाछ। और कभी-कभी वनवासी मेघ ढँकते-से दीख जाते, जिन्होंने कभी छतरी की थी राम-लखन-सीता के सिर पर। फिर जैसे वह बात उसे याद आ जाती है। फिर धू-धू धूप सुलगने लगती, चैती हवा में धूल उड़ती, केला की स्त्री लौट आती घर के भीतर। चिट्ठी आती नहीं, केला भी नहीं आता।

काम न हो तो भी काम गढ़ना जानती है बुढ़िया सास। हाथ खुजलाते रहते है, रुकते ही नहीं। खपर-खपर पाँचों कोठरियाँ बुहारने में लगी होती, फिर दरवाजा। दिन में कम से कम दो बार। भीतों को मजूरनी लगवाकर लिपवाती। परन्तु दरवाजा वह खुद ही लीपती। लो, दिन-भर का काम हो गया। धान के कोठाल के नीचे, ढेरी के नीचे, घर के कोनों में, छानी के नीचे छान-बीनकर देखती, वहाँ मूसों ने माटी खोद डाली, वहाँ बिल्ली ने मैला कर दिया है। साफ करने बैठो तो ढेरों काम है। कुछ नहीं तो चीजों को यहाँ से वहाँ, वहाँ से यहाँ, इधर-उधर ही करना—इस तरह भी काम खड़ा किया जा सकता है। और फिर कुछ विशिष्ट काम होते हैं—भिगोना, पीसना, बाँटना, बड़ी पारना। डाले के डाले बड़ी के सुखाकर रखे हैं, और भी बनायी जा रही हैं। सूखा नारियल पेरकर तेल निकाला जा चुका है। फिर अब नया काम मिला है, आम की फाँक में राई भरकर अचार बनाना, पनकी पर सवार होकर बैठ पड़ी तो चल पड़ा काम ही काम, समय ही नहीं मिले। अनगिन बरसों का तरह-तरह का अचार-खटाई आदि हण्डियों में भर-सहेजकर रखा हुआ है, और भी रखा जा रहा है। सहजन की फलियों का अचार, टमाटर का अचार, बेर का अचार, नीबू का अचार। और आम का अचार तो पता नहीं कितनी भाँति का। अब भी हाथ रुका नहीं है। इसके अलावा रोज का बँधा-बँधाया काम। खाली दोनों समय गोरू-सेवा में जुटने से ही समय कट जाये। उसपर फिर पूजा-परब-त्योहार।

दूब के दो-चार तार और बेर के पत्ते सहेजने से लेकर पैर पसारे जाँघ पर बत्ती बनाने, पंचामृत तैयार करने, ब्राह्मण भोजन कराने, उन्हें विदा करने तक। कभी खुरपी लेकर बाड़ी की ओर निकल पड़ती बुढ़िया। झुककर बथुवे की जड़, मिरच की जड़ की मिट्टी को भुरभुरी करती। एक-एक पौधे की, चाहे कितना ही

छोटा या बड़ा हो वह पौधा, जैसे सबकी अलग-अलग आवश्यकताएँ हैं। और वह उन्हें पूरा कर रही है। कहीं बुलबुलाने कीड़ों की भरमार है, कहीं किसी पौधे की जड़ में मुट्ठी-भर माटी लगनी है। इनमें से कौन-सा पौधा बेकार है? सब तो जरूरी है। फिर खेती की खोज-खबर रखना—यह भी रोज का एक जंजाल ही है। अपना हलवाहा-जगुवाल तीन, फिर बटाईदार, खेत में बाड़ी-बगीचा, आम, नारियल, कहाँ क्या लगेगा, कहाँ क्या चाहिए—इन सब कामों से लेकर मजूरों के घरेलू झंझट-झगड़ों तक की खबर जानने-समझने तक; बिना समझे नहीं चलता। कोई रूठ गया है, खाना नहीं खाया, किसी के घर में अशान्ति भभक रही है, मन को ठीक किये बिना उसके हाथ-पैर नहीं चल पाते।

बुढ़िया सास पर मानो हरी घास की परत पर परत जाल हो। जाल जकड़े है, छोड़ती नहीं। फिर भी, चाहे जितनी घनी हो, बुढ़िया उसे भी किये है नित-हरी, रखवाली। स्वामी कब के मर चुके, बेटा आदमी बनते ही परदेसी हो गया। बहू थी, वह निकली बाँझ। ठाकुरजी को कितनी-कितनी मिन्नतें की पर उन्होंने सुनी नहीं। अब-तक आस छूटी नहीं है। अकेले सूने जीवन को कैसे उन्होंने अपना लिया है—केला की पत्नी यह सब सोचकर आश्चर्य करती।

"आ रे बहू, दो-चार कण्डे ही थाप ले। अभी न कण्डों का उपकार नहीं समझ रही हो, बरसा में जब झड़ी लगी होगी, जलावन नहीं मिलेगा और लोगों के घर तीन बेला चूल्हा नहीं जलेगा, तब कण्डों का क्या कम आदर होगा!"

"क्यों इतना कुछ करती हो माजी?" केला की पत्नी कई बार आपत्ति करती, "तनिक लेट जाती तो पैर ही मल देती। हर घड़ी इतनी मेहनत—क्यों, बेमतलब.. ? दो पेट के लिए दोनों जून दो मुट्ठी कुछ उबालकर खा लिया, बस। क्या होगा इतना काम करके?"

"काम कहाँ है बहू? माटी खोदती हूँ या पत्थर तोड़ती हूँ—इसे भी क्या काम कहा जाये! भगवान् ने हाथ-पैर दिये हैं तो आदमी को उन्हें हिलाना पड़ेगा ही! आँखें दी हैं तो देखेगा ही! अच्छी-बुरी बात कुछ आँखों के आगे आयी तो क्या कोई चुप बैठा रहेगा, प्राण के रहने तक? दो पेट से क्या और दो सौ से क्या होना है? जिन्दा रहने पर आदमी डोलता-चलता रहेगा कि नहीं?"

केला की पत्नी कुछ कहती नहीं। सास बड़ी-बड़ेरी ठहरी! उनके साथ तर्क वह कर नहीं सकती। परन्तु जब वे शास्त्र-पुराण पढ़ नीति की बातें समझाने की चेष्टा करती हैं, किताब पर झुकी उनके चश्मा लगी आँखें और सुन्दर सौम्य चेहरे को देखकर केला की पत्नी के गहरे मन का घनीभूत व्यर्थता-बोध धू-धू कर जल उठता। कभी-कभी ओट में बैठी हाँ-हूँ भरते-भरते उसकी आवाज भरी-मोटी सुनाई पड़ती। इसके बाद फिर एकदम चुप्पी। वह पल्लू से मुँह ढाँप गुड़मुड़ होकर बैठ जाती।

और कभी-कभी वह काठ हुई-सी बैठी रहती। जीवित पिण्ड को छोड़ चेतना

मानो कहीं उड़ जाती ।

चैत पूरा होते-होते कभी-कभी उसकी आँखें दूर के धुँधले आकाश में घूमती-फिरती रहतीं । दोपहर-ढले की बेला में, जब सुबह का काम शेष नहीं रहता या साँझ का काम आरम्भ नहीं हुआ होता उसकी सारी अपूर्णता, सारी व्यर्थता का बोझ उठाये उसकी यह सचेत घड़ी उसपर मानो छा जाती ।

और तब उसके सुलगते मन में तिर जाता—सास का पुराण बाँचना, उसके साथ-साथ उनकी टिप्पणियाँ सुननेवालोंके मन्तव्य, "और नहीं तो क्या, भला यह नहीं और क्या ?" जानते-बूझते भी उसका ध्यान वहाँ से हट जाता । हृदय सच मान लेने पर भी मन कहता—नहीं, यह सच नहीं है । यह सच क्यों होगा ? उसके दुख का चित्र या उसका जोड़ यहाँ कहाँ ?

उस दिन वे और दिनों की भाँति सारला महाभारत पढ़ रही थीं, और अनेकों बड़ी-बूढ़ियाँ सुन रही थीं ।

वे समझा रही थीं, "ये सुना तो जुधीपठरजी महाराज जुध में उतरने से पहले कैसे एक-एक के गले लगते हैं जाकर, ताकि जुध न छिड़े, कोई अनिष्ट में न पड़े । क्या कहा उन्होंने—भीषम, दरोण, किरपाचारजजी, करण, जाने कितने-कितने लोग वहाँ थे ! वे सब के सब तो परम ज्ञानी पुरुष थे, सारी बातें जानते थे; जानते थे कि वे मरेंगे, यह बात भी कही । तो भी अपना मारग छोड़ने को कोई राजी नहीं हुआ ! जानते-बूझते उसमें के एक-एक आगे बढ़े और गिर पड़े । जीजी ! उन्हें ही कहा जाता है आदमी । अस्वथामा अमर बर पाये था, तो भी क्या सनमान मिला ? इतना बड़ा छत्री, उसे लड़ाई में एक दिन भी अगुआ बनाकर नहीं भेजा, दुरजोधन ने खुद कहा—'अरे तू तो मरने से डर गया सो निर्जीवी होने का बर.माँगा था, तू भला छत्रीपण के जोग है ?' सब समझा दिया है । इस संसार को चकमा देनेवाला आदमी आदमी नहीं । इसी में रहकर अपना कर्तव्य करने से लोग सनमान करेंगे, भला कहेंगे । और साथ में ठाकुरजी में लगन रखो तो मुकती मिल जायेगी ।"

अचानक उसी समय केला की पत्नी के दिमाग में रद्-राद् कर कुछ जैसे टूट गया हो । उसने अपनी गोल-मटोल बाँह को हाथ से टटोला । आहिस्ते-आहिस्ते दबाने लगी । इसके बाद ताकने लगी दीवार पर टँगी हँसती हुई सिनेमा की अभिनेत्री की तसवीर की ओर । फिर उसकी आँखें जाकर ठहर गयीं घुटनों पर बैठे गोपाल के चित्र पर, वही, जिसे वह बिछौने पर सोये-सोये कई बार देखती और मन ही मन सोचती । तभी अचानक उसके मन में एक तरह की सनक-सी सवार हुई—उसका भी एक बेटा हुआ था, कोई उससे उसका बेटा छीन ले गया है । आँगन की ओर देखा, लाल-लाल गोडीवाण फूल गुच्छे के गुच्छे दीवार पर झूल रहे हैं । उन लाल फूलों के रंग ने मानो उसकी चेतना में क्षण-भर में ही जैसे आग जला दी हो । अपने माथे के बालों को खोलकर बिखेर दिया, देह से धोती खिसकाकर रो उठी और छाती पीटने लग गयी ।

उसी अवस्था में वह कूदकर उठी और पछाड़ खाकर लोटते-पोटते ऊँची आवाज़ में पुकारने लगी। पलक-भर में सास ने पुराण पढ़ना बन्द कर दिया। दौड़ आयी सब की सब। देखा कि केला की पत्नी ने एक नयी स्थिति पैदा कर दी है।

ये क्या हुआ उसको! आँखें लाल, मुँह लाल, चेहरे की मुद्रा कुछ अलग तरह की। सच, जैसे वह कोई मुखौटा पहने हो। आँखें चढ़ गयी हों जैसे, मानो उनमें शून्यता भरी हो।

"बहू, बहू! क्या बात है?"

रुलाई बन्द हो चुकी। पर कोई बात कहने पर वह सुनती ही नहीं। गरदन मरोड़कर एकटक देखती बैठी है। इसके बाद दाँत पीसती हुई भयंकर चेहरा बनाकर वह दहाड़ उठी। चीखने लगी, "मेरा बेटा दे, मेरे बेटे को दे, कुलटानी! नहीं तो तेरा वंस सूना कर दूँगी। कहाँ छुपाया है बता! दे, लाकर दे।"

उसकी उग्र मूर्ति देखकर पीछे हटती-हटती चीखती-चिल्लाती सब स्त्रियाँ इधर-उधर भाग छूटीं। हल्ला मच गया। बस्ती में, घर-घर में, खुसर-फुसर होने लगी। लोगों ने चर्चा की—यह क्या हुआ? कभी हूँ-चूँ नहीं, अपने सुख-दुख में मुँह सीये पड़ी थी अपने घर में ही, अब क्या हुआ उसे कि हंगामा खड़ा कर दिया है। बेटा उसे हुआ कब जो कोई उसे ले गया?

पदी की माँ जब से उस दृश्य को देखकर आयी तब से उसका माथा धमक रहा था। वह घर से फिर निकली भी नहीं। चेमा की माँ डर के मारे काठ हो गयी, वह भी नहीं जा सकी। घर बैठकर केला की माँ के दुख में वह केवल हाय-हाय करने लगी। और कई लोग गये, बूढ़ियाँ, बहुएँ, बेटियाँ। छोटे बच्चों को सावधान कर दिया गया। घर से बाहर नहीं निकलने दिया गया। कुछ देखे बिना ही चारों ओर एक अफवाह फैल गयी कि केला की पत्नी को किसी अपदेवता ने पकड़ा है या कोई डायन या चुड़ैल उसमें प्रवेश कर गयी है।

"पाँच-गढ़ा के पास जो बरगद है न, वहाँ कितने लोगों की वहाँ के भूत से भेंट हुई है," आरत अमीन ने बताया, "किस जुग से कहता हूँ कि काटकर उसका सफाया कर दो।" आरत अमीन कन्धे पर गमछा डाल निकल पड़े थे। भूत के डर से हाथ में लोहे की कील थी, कहते हैं हाथ में लोहा रखने से भूत कुछ नहीं कर सकता। बोले, "वही बरगद समझ रखो राज-भर में भूत-प्रेतों का अड्डा है। शास्त्र कहते हैं—अन्धकारे महाघोरे भ्रमन्ति प्रेतरूपिणः—यानी अधिक अन्धकार पड़ जाये तो प्रेत लोग एक-एक रूप लेकर आदमी का मन भरमाते हैं। पुराने घने पेड़ में उनका वास होता है। इसीलिए पुराने घने पेड़ देखकर मुझे तो कैसा-कैसा लगने लगता है। और उस पीपल के पेड़ को क्या मामूली समझते हो? एक डाल ही तो कटी, वह पेड़ तो अभी भी घना है—"

पदुरी केवट ने कहा, "क्या सिर्फ पेड़ों पर ही उनका वास है? अरे, मन्दिर

में, कुएँ में, बाँस के वन में, कहीं माटी तले, नदी के पेट में इधर-उधर कहाँ-कहाँ बिखरी हैं देवी-देवताओं की मूर्तियाँ। किस पीढ़ी में किस महात्मा ने उन्हें गढा होगा, भोग-भाग की व्यवस्था की होगी। सो तो अब और रहा नहीं। पर वे देवता तो हैं। उल्कापुर के बाँध में बड़ा जाल डालने पर काले पत्थर की दसभुजी दुर्गा-मूर्ति निकली थी ! कितनी सजीव मूर्ति ! आदमी-भर ऊँची। अरे वहाँ जिनकी टीले पर थरपना की गयी है। माटी खोदते-खोदते नीचे से केवल पत्थर ही पत्थर की मूर्तियाँ ! जिधर देखो बस मूर्तियाँ ! जमीन खोदते-खोदते क्या नहीं मिल जाता !"

"सच ! बात बिलकुल सच है !" चन्दरा अहीर ने कहा, "बरगद की जड़ और बेंतों में इधर-उधर लिपटी पड़ी हैं देवताओं की मूर्तियाँ, जगह-जगह। कौन उनकी खोज-खबर लेता है ? बनी तो पूरी श्रद्धा के साथ बनी, अब वो ज़माना गया, अब कौन किसे पूछता है ? माटी के नीचे तो ढेर की ढेर मूर्तियाँ हैं, किसने उसका हिसाब रखा है ?"

बूढ़े बामू पट्टनायक भी निकले थे। कहने लगे। ये सब मन की कल्पनाएँ हैं, सारी मूर्तियाँ अगर प्रकोप दिखातीं तो आदमी का रास्ते चलना कठिन हो जाता। यह तो सारा देस का देस ही है मूर्ति और मन्दिरों का। माटी के नीचे ही नीचे देवता, आदमी के पैर पड़ते तो दोष नहीं लगता ! अरे यह सब कुछ नहीं।"

"तो फिर उसे और कुछ हुआ है, तुम ऐसा सोचते हो ?"

"मेरे सोचने में क्या रखा है, या तुम्हारे सोचने में क्या है ? जो हुआ है, हुआ है। जाकर देख आओ।"

"नहीं, नहीं, एक-एक कर पकड़ता है।" बिका मुदुली ने डरते-डरते कहा, "जो आँख से देखा, उसे झूठ फिर कैसे कहेंगे ? किसी का प्रेत होगा या कोई देवता होगा। ये तो मनचारी हैं, जिधर मन किया चल पड़े। यह देह है तबतक तो कोई बड़ा है, कोई छोटा है। इसके छूटने पर, फिर मनइच्छा रमण करो, मनचाहे काम करो, और क्या ?"

बामू पट्टनायक खँखारकर बोले, "हाँ-हाँ—"

केला के घर के दरवाजे के सामने रास्ते पर पुरुषों की भीड़ थी। बाहरवाली कोठरी में औरतें। झुण्ड की झुण्ड होकर हिम्मत-साहस बाँध दरवाजे से अन्दर के बरामदे में जाती। कोई-कोई दल तो तनिक दूर से ही बहू को देखता, फिर लौट आता। बरामदे पर खुली पड़ी थी महाभारत की ताड़पत्री पोथी, द्रोण पर्व, उसके पास थोड़ा हटकर अचेत पड़ी थी केला की वह बुढ़िया माँ, जबड़े जकड़ गये थे। उन्हें उठाकर पानी के छींटे मार-मारकर अड़ोस-पड़ोस की औरतों ने चेत कराया और बाहर की कोठरी में लाकर बिठा दिया था। बुढ़िया बीच-बीच में हुबक रही थी। आँखों से धार बह रही थी। पोथी, चश्मा, सब सहेजकर रखे जा चुके थे। एक दल उन्हें समझा रहा था—"धीरज धरो, ठाकुरजी को याद रखो, सब ठीक हो जायेगा, झाड़-फूँक करनेवाला आयेगा, पूजा-ऊजा होगी, तुम चिन्ता क्यों कर रही हो ?"

सांझ होती आ रही है, घर का काम पड़ा है, किसी का उधर ध्यान नहीं। इधर बहू सिर को आगे-पीछे झटक रही है, हाथ-पैर छटपटाकर थिरक रही है, जीभ निकालती है, दांत नाना ढंग से दिखा रही है। कभी नाग की तरह फों-फों फुंकारती है, कभी धमाधम नाचती है, किलकारी मारकर चीख उठती है। कभी रोती है, कभी चिल्लाती है—"दे-दे, मेरा बेटा दे! कहां छुपाया है, लाकर दे, नहीं तो वंस नास कर दूंगी।" सिर के बाल खुलकर फैल गये हैं—चेहरे पर, पीठ पर। कभी उन्हें नोंचती है, मुट्ठी में भर-भरकर मुंह में ठूंस लेती है, गले में लपेट लेती है, आंचल कमर से नीचे लटक रहा है। बिछावन नीचे फेंक देती है, और उसके साथ-साथ घर के बोतल, टीन, कपड़े-लत्ते, चित्र भी। कभी-कभी किटकिटाकर हँस पड़ती है और आंगन-भर में उछल-उछलकर ताली बजाती घूमती है। लगता है, उसपर कोई आत्मा उतर आयी है।

फैला की परनी माती हुई है। अपनी पहली चीख के बाद जब औरों पर उसकी प्रतिक्रिया उसने देखी तो उसके मन की बहक और भी गहरी हो गयी। जिस सहजता से नित्य जीवन में वह इतने दिन तक सब कुछ करती आयी थी, अचानक उसे लगा जैसे वही उसका बन्धन-बेड़ी था। उसने वह तोड़ दिया है, वह मुक्ति पा गयी है। एक-एक आवाज में उसका उल्लास बढ़ता ही गया। लगा, जैसे उसके भीतर बहुत दिनों से कुछ अन्दर ही अन्दर दबा पड़ा था, इस आवाज से वह मुक्ति पा रहा है। खुद को आप ही उकसाने-बढ़ाने पर उसका मन आगे बढ़ता चला गया। जब उसने देखा कि भीतर के आंगन में लोगों की भीड़ बढ़ गयी है। और सबके चेहरों पर, आंखों में कौतूहल की, विस्मय की, भय की छाया है, और वह छायाएं आकर मिलती हैं उसी के पास, सभी लोग उसे भिन्न समझ रहे हैं, उससे बचकर रहते हैं तो वह और भी बढ़ चली। उसे विश्वास-दम्भ पैदा हुआ कि वह वह नहीं है कोई और है। उसका हावभाव, कार्य-चलन आदि इन जीते-जागते निकम्मे लोगों से भिन्न है। बहुत दिनों से मन का असुर भूखों मरा है। बँधे तूफान की तरह यौवन लिये वह ससुराल आयी थी, तूफान अब हो गया है आग की लपट और वह अपने आपको फांय-फांय जला रही है। बहुत दिनों से कामना थी कि वह पुत्रवती हो। उसे विश्वास हो रहा है, रह-रहकर विश्वास मन ही मन कांप भी जाता है—वह बनी तो थी पुत्रवती। ऐसा था उसका बेटा। यह संसार कहीं ले जाकर उसे छुपा आया है। यह सोचकर गरज उठता है तूफान। धीरे-धीरे कार्य-कारण का विचार और बुद्धि उचटती जा रही है। बिखरे-बिसरे खयाल और भ्रान्ति की माया में उसका मन घूम रहा है नाना स्तरों, नाना सतहों पर। उसकी खूब मांसल देह उसकी चेतना के आगे मानो उसी खयाल में हवा में मिल गयी है, वह केवल खयाल ही खयाल है, उसके व्यवहार में है केवल मुक्त, गरम लू से भरी धूप की लहर, उत्तेजना। हां, वह कोई और ही है, जो पहले थी, वह नहीं है!

वह अतृप्त आत्मा, पंचभूतों से स्वयं को खोजकर, एकत्र हो, खोज रही है अपनी खोयी सन्तान को। बहुत याद आती है, कितने दृश्य याद आते हैं। उन्हीं यादों

के बीच वह खोजती-फिरती आकर यहाँ पहुँची है। खबर मिली कि इन्ही लोगों ने कहीं लुका-छिपा दिया है उसे। दिख रहा है, इस सिरे से उस सिरे तक बालू का उजाड़ फैला है। दूर पर पानी। सब जगह जैसे घूमते-फिरते वह खोज रही थी। और जो घने बाग-बगीचे दिखते, पहाड़ों की कतारें, इतने गाँव-घर, नारियल—माया की तरह सब दिख जाते आँखों के आगे। अँधेरी रात में तारों-भरा काला आकाश, चाँदनी में छलछलाता पानी, फिर उस पार सरसोंफूलिया माया का कोहरा, जिसमें से सुनाई पड़ जाती जलहंसों की कलरव ध्वनि, काला-काला बोहित की तरह क्या-कुछ तैर आता। काली छाया की तरह लोग पतवार खे रहे हैं, जैसे कि वह देखती आयी है श्रीमन्दिर की भीत पर, सब जगह तो वह थी, खोजती फिर रही थी अपनी सन्तान को। अधर ही अधर में बहती तैरती चली आयी थी बादलों के बीच, नीचे देखती-देखती, इधर-उधर मन्दिर के शिखर उठे हैं, सहारे से टिकी छाज, पेड़ों की फुनगियाँ, और कहीं सटे हुए पेड़ों की छतरियाँ—सब एक होकर बन गयी है छायादार फ़र्श। और कभी-कभी गरजती वर्षा-आँधी में मिलकर खोजती रोती-रोती फिरी है वह। बच्चों की भीड़ देखी है पर अपने बच्चे को नहीं देखा। रास्ता दूर तक जाते देखा है, लोगों को आते-जाते देखा है, पर कहीं कोई उसके बच्चे को गोद में लिये नहीं मिला।

यहाँ उसके खोजने-खाजने का समाधान होगा, यह उसकी चेतना बता रही है। शत्रु से अपने बल पर वसूल कर लेगी वह अपना पावना। उसकी सन्तान उसे मिलेगी, और फिर वह चली जायेगी।

कोई धूप-धूना लाकर रख रहा है। किसी ने लाकर पना-छेना रखा, तो किसी ने मन्दार के फूल। कुछ लोगों ने लम्बे पसरकर प्रणाम किया। ये लोग उसकी शरण आये हैं, ताकि वह इनमें किसी का अनिष्ट न करे। धूप का धुँआ भँवर डालता कमरे में घूम रहा है। उसने साँस द्वारा खींच-खींचकर उसे ग्रहण किया। उसे याद आया कि वह गन्ध आहारी, पवन आहारी है। सिर हिला-हिलाकर देह को थिराया-नचाया। अपने आप उसकी उत्तेजना बढ़ती गयी थी। इसके बाद माथे में चढ़ा धूनी का धुँआ, उसकी उत्तेजना और बढ़ी। इसके बाद सुना कि बाहर रास्ते पर ढोल ढाँव-ढाँव बज रहा है, ढोल के साथ महूरी चिरचिरा रही है। उसे खयाल आया, अब की उसे नाचना पड़ेगा, जैसे कि उसने देखा है 'बूढ़ा' का नाच। उसे लगा जैसे जी भरकर वह नाची है सदा, एक तीखी किलकारी भरकर वह सारे आँगन में नाच-नाचकर घूमने लगी। कभी छलाँग-भर कूदती, कभी कमर पर हाथ रख एक पैर उठा, एक पैर से नाचती। सिर के बाल बिखरकर लोट रहे हैं, आँख फाड़े देख रही है, जीभ लपलपा रही है, चेहरे की पेशियों को नचा रही है। कहाँ से आ गयी उसके पैरों में विचित्र ताल, देह की लहरों में छन्द! ढोल बजा, केला की पत्नी नाची। बाजा थमा, उसका नाचना रुका। देखा, आँगन भरा है। लोग खचा-खच। कितने ही आकर हाथ जोड़ रहे हैं। कोई धरती पर सिर रगड़ रहा है। लगा, जैसे वह इन्हें जानती है, किसके मन में क्या दुख या

चिन्ता है—सब मानो उसके सामने स्पष्ट है। उसका मन उदार हो मौन सहानुभूति और आशीर्वाद उँड़ेलने लगा। इसके बाद अचानक उसे वह पुरानी धक-धक याद आ गयी। जन्तु की तरह गरजकर वह चिरचिरा उठी, "दे मेरा बेटा, ला दे रे, नहीं तो तेरा वंस नष्ट कर दूँगी रे कुलच्छनी!" पैर पसार, घुटनों से नली तक हथेली फिराते-फिराते सिर झटक-झटककर, जीभ निकाल, दाँत दिखा वह उनचास पवन उठते रोगी की तरह विकृत शब्द कर चक्कर मारने लगी। गेल्ही की माँ, कन की माँ हाथ पकड़े-थामे उसके मुँह के पास आयी। गेल्ही की माँ ने पूछा, "कौन हो माँ, तुम?"

केला की पत्नी के मन का बहकना मानो पूरा हो गया, एक ही प्रश्न से। अब उसने सामने खड़े लोगों को देखा, और उसकी चेतना में एक धारणा उठी—ये सब मनुष्य हैं, वह स्वयं मनुष्य नहीं। अपने-अपने घर-बार के धन्धे में बँधे-गुँथे होकर छोटे-छोटे आदमी हैं ये लोग, उससे डर रहे हैं, वह इन लोगों के दल की नहीं है, स्वतन्त्र है।

कन की माँ ने पूछा, "तुम कौन हो माँ, कहाँ से आयी हो? इसका आसरा क्यों लिया? कौन हो माँ तुम?"

कितने चेहरे झुके आते हैं उत्तर सुनने के लिए। मन ही मन सोचने लगी, कौन है यह? बेटा खोयी माँ, यहाँ उसके बेटे को कोई छुपाये है, वह खोज रही है, बेटा लिये बिना वह नहीं जायेगी।

इसके अलावा और क्या परिचय होगा?

कोई परिचय देने की जरूरत नहीं, गोपन ही रहे यह रहस्य, उसे अपने खोये बेटे की आवश्यकता है। बेटा चाहिए।

"कौन हो माई तुम?"

"दया करो हे दयामयी! कौन हो तुम, बोलो! क्या किये तुम शान्त होओगी? क्यों इस गरीब की बहू को कलबल करती हो?"

"कौन हो माई तुम?"

"कौन? कौन? कौन?"

ये इतनी टिमटिमाती आँखें प्रतीक्षा में बैठी हैं, चेहरे उसी की ओर उठे हैं। क्या दरकार है इन्हें इसके परिचय की? उसका बेटा ला दें, नहीं तो मुँह में अंगारे उँड़ेल देगी। बाघिन की तरह नोच-खसोटकर, दुख-क्रोध सबको मिलाकर जी दहलाने-वाली चीख के साथ वह चिल्लायी—"मैं कौन हूँ, इससे तुम्हें क्या मिलेगा? मुझे मेरा बेटा ला दो। नहीं तो खाऊँगी—खाऊँगी—एक-एक कर इस गाँव के सबको खतम कर दूँगी।"

भय से चेहरा सुखा एक-एक कर सब पीछे हट गयी। पीछे से कौन-किधर चुपके से चल दी। दबे गले में बातचीत, फुसफुसाहट, एक साथ होने तक सू-सा खट-खाट की आवाज आ रही है।

"चल री, चलें। डायन-डाइन के मुँह के सामने कौन आये? वह पीछा पड़ी

तो खा आयेगी।"

"अई, पेट में दरद उठ आया, मैं आ रही हूँ।"

"जी, छोटा बच्चा छोड़कर आयी हूँ, उठ गया होगा।"

"साँझ घिर आयी है, घर पर कोई नहीं है आज, जो यहाँ मेरी कोई जरूरत तो है नहीं।"

"नहीं-नहीं, यह और किसम की है, देखती नहीं साली 'बच्चा ला दे बच्चा ला दे' कह रही है।"

"बच्चा छोड़कर माँ मर गयी। बस खोज रही है बेटा। तब से खोज रही है। किस गाछ पर आसरा किये थी? बाड़ी की ओर सेंहुड़ा गाछ में होगी? इसे देखा और चढ़ बैठी। अब क्या होगा, पता नहीं। भगवान् रक्षा करें, बेचारी केला की पत्नी को।"

आये हुए लोग धीरे-धीरे लौट गये, नये लोग अधिक नहीं आये। फिर भी एकाध आ-जा रहे थे।

खबर पाकर चौंकती चली आयी थान-कूटनी बुढ़िया दिगरा की माँ। पहलवान की तरह गठन है उस बुढ़िया का। सो उसका नाम ही है हनुमत बुढ़िया। आकर देखते ही बुढ़िया ने सबसे कहा, "देखती क्या हो, बहू कितना परेशान हो रही है। लोहे की सीक चूल्हे की आग में तपाकर लाओ और उसकी देह में दाग दो, लाल मिरच का धुँआ दो, चाहे कोई कैसी भी हो, छोड़कर भाग पड़ेगी—।

ठीक तभी दरवाजे पर आकर खड़े हुए सिन्धु चौधरी। उनके पीछे-पीछे छवि और छवि की माँ। सिन्धु चौधरी ने देखते ही कहा, "ऐसी क्यों हो रही है बेटी? तू तो घर की लक्ष्मी है! चित्त को थिर कर, हरि का नाम ले। जिस कारण से मन इधर-उधर सोचकर हिल उठा है, वह सब मन से पोंछ डाल। यह सब और कुछ नहीं, अपने आपको पागल करने का काम है। भागवत में कहा है—

स्पष्ट भाव से सिन्धु चौधरी भागवत गाने लगे—

हरि विमुख प्राणी येते। से यान्ति पशुंक संगते।
ताहां कु मोहे विष्णु माया। विषय रसे बढ़े स्नेहा॥
देह कु वस्तु प्राये मणि। बइरि मित्र न प्रमाणि।
भ्रमइ शोक मोह पथे। अज्ञान भ्रम बुद्धि ग्रासे॥
तेणु संसार मोहे पड़ि। दुःखे संकटे यान्ति जड़ि।
हरिबोल—"

और फिर चारों ओर से स्वर उठा—"हरिबोल।"

जीवन में जब कष्ट आता है तब भागवत और हरिबोल। उस हरिबोल के उपरान्त सब आवाजें आप ही आप चुप पड़ गयीं। आँगन में लोग बैठ गये हैं, झुण्डों में। पुरुष और स्त्रियाँ, सभी जातियों के पास-पड़ोसी। यहाँ-वहाँ एक-एक लालटेन जल रही है। कई लालटेनों में भोर आ गया है।

उस सिरे पर सिन्धु चौधरी खड़े हैं। पार्श्व में स्त्रियों के साथ मिलकर छवि और उसकी माँ हैं। ड्योढ़ी के पास बरामदे में केला की पत्नी बैठ गयी है। सिर झुकाये, गरदन झुकाये बैठ गयी है। मानो भागवत के पद सुनकर उसका सिर झुक गया हो। अब और हो-हल्ला नहीं, धूम-धूम भी नहीं। उसी बाउ को सबने अचम्भे में भरकर देखा। उस अप्राकृतिक परिस्थिति में सबके मन में दृढ़ ईश्वर-विश्वास भर गया हो, और यह विश्वास जम गया हो कि उस पद से वास्तव में 'यम' चला जाता है।

सिन्धु चौधरी ने कुछ देर चुप रहकर फिर कहा, "बाल सँवार, कपड़े-लत्ते ठीक कर, मुँह धो ले, ठाकुरजी का नाम ले। पिछली बात को और न सोच!"

वह वैसे ही चुप बैठी है।

सिन्धु चौधरी ने फिर कहा, "कोई है क्या, उसे जरा ठीक-ठाक कर दो, कुछ खाने-पीने को भी दे देना।"

औरतों ने एक-दूसरे की ओर देखा। कोई नहीं निकली।

इसके बाद देखा, अकेली आगे बढ़ रही है छवि। साँस रोके सब उस मूर्ति की ओर देखते रहे। सबके चेहरे पर भय की छाया। मानो वह किसी जीवित गोखर नाग की ओर बढ़ रही हो। अकेली, निर्विकार! वह पन्द्रह-बीस उग का रास्ता कितना लम्बा दिख रहा है। मानो कोई स्वप्न देख रही हो। स्वप्न में कदम-कदम बढ़ाये चल रही हो, रुक-रुककर। पास जाकर धीमे से छवि ने कहा, "यहाँ ऐसे क्यों बैठी हो भाभी! कैसा रूप बना लिया!"

छवि ने उसका आँचल उठाकर देह ढाँप दी। माथे के बालों को मुट्ठी में भर-भरकर पीठ की ओर कर दिया। कहा, "घर में चलो, ये माथे के बालों को ठीक करना है।" धीरे से हाथ पकड़कर ऊपर उठाया। केला की पत्नी पत्थर की तरह बैठी थी। छवि ने हाथ पकड़ा तो धीमे से उठकर खड़ी हुई। फिर हलचल मची, अबकी आशंका भर गयी, पता नहीं क्या करेगी! कुछ नहीं किया, मानो वह खड़ी-खड़ी कोई स्वप्न देख रही हो। छवि उसकी बाँहों को हथेली का सहारा देकर उसे घर के अन्दर ले गयी। बोली, "कोई आना तो जरा, बिस्तर खाट पर डाल देना तो—"

सिन्धु चौधरी ने कहा, "कोई औरत जाये उसके पास। बहू का जतन तो करना होगा, खाली देखने से क्या होगा?"

अबकी और पाँच-सात औरतें गयीं। बिछावन फैलाया गया, केला की पत्नी को खाट पर लिटाया गया, पंखा झला गया। वह चुपचाप पड़ी रही।

"अब सो जा।" छवि की माँ ने कहा।

दरवाजे से सिन्धु चौधरी बोले, "हाँ, पहले नींद दरकार है। ठाकुरजी ठीक कर देंगे—"

"आँख मीच लो भाभी," छवि ने स्निग्ध स्वर में कहा। उसके चेहरे की ओर ताकती रही केला की पत्नी, फिर उसने अपनी आँखें मीच लीं। सच और सपन के बीच

झूल रही थी उसकी चेतना। उसका चुपचाप पड़े रहने को मन कर रहा था। एक-एक कर सब चली आयीं। दरवाज़े पर थी बुढ़िया सिखरा की माँ। उसके साथ सपनी की माँ थी। वह केला की माँ की साथिन है, लम्बी हड्डीली औरत। आर्त अमीन की स्त्री ने बाहरवाली कोठरी से पूछा, "रात में कौन यहाँ रहेगा, घर की व्यवस्था कैसे-क्या होगी?" वग़ैरह।

केला की माँ को सँभालने की व्यवस्था हुई। गाँव के लोग बाहर बैठ उपाय के बारे में सोचने लगे, मानो यह गाँव-भर की समस्या हो।

सिन्धु चौधरी, छवि और उसकी माँ लौट आये।

खाट पर लेटी-लेटी केला को स्त्री आधे चेतनावस्था में सोचने की चेष्टा कर रही थी। सिर में जैसे पहिया घूम रहा है। विश्वास ही नहीं होता कि इस तरह सब थम जाता है। कभी-कभी लगता जैसे कुछ गड्डमड्ड हो गया है, और कभी-कभी ऐसा लगता मानो वह वह नहीं। पुरानी सनक याद आते-आते फिर सिर में पहिया घूमने लगता। बस आदमी ही आदमी! वे चेहरे सब सिलवलाते दिख जाते। उसके साथ याद आ जाता है—केला का चेहरा, सास का चेहरा। किसी चेहरे पर ध्यान के अटकते ही सिर में फिर गोलमाल लग जाता। कभी कुछ-कुछ याद आने की तरह लग रहा है, मानो जान-बूझकर बहुत दूर आगे आ गयी है, फिर याद आते हैं वे ही प्रश्न—तुम कौन हो? कौन? कौन? कुतूहलमय चेहरे विभंग-विकृत दिख रहे हैं। किसी के सारे चेहरे पर सिर्फ़ आँखें ही आँखें, किसी के सिर्फ़ दाँत, किसी की नाक, चिबुक नीचे झूल गयी है। कौन कितने प्रकार के हैं। और दिख रहे हैं चेहरे सिन्दूर से लिपे-भरे, जिस तरह लिपा होता है देवी की मूर्ति पर, देवी-पेड़ के तने पर। और दिख रहा है कि वे काली साड़ियाँ, रंगीन साड़ियाँ पहने आ रही हैं। पुनः सब कुछ उबल-उफनकर बह जाता है बाढ़ की तरह। कितने रूप, कितनी छायाएँ हैं!

"मेरा तो जी करता है मैं यहीं रह जाऊँ, माँ!" छवि ने कहा।

"नहीं, बेवकूफ़ी होगी बेटी, तू नहीं जानती।"

"नहीं, तुम क्या जानो!" सिन्धु ने बात काटकर कहा, "बेचारी के सिर में कुछ हो गया, बस लोगों ने उसे पागल ही बना दिया!"

छवि की माँ कहने लगी, "पागल। तुम कुछ जानते हो! तुमने भागवत पढ़ी इसलिए वह चुप रह गयी, केवल डर से, नहीं तो वह चुप होती! देखना, वह फिर कैसे क्या करती है। यह क्या इतने में ही पूरा हो जाता है?" इसके बाद उसने कहा, "धर्म भी तो कुछ है! जो दूसरों के नाम पर झूठ रटते हैं, उन्हें भी तो फिर कोई देखता है? अपने किये करम का फल, जिस राह से हो, मिलेगा ही!"

"छिः छिः, तुम यह सब क्या कहती हो?"

"नहीं, मैं क्या कुछ जानती हूँ? दोपहर में बैठक जुड़ती है। गाँव की औरतें जमा होती हैं।"

"फिर तुम्हारा मन कीचड़ घाटने को होता है ?" अकस्मात् हँसकर छितु चौधरी ने कहा, "तुम्हें मेरी सौगन्ध, जो सब बातें न छोड़ो।"

छिटि की माँ चुप हो गयी। फिर भी इतना कहा, "ठीक है, ठीक है, सच तो है!"

"ठाकुरजी की पुकार, बिचारी बहू ठीक हो जाये।" छितु ने कहा। छिटि की माँ ने कोई उत्तर नहीं दिया।

तबर दास आदि जवान गये आधा-कोस दूर झाड़-फूँक करनेवालों को खोजने। उसने मन ही मन मान लिया था कि बेला की बहू को भूत लगा है। उसने सुन रखा था कि गुहालताड़ा के शिव बाबा भारी ओझा हैं। मिट्टी न गड़ा है, झाड़-फूँक करता है, भूत भगाया करता है। कितने ही लोगों को बचाया है उसने मन्त्रों से। सो शीतला के आने पर भी लोग उसे ही बुलाते हैं। बाईसी टोले से गुहालताड़ा की राह दो कोस तो होगी ही।

बड़े तड़के ही बाउरी बस्ती के मुर्गे ने बांग दी तो बेला की पत्नी हड़बड़ाकर बिछौने से उठ गयी। सारी रात नाना अनुभूतियों में कटी है। कभी पलकें मुँद गयी हैं, कभी वह अँधेरे में ताक रही है, परन्तु हर दम माथे में धक-धक करता है। नाना भय, नाना कल्पनाएँ एक जगह घुल-मिलकर उसके मन को गुनगुना रही हैं। बाद में नींद में मातो-सी उठी। फिर जैसे पुरानी सनक लौट आयी हो। उसने आवाज लगायी, "ई लो, देना मेरा बेटा, नहीं तो तेरा वंश नाश कर दूँगी।" अँधेरे घर में अब धुँधली-सी पौ फट रही है। अपनी आवाज उसे खुद को ही खोखली लगी। उसमें बल नहीं, परन्तु सन्देह भरा है। परन्तु कानों में वे शब्द पड़ते ही उसे लगा जैसे उन शब्दों का उसी प्रकार से व्यवहार करना ही पड़ेगा जिस प्रकार उसने देखा है कि 'गुसा' करनेवाला किया करता है। एक आवाज पर दूसरी आवाज। फिर एक, फिर और, और। इसके बाद सिर को हिला-हिलाकर घूमर भरने लगी।

दूसरी कोठरी में सिदरा की माँ, सपनी की माँ जाग पड़ीं। सपनी की माँ बढ़ती जा रही थी, सिदरा की माँ ने फुसफुसाकर उसे रोका। इसके बाद भोर हुई। सुबह उगी। बेला की पत्नी पैर पसारे सिर घूमर-घूमर करते बीच-बीच में वही बात चिल्लाकर कहती। लोग जब देखते-तो बेला की पत्नी अधिक उत्तेजित हो जाती, नहीं तो एक कमरे में सिर झुकाये बैठी रहती, सिर घुमाती रहती। फिर जब दरवाजे पर धूप झिलमिला रही थी, उसने देखा, कोई अनचीन्हा आदमी आ पहुँचा है। उमर चालीस के लगभग होगी। कसी-कसायी देह, बड़ा गोल चेहरा, मोटी-मोटी आँखें, मानो पत्थर से तराशी गयी हों, चौड़े लिलार के बीच सिन्दूर का लम्बा टीका, माथे पर लम्बे-लम्बे अरणे बाल, कान में मन्दार फूल खोंसे। वह एक हाथ में लिये है चिमटा, दूसरे में ताँबे का छोटा-सा लोटा, लाल धोती बाँधे है, कन्धे पर लाल गमछा। चिमटा उठा, भयकर चेहरा बना वह अनचीन्हा आदमी गरज उठा—"कौन है तू ? बोल ! अभी जाना हो

तो जा नही तो देख मैं क्या करता हूँ।" उसकी नज़र के सामने केला की पत्नी जैसे मुरझा गयी, छाती के अन्दर धप्-धप् होने लगा। धमकाकर बोली, "दे मेरा बेटा, तब जाऊँगी, नहीं तो खाऊँगी, खाऊँगी—"

"ले, खा—" सिध पात्र ने कहा। ताँबे के लोटे से पानी लेकर कुछ मन्त्र पढ़ा और गुस्से में पत्थर फेंकने की तरह उसपर पानी छिड़का।

यह ज़रूर कोई भयंकर पदार्थ होगा, केला की पत्नी ने सोचा। बूँद-बूँद कर पानी के छींटे उसकी सारी देह पर पड़ते ही वह चिल्लायी—"ओह! ओह!"

"जायेगी या नही?"

बहुत सारे लोग मज़ा देखने जमा हो गये थे। उसने रोष दिखाकर कहा, "नही।"

सिध पात्र मन्त्र पढ रहा था, कर्कश स्वर में बोला, "अभी यहाँ से उठाये बिना मैं भी एक क़दम नही सरकता। वरना तुम सब आदमी को धरने लगो तो यह सृष्टि ही नही रहेगी। अरे, तुम्हारे भी दिन थे, जब तुमने ऐश-आराम किये, वह समय खतम हो गया, चला गया। अब अपने करम लेकर उद्धार पाओगे या कुछ दिन भटकते हुए कष्ट भोगने पर सब मिटेगा,' एक बार और जन्म लोगे या मोक्ष पा जाओगे; जो भी हो कुछ भी अपने हाथ की बात नही, तो हमारे साथ क्यों झकझक लगाने आये! ये भी कोई बात हुई?"

वह गुमसुम बैठी है, इस गरम पत्थर के जैसे आदमी के सामने। थोड़ा-थोड़ा विचार आ रहा है, सचमुच वह क्या भूत है?

"जाती है या नही?" सिध पात्र झल्लाया।

"ना, मैं नही जाती।"

"अच्छा, तब मेरा दोष नही। लाना तो चूल्हे में से सीक।" सचमुच ही हाथ में लोहे की सीक लिये एक आदमी लाकर दे गया। सीक के दूसरे सिरे पर राख लगी है। सिध पात्र ने मन्त्र गुनगुनाते हुए उस लोहे की सीक को गमछे से पकड़ा और कहा, "इस देह को कील दिया है, अब तू इस देह में कभी नही आ सकेगी। तू बहुत जंजाली है, अब आँख मूँदकर पहले तुझे भागना पड़ेगा। नही तो लोटा-भर पानी तुझे साथ ले जाने देता।" कहते-कहते रोमांचित हो उसकी देह फूल उठी। पत्थर-जैसी आँखें दहकती आग की तरह जल उठीं। फन्-फन् करती नाक, होठ से होठ भिंचा, खिंचा जबड़ा, उस चेहरे का ताव मानो उसके कोमल मुँह को झुलस दे रहा था। उन आँखों की ओर देखते-देखते उसे लगा जैसे वे आँखें और भी बड़ी हो गयी हैं। वह बायें हाथ में सीक लिये हैं। दाहिने हाथ की हथेली को हिला-डुलाकर नाना मुद्राएँ बना रहा है। केला की पत्नी की देह में जब झिम-झिम होने लगी तो सिध पात्र की आवाज़ आयी, "कीलता हूँ, कील दिया है अबकी बार, जा भाग!" उसके चम्पाफूली गोरे खुले हाथ पर सिध पात्र ने चाँय से गरम लोहे की सीक का सिरा थोपकर उठा लिया था। मरण

चोट खाये नाग की तरह छटपटाकर वह इधर-उधर उलट-पुलट के चीख पड़ी और फिर पछाड़ खाकर धड़ाम से मूर्च्छित-सी गिर पड़ी। चारों ओर से पुकार पड़ा, "पानी लाओ, पानी लाओ—"

रास्ते पर, गाड़ी में, भीड़ पर सिमटे से दौड़-दौड़कर पूजा की सिंचिनी पूरी कर लिए पास लौट गया। और पीछे-पीछे कोठ-भर लोग। वह उस दिन का बड़ा आदमी था।

दोपहर में छवि, छवि की माँ, गुड़ की माँ आकर पहुँची। उस कोठरी में केला की पत्नी सोयी है। भीतर बरामदे में केला की माँ भागवत बाँच रही है। चुपचाप बैठी हैं पास की स्त्रियाँ। गुपचुप धीमी बात-चीत चल रही थी। सबका थमा-थमा-सा चेहरा। मानो किसी के मुँह पर किसी के प्रति कोई असूया का चिह्न न था। सब उस एक ही कोठ के आदमी। यहाँ वे ही लोग बैठे हैं, जो परस्पर एक दूसरे से द्वेष करते रहते हैं, परस्पर कुत्सा रटते रहते हैं। कमर पर हाथ रखे एक-दूसरे की ओर तान्त्रिक उपेक्षा करते हैं। पर यहाँ जैसे माया ने सब कुछ ढाँप लिया है। भगत महाराज की स्त्री बैठी हैं, बल्कि महाराज की स्त्री के पास ही पास सटकर, जिस चोट की चोट बनी है फिर से, और गेल्हो की माँ, मन की माँ वगैरह भी हैं। इसी प्रकार की कितनी ही कोठ-भर की नागर नवेलियाँ। कोई न बड़ी, न छोटी, एक ही दल में सब मिल गयी हैं। बड़ा विचित्र है यह गाँव, छवि की माँ सोच रही है, कभी एक साथ मेल-जोल, मानो एक ही घर के लोग हों; और फिर कभी फाटमफाट, झगड़ने को तैयार।

चुपचाप गुप-चुप की बातें हो रही हैं। किसके घर में किसे बुखार हुआ था, उसकी तबीयत कैसी है? किसने कौन-सी तरकारी बनायी है, किसकी बहू कैसी है, किसकी साग कैसी, कौन कहाँ गया था लौटा कि नहीं, किसका बेटा परदेस में है, चिट्ठी दी है या नहीं! उसी के बीच पान की देन-लेन, फुस-फुसाकर स्नेह की बातें हो रही हैं। जो आ रही है ठाकुर-दर्शन की तरह घर के अन्दर जाकर केला की पत्नी को देख आकर एक-एक कर उसी पुराने दल में शामिल होती जा रही है। सोती रहे वह, जितना सोयेगी उतना ही अच्छा।

और भागवत पढ़ रही है केला की माँ। चेहरा सूख गया है, साँवला, पतला चेहरा अधिक मुरझाया-सा लग रहा है। आँखों पर डोर बँधा सफ़ेद फ्रेम का ऐनक। भीड़ में रहकर भी लगता है मानो वह ऊँचाई पर है, सबसे दूर है। वह दुर्बल चेहरा गम्भीर और तेजस्वी लग रहा है, सबकी सहानुभूति मानो वहीं जम गयी है।

छवि केला की पत्नी की खाट के पास जाकर हँसती हुई खड़ी हो गयी। केला की पत्नी अपने चेहरे पर धोती ढाँप हू-हू रो उठी। उसका माथा सहलाते-सहलाते छवि

ने समझाया, "छिः, ऐसे नहीं हुआ करते, तुम्हें क्या हुआ है ?"

फिर वे वहाँ से लौटने लगीं, कितनी आयीं कितनी गयीं, केला की पत्नी ने सोये-सोये खुद को सम्हाला।

केला के घर में जैसा, गाँव-भर में भी वैसा। भूत चला गया है, भूत के साथ-साथ लोगों के मन से ज्वाला ही बुझ गयी है। चैत की बढ़ती धूप को तपिश में मानो उन्होंने शरत् के आकाश की झलक पायी हो, पृथ्वी शान्त....!

ढोल ढांय ढांय बज उठा, शुरू हो गया ठाकुरानी (देवी) का माजना। आर्त अमीन की स्त्री ने अगुआ हो मुड़ी-नारियल ढेर कर भोग चढ़ाया, फिर बच्चों को बुलाकर बाल-भोग खिला दिया। किसी ने कहा नहीं, कोई बुलाने गया नहीं; इधरवाले घर से एक, उस पर से एक इस तरह से एक संकीर्तनियाँ लोग आ-आकर साँझ तक जुट गये, मृदंग बजने लगा, संकीर्तन बोलने लगे; न कोई इस दल का था न कोई उस दल का, कौन आया, कौन नहीं—इसका भी हिसाब किसी ने नहीं किया। बस संकीर्तन चल रहा है, अन्धकार को ढकेलता हुआ। दल में से कहीं से लोका नायक, कहीं से किणेई ओझा चेहरा विकृत किये गरदन फुलाये धीरे-धीरे मेल के भीतर चल पड़े।

" आरे नदिया नवदीपते हइल जनम अँ अँ अँ अँ—

मागुणिया अर्पातिया ने मिलकर पकड़ी हुई पेट्रोमेक्स घने बरगद से झुला दी।

जुजेष्टी धोबी ताली बजा रहा था, श्याम गोच्छेइत अपना दल लिये ढोल महुरी के साथ प्रतीक्षा में बैठे थे, मृदंग थमे तो वे चढ़ेंगे, हरि साहू पालथी मारे बैठा हुआ सिर हिला रहा था। कुछ हटकर आसन पर बैठने की तरह सिन्धु चौधरी बैठे थे। ऊपर ही ऊपर एक डाल से दूसरी पर उछल-कूद कर रहे थे गाँव के बन्दर !

•

दोपहर, सिन्धु चौधरी टहलने निकले थे। हाथ में पान का डब्बा, खुला बदन, कन्धे पर पुराना गमछा।

ऐसे कभी-कभार यादें आ जातीं—जैसे पुराने दिनों की चाकरी-जीवन की बातें। पुरानी आदत के अनुसार हाथ-पैर कुलबुला उठते। ऐसे समय घूमना ही घूमना। धूप हो, वर्षा हो, सब इस देह पर से गुजरती। सेटलमेण्ट के अमीन—वही पुरानी नीति, 'छोड़ो पितृकार्य, करो राजकार्य।' और गाँव के सिरे पर का घना बरगद—वह मानो चाकरी के दिनोंवाली छावनी की याद करा देता है, आज इस गाँव में बरगद के नीचे कुछ दिन बाद और किसी गाँव में, वहाँ भी कोई घना बरगद। छोटी झोंपड़ी, घास साफ कर गोल-गोल छोटे-से कुछ तम्बू, कितने लोगों की भीड़, एक अलग दुनिया की चहल-पहल—वहाँ भी भात बनाते, आदमी खाते-पीते-सोते।

खिला है पलाश, खिली है पालिधी, पाटली, गुलमुहर और जामुन के सिरे पर

ओर गोलाई लिये पहाड़ की दीवार, उसपर भूरे रंग का वन, कुरी-के टीले देकर चली गयी है नीचे तक ढलती-ढलती किसी अनदेखे रास्ते की धारा। धीरे-धीरे देह छुपती जाती है कुरैया के वन और ढलान में।

उस अगली के सिर पर के मटके दो दिख रहे हैं, पिछली की गरदन से ऊपर का भाग। अब की उसने मुड़कर देखा, फूल और पत्तों की लम्बी-चौड़ी लहरिये के बीच मानो वह कोई और ही प्रकार का फूल हो, किन्तु वह आदमी है, वह फूल से भी बढ़कर है। ये धनु की तरह भौंहें, मानो किसी ने आँक दी हों; ये आँखें किसी आदमी की नहीं, सचमुच जैसे हिरनी की आँखें हों; कितनी सरल, कितनी सजल। वे हँस पड़ीं, मानो कुरैया फूल की महक और भी बढ़ गयी, पत्तों का सब्ज रंग और फूलों का दूधिया रंग और भी अधिक बढ़ गया। वाडी और भी खिल उठी मानो फूलों की लहरों के इधर-उधर उन्हें चाहकर देखने के लिए दो आदमियों के चेहरे हैं—इसीलिए इस परिवेश की सृष्टि हुई लगती है, अन्य किसी कारण नहीं। सुनाई पड़ती जा रही है मधुमक्खी की भिनभिनाहट, और कहीं नीचे किसी पहाड़ी नदी की कलकल ध्वनि। अगले दोनों मटके नीचे के ढलान में अदृश्य हो गये, पिछला चेहरा वैसे ही है, प्रतीक्षा में....प्रतीक्षा कर रहा है।

गहरी साँस छोड़कर सिन्धु चौधरी ने आगे की ओर देखा, सूखती जा रही घास पर कोई गाय चर रही है, मटमैली। पंजर के हाड़ चमड़ी से उभरे हुए हैं। बीच की ओर मुड़े हुए सींगों की जोड़ी। पूँछ से पीठ बुहारते-बुहारते एकमन चरने में लगी है। उभरी हड्डियों की ठठरी पर तितलियाँ बैठती है; वह न इधर, न उधर, सिर्फ घास की ओर नज़र गड़ायें है।

और उधर हाँपता-धाँपता आ रहा है कोई एक अत्यन्त हास्यास्पद अष्टावक्र की गति से, उसके ऊपर ही ऊपर कुछ मैनाएँ हलचल करती उड़ रही हैं। वह कोई मटियाले रंग की गोह है। उसके मुँह पर या देह में कहीं भी कोमल नरम भावों का रंग या लहर नहीं दिखती।

केवल माटी ही माटी है।

हवा में घिसटती-घिसटती उड़ रही है लाल पाटली की पंखुड़ियाँ, पाटली के फूल ढेर के ढेर सूख रहे हैं।

आकाश की बाढ़ में मटमैला हल्दी-धोया पानी, नीचे धूल की भँवरें और जली माटी के बीच में हरी-भूरी कुछ-कुछ घास। क्रमशः पिछली बातों की ओट कर मानो चेतना पर एक-एक कर विराम पड़ रहे हैं। लगता है, यह देह बदलते-बदलते आकर किस अवस्था को पहुँच गयी, इसमें अब और उद्वेग नहीं होगा, छूत नहीं लग सकती इसे, इसके साथ-साथ मन भी। काठ की तरह, धीरे-धीरे अलसाया-सा, समय टालता चल रहा है यह व्यक्ति। हरियाली सूख गयी है।

कहीं से उड़ता-उड़ता आकर पहुँचा एक बगुला, सारे मैदान में कीड़े चुगता फिर

रहा है। कुछ समय पहले नहीं था, अब यह मानो सगुण यहाँ का निवासी है। समय होने पर ऐसे ही कहीं से वरदान आ पहुँचेगा। वही उद्धार करेंगे।

यहाँ बरगद के नीचे कौन बैठे हैं ? ये देखकर खड़े हो गये हैं। उन्होंने हाथ जोड़े। पास जाना हो पड़ा। अर्पति पधान ने बेरुखी दिखाकर कहा, "इतनी सबेरे पास, किधर पधार रहे हैं साआन्तजी ?"

"नहीं, यों ही घूमते हुए...."

"कितना सुन्दर स्कूल चल रहा था साआन्तजी, आपकी दया से कितने बच्चे आदमी बन गये, और भी कितने होते...."

सिन्धु चौधरी ने चेहरा मोड़ा और हथेली फिर मरोड़कर एक मुद्रा बनायी—जिसका अर्थ था—"थी तब, ठीक थी, न हुई तो नहीं, इसमें क्या फर्क पड़ता है ?"

अर्पतिया ने सिर झुका लिया। कहा, "दोष हो गया है साआन्तजी ! आप पिता हैं, हम बेटे। पिछली बातें गयीं। हम अपना कसूर मान लेते हैं, आप पहले की तरह पढ़ायें।"

सदा अहीर ने कहा, "यही बात कहने के लिए हम सब मिलकर आपके पास आनेवाले थे।"

यदु बराल ने कहा, "आप झूठ न मानें साआन्तजी, बात तय हुई थी कि हम सब जायेंगे। बच्चों के माँ-बापों पर जोर डाला गया है, बच्चे नहीं जायेंगे तो पंचायत बैठेगी, उनके घरवालों को जुरमाना देना पड़ेगा।"

सिन्धु चौधरी ने पूछा, "यही सब परामर्श कर रहे थे क्या यहाँ पर ?"

अर्पतिया ने कहा, "उस बात का तो फैसला हो चुका है। यह तो और एक बात आ पड़ी है।"

मागुणिया ने कहा, "बोल दे न !"

अर्पतिया ने कहा, "कोई लुका-छिपीवाली बात नहीं है जी, साआन्तजी ! हम कल फूलझरा जा रहे हैं। बन्धमूलवाले बट महान्ती के बेटे रवि बाबू हैं। वे पास कर चाकरी-वाकरी में बिना पड़े उतर पड़े हैं गाँव को तैयार कर आदमी गढ़ने के लिए। फूलझरा में काम शुरू है। अनेक सारे घर होते हुए भी गाँव-भर को बना दिया है एक घर। सारी जमीन सबकी, गाँव में कोई गरीब नहीं, अमीर नहीं, न कोई जात है न कोई पाँत, सब जैसे एक कुटुम्ब हो गये हैं। इसीलिए सोचते हैं, जायें—"

छन्न से लगा सिन्धु चौधरी को। सब मानो उनका ही उपहास कर रहे हैं। मुँह से निकल पड़ा, "बाघ बनकर गये तो नहीं मार सके, इसीलिए क्या साँप बनकर जा रहे हो ? अच्छा जाओ, जाओ—"

अर्पतिया ने मानो चोट खाकर मुँह मोड़ा हो। मागुणिया ने मुँह फेर लिया। सदा अहीर और यदु बराल सिर झुकाये बैठे रहे। किसी के मुँह में जबान नहीं। अपनी बात की जीत देख सिन्धु चौधरी उल्लसित नहीं हुए वरन् अपने मन की बात बाहर वा

वह क्लिष्ट रूप लेकर मन के अन्दर लौट आयी, दुख देने को। हिचकते हुए उन्होंने कहा, "नहीं तुम्हारे उनके कुछ झगड़ा हुआ था न, वहाँ मेले में ! वे लहूलुहान हो गये थे। तुम लोग फिर वहाँ जाओगे, क्यों ? क्या जरूरत है ? जिसे जो रास्ता दिखाई दे, अच्छा या बुरा, हमारा-तुम्हारा क्या आता-जाता है ? सभी तो घर-बार छोड, पेट के लिए अपनाये धन्धों को छोड़-छाड़कर, देश की सुधार करने लग जायेंगे नहीं !"

अर्पतिया ने कहा, "उस मेलण के मैदान से ही तो हमारे सिर में घास उगी जी, आँख खुल गयी। हम जरा-जरा बात पर पायचे टाँकते हैं, आँख रँगते हैं, और निर्दोष आदमी पर इतनी बड़ी चोट हुई। वे चाहते तो हमें सीधे 'मामूघर' भिजवा देते। पुलिस ने भी उनसे कितनी कहा-सुनी की पर उन्होंने किसी का नाम नहीं लिया। फरियाद तक नहीं की और न कोई मुकदमा किया। क्या आदमी हैं साआन्तजी ! इस कलजुग में भी ऐसे आदमी होते हैं !"

सदा अहीर ने कहा, "ऐसे को तो ही महापुरुष कहते हैं। तभी न चारों ओर देखते ही देखते धूम मच गयी है। भातपाड़ा बाउरी बस्ती में बूढ़े गोबरे भोई ने 'बूमा' करके बताया कि सतजुग आ रहा है, फूलझरा में जो कुछ हो रहा है वह सतजुग की बात है।"

यदु घराल बोला, "केवल फूलझरा में ही लोगों को नहीं मिलाया बल्कि सुभद्रापुर के घोबई काका, भिकारी महान्ती-जैसे लोग, वे भी उनके साथ हो गये।"

सिन्धु चौधरी बोले, "हाँ, लोगों में कानाफूसी हो रही है—सचमुच, पर लोग तो बात को बढ़ा-चढ़ाकर कहते हैं, कौन-सी बात कहाँ-कैसे सुलझेगी, यही देखना है। परन्तु मैंने सुना है कि वे लोग सिर्फ मेहनत कर रहे हैं, उन्होंने यह प्रण किया है कि सबको मजूर बनाकर छोड़ेंगे। उनका कोई एक नया समाज है। मैंने इस बात पर उतना विचार नहीं किया। पहले तो सब एक नया काम करने के लिए हुंकारकर निकल पड़ते हैं....और उसके बाद फिर सब ठण्डे पड़ जाते हैं। तुम्हें रास आयेगा तो ? ठीक से सोच लिया है तो ?"

"ठाकुरजी के दरसनों को जितने लोग जाते हैं क्या सभी वैरागी बन जाते हैं, साआन्तजी ?" भागुणिया ने कहा, "ना, हम कभी हो सकेंगे उनकी तरह ? पर प्राण पुकारते हैं, अतः जाने को तैयार है, शायद उन्हें देखकर ही हमसे कुछ हो सके।"

"मन को थिर करने से क्या होगा जी, यह मन जब परसन्न होता है तो अभय वर देता है, और जब परसन्न नहीं होता तब झकझोर देता है। योगी रघुनाथ गीत गाता है—उसी तरह का तो। असल बात हमारे अन्दर है, हमारे लिए तो यही हुआ कि कोप पर वरदान मिला, नारद वीणा बजाते-बजाते जहाँ पहुँचे, रावण भी लड़ता हुआ जाकर वहीं पहुँच गया।"

अर्पतिया ने कहा, "हम गुस्से मे अन्धे हो गये थे, बीच में पड़ गये वो। तभी हमारी आँखें खुली, हमने इतनी बड़ी आतमा को पहचाना। अपने लिए सब दौड़ते हैं,

पराये की खातिर कोई निकलता है ? ऐसे ही अगर हमारी गाँठ रही तो हमसे कुछ क्यों नहीं होगा ?"

सिन्धु चौधरी अवाक् देख रहे थे। यही तो है यह अर्पतिया, मागुनिया, गाँव का हुड़दंग-दल, बिच्छू-दल। हो क्या गया है इन्हें ?

सिन्धु चौधरी बोले, "अच्छी बात है, परोपकार करने पर मन हो तो सब जगह किया जा सकेगा। जहाँ जुटोगे वहीं होगा। कहा-सुनी में क्या रखा है ? इसी गाँव में, क्या सारे घरों में एक दिन चरखे नहीं चल रहे थे ?"

"कहाँ रह गया वह समय ?" यदु बराट ने कहा, "कहाँ गायब हो गयी वह घड़ी ? कितने लोग जीवन को तिलांजलि देकर काम में लग पड़े थे, जेल गये, भिखारी बन गये।"

सदा अहीर ने कहा, "इधर घर जलानेवाला साहब आग लगा रहा है, धर-पकड़कर अन्धाधुन्ध मरवा-पिटवा रहा है, उधर गठरी के गठरी गट्ठर पीठ पर लादे लोग गाँव-गाँव भटक रहे हैं। छुआ-छूत नहीं रहेगा, झूठ-पाप रहेंगे नहीं, रामराज्य आयेगा।"

सिन्धु चौधरी ने कहा, "उसी के लिए तो स्वराज्य आया, क्या नहीं आया !"

अर्पतिया ने कहा, "स्वराज आया, देखते-देखते कितनी उन्नतियाँ हो गयी, कितने काम-धन्धे खुल गये, लोग पैसेवाले बने, शहर ऊँचे बढ़ते गये। सब तो हुआ पर पता नहीं क्या बिगड़कर रह गया। सबका मन अपने स्वार्थ की ओर झुक गया और बढ़ता गया काला बाजार, घूसखोरी, झूठ, अन्याय, अदावत—"

"किसने किया यह सब ?" सिन्धु चौधरी ने पूछा, "इसके लिए दायी कौन है ? हमारी-तुम्हारी तरह के लोग ही तो ? लोगों में लोभ बढ़ा, फसाद बढ़ा। इसके लिए कौन जिम्मेदार है ? आत्मा की शुद्धि किये बिना, सिर्फ गुरु-वचन सुनने से आदमी त्राण नहीं पा सकेगा।"

अर्पतिया ने कहा, "उस आत्मा की शुद्धि की खातिर तो ठाकुरजी के मन्दिर में जाने की जरूरत पड़ती है। जाकर देखने पर मन मजबूत होता है, वरना पुआल की आग की तरह हम सब भभक उठते हैं। भक् से जले और फिर फक् से फुस कर बुझ जाते हैं।"

सिन्धु चौधरी ने कहा, "जानते हो तो ?"

अर्पतिया ने कहा, "मन के अन्दर उथल-पुथल मची है, हम सूअर की तरह दिन काटते हैं, उधर वे गढ रहे हैं एक नया रास्ता। उसी रास्ता की ही तो हमें दरकार है।"

सिन्धु चौधरी ने कहा, "अरे बाबू, रास्ता तो सदा चारों ओर पड़ा है, चलता कौन है उसपर ? आदमी तो जब देखो 'लुब्धक-बन्धन' में पड़ा छटपटा रहा है, केवल मेरा बेटा, मेरा घर, मेरा भला, यही चिन्ता है। इसी के लिए मोह भरा है। उससे कोई मुक्ति पाये, तब न औरों के लिए काम करेगा, देश के लिए काम करेगा, यह 'मैं'-

पन को काट चुके हो न पहले ?"

मागुणिया ने कहा, "सो कौन काटेगा ?"

सिन्धु चौधरी ने कहा, "'मैं'पन काटे बिना अपने को घेरकर ही तो दिन जायेंगे। भला काम फिर कैसे किया जा सकेगा ? जैसे देखो, पुराने कार्यकर्ताओं में से जो टाल गये उनकी बात अलग है, पर कुछ को देखोगे कि उनमें क्षमता के लिए खींचा-तानी चल रही है। अच्छा इस बात को ही लें पहले। तुमने तो घर-द्वार की माया तोड़ी, चाकरी-वाकरी छोड़ी, अपने जीवन की ओर से लापरवाह रहे, पीठ पर लाठी बरसे या छाती पर गोली लगे, खुद जेलखाने में पड़े-पड़े चाहे सड़ें, किसी बात की परवाह किये बिना आग में कूदे, पर, इसके बाद फिर तुम्हें क्या हुआ कि तुममें अपनों के बीच कलह शुरू हुई। कोई कहता है, मैं आगे, मेरी बात में सब चलें, मेरी बात रहे। दूसरा कहता है, नहीं, नहीं वैसा नहीं, लोग-बाग मेरी बात पर चलें—"

अर्पतिया ने कहा, "हूँ, बात तो वही है, सब कहते हैं मेरी सुन, मेरी सुन, मुझे मान—"

सिन्धु ने कहा, "जो जड़ से ही मतलब रखकर, सिर्फ भेष बदलकर इस काम में घुसता है, उसकी बात अलग है, वह तो समझो कि ठग है, छल-कपट से बातें करेगा, ताक-फिराक में लगा रहेगा, सुराग खोजता होगा। जिसने स्वयं को कार्यकर्ता कहकर स्वयं को गढ़ा है, समझ लो कि दीक्षा ली है, यज्ञ-आहुति दी है, वह भी उसी तरह जग-हँसाई क्यों करवा रहा है ? क्योंकि, बाहर जितना भी नाचे-कूदे, क्या होना है ? मन के अन्दर को शोधित किये बिना कभी न कभी वह स्वार्थ, वह लोभ बाहर आता ही रहेगा। जो कुछ भी करने निकलो, पहले इसी पर नजर रखो।"

यदु बराल ने कहा, "इसे तो योगी और ब्रह्मज्ञानी कर पायेंगे। क्या हम कर सकेंगे ?"

"न सको तो चुपचाप बैठो ! बगुला-भगत बनने क्यों जाओगे ?"

"बगुला-भगत नहीं जी," अर्पतिया ने विरोध करते हुए कहा, "वो कभी भी नहीं होगा। इन प्राणों के रहते नहीं हो सकता !"

मागुणिया ने कहा, "जो हो गया सो हो गया, अब और कोई रास्ता नहीं है।"

यदु बराल ने कहा, "आत्मशुद्धि की बात जो कि आपने कही, साआन्त जी, वह बिलकुल सच है, पर वह धीरे-धीरे होगा, पहले कुछ काम करने की जरूरत है। इस घट से जबतक जीव नहीं जाता, तबतक 'मैं'-पन छूटेगा नहीं। बैठे रहे तो बैठे ही रह जायेंगे। आदमी फिर काम कब करेगा ? अच्छा करने के लिए निकल पड़े तो भूल करते-करते भी काम हो जायेगा, कुछ तो होगा ही।"

सदा अहीर ने कहा, "जिसके द्वारा जितना हो सके। भगवान् ने तो अपनी मरजी से सबको बनाया है। आप बच्चों को सिखाते हैं, आखर माँडते-माँडते भूल करते-करते ही तो फिर ठीक से लिखेंगे। वैसे ही।"

अपतिया ने कहा, "हम इस माटी-गोबर में पैदा हुए लोग हैं। कीड़े, गू, मवाद—सब है इस देह के भीतर। छह रिपु हैं, किसी में कम, किसी में ज्यादा। फिर भी इस पिण्ड में परमेश्वर है। इस पाखण्डी हिरदे में किसी के लिए हो सही, सनेह तो है, अपने बच्चे का तो वह लाड़ करता है, पत्नी को देखकर तो हँसता है। उसी सनेह को बढ़ा लेने पर क्या वह परायों का उपकार नहीं कर सकेगा?"

सोच-सोचकर कहने की तरह अपतिया कह रहा है, किन्तु चौधरी अवाक् होकर देखते रहे, और सोचने लगे : सभी तो कहा करते हैं कि डूब तरें या बूड़ तरें। ये लोग तो मानो बन्दर की तरह चिपकाये हैं एक ही बात को। कितना भी युक्ति-तर्क करो ये सब काटने को तैयार हैं। मन उड़ा है—जायेंगे ही जायेंगे ये लोग।

जाकर करेंगे क्या? पूछने पर शायद कह न सकें।

मन में कहीं छन्द भर गया है, दृढ़ता आ गयी है। मानो कि 'काम करूँ-करूँ' इस तरह का एक उद्वेग भर गया है उनके अन्तर में। बँधा-घुटा उद्वेग, रास्ता ढूँढ़ रहा है।

आदमी का नया रूप खिलकर बाहर आ रहा है, चाहे इस घड़ी-भर के लिए ही क्यों न हो, वह नमस्य है।

अपतिया ने कहा, "हम फूलसरा जा रहे हैं। आदमी होकर कितने दोष हमने नहीं किये, बस आपका आशीर्वाद मिलता रहे।"

किसी को सम्बोधन किये बिना शून्य की ओर देखते हुए सिन्धु चौधरी कहने लगे, "जाओ, नया रास्ता देखने को मन करता है, देखो!"

अगर चोरी-चारी करोगे नहीं, पराया गला काटना नहीं है, अगर वास्तव में दूसरे के लिए प्राण रोते हैं, वास्तव में मन है जगत् के मंगल करने की ओर, अगर हृदय को हाथ पर रख सकोगे, तब जो भी रास्ता पकड़ोगे वही ठीक है, तब किसी की बात की परवाह नहीं, या किसी से भी डरना नहीं।"

पारिपार्श्विक अवस्था को ग्रहण करने तक वे चले जा चुके थे। उनकी तन्मय आँखें छाँव-छाँव-सी दिख रही थी।

उन लोगों ने झुककर प्रणाम किया, फिर सिर झुकाये एक-एक कर बढ़ गये।

चले तो गये, पर उनका मन करता है कि और भी कहते, और भी कुछ कहते। दीप से दीप तक प्रकाश उछला है। सचमुच क्या उन्होंने चाहा था कि वे आकर दीप जलायें।

आलोक, सिर्फ आलोक है। वह पात्र नहीं या माटी का दीपक नहीं। स्वयं वह शिखा अपने अन्दर भी जल रही है, सन्देह जला जा रहा है, अँधेरा मिटा जाता है।

ध्यानस्थ होकर उस सूने दृश्य की ओर ताकते रहे। दूर, नदी की धार, नदी में कछार के कगारे भरे-भरे झुरमुट धूप में झलमलाकर हवा में खिंच जाते हैं, और उसी तरह बड़े-बड़े पेड़। सूने मैदान पर धूप का ताव नाच रहा है। झरे सूखे पत्ते उड़ते

जा रहे हैं, झुण्ड के झुण्ड। चेतना में सनातन समय का स्पर्श मिल रहा है, आँखों में महाकाल का ध्यान।

छोटा आदमी आगे चल पड़ा है। दल के दल होकर। कितने सिद्ध, कितने मुनि, कितने कवि उसके काफले मे आगे गये हैं। वह विचार खिल गया है, प्रकाश में झलमल कर दिया है इस दुनिया को। हटा नही, चल रहा है।

भागवत का पद याद आया, हृदय पुलक से भर उठा। उन्होंने उस रूप को देखा, रथ मे महाप्रभु (जगन्नाथ) विराजमान है।

एक के खीचने से वह रथ नही चलेगा, सबके खीचे आगे बढ़ेगा। कोई एक-एक कर खीचे नही, एक ही डोर पर सबके हाथ हों। नीचे से ही नर-नारायण, ऊपर उन्ही की अजेय आत्मा का प्रतीक। धन उनके हाथों का गढ़ा द्रव्य है, मूल्य वहाँ जीवन का अधिक है। देवता के माथे पर सुशोभित है थोड़ी-सी दूब, नही तो वह ठाठ पूरा नहीं होगा, विजय का जुलूस शुरू नही होगा। वह अनन्त जीवन और साधारण आदमी का प्रतीक है। वहाँ श्रम और सेवा ही धर्म है, झाड़ू लेकर चाण्डाल बनने में ही गौरव है। सारी सृष्टि ही उस देवता की परिकल्पना में विश्वरूप है, जितने श्रमिकों के अगणित हाथ है उन्ही की बाहु है, जितने भूखे-नंगो के तड़पते पेट है, उनके पेट उनकी क्षुधा ही उनकी महा क्षुधा है।

आदमी बढ़ता जा रहा है, बढ़ता जायेगा, उसे रोकने की शक्ति किसमे है!

हल्की नीद टूटती आ रही है।

रथ नही, वे लोग नहीं। जीवन छलक रहा है, हाथ-पैर सलमला रहे हैं, वे भी होंगे नये युग के नये अवतार। गाँव में जो नालायक थे, नगण्य थे, वे काम करेंगे, वे इतिहास गढ़ेंगे, उनकी बचपने की हरकतें देह के मैल की तरह झड़ जायेगी, कोई याद नही रखेगा।

युग-युग में वे लोग ही गये है इतिहास गढ़ने के लिए। निपट मूरख होकर चले गये थे, कालिदास बनकर लौटे, तानसेन बनकर, सिद्ध और बुद्ध बनकर। वे लोग ही नये जीवन की पुकार सुनकर बह गये और नये बनकर लौटे थे। देश पर विपद के समय वे ही लोग बाहुबल थे, अपना गरम रक्त बहाकर मातृभूमि की चरण-वन्दना की थी, उन्होंने ही शान्ति की स्थापना की, धरम रखा था।

और वे खुद ? सज्जन, पढ़े-लिखे, बुद्धिमान्, सफेद झकाझक ? पढ़ा है, गाया है, सोचा है, केवल बैठे-बैठे कि कौन-सा रास्ता अच्छा है, कौन बुरा। बैठे-बैठे बाल जूट हो गये हैं, बातें हांकी हैं, सुनने के लिए लँगड़े, लूले, बूढ़े, बुढ़िया, रोगी आदि कितने-कितने।

बस केवल कुछ लोग बैठे-बैठे, बातें करेंगे हँसते हुए।

आश्रम बना, नकली दाढ़ी-मूँछ लगा गेरुवा पहन नकली बाबाजी बनकर मन्त्र गुनगुनाये है, केन्दैरा बजाकर करुण संगीत गाया है, और फिर गिर पड़े है, राख-खाद

बन गये। उजड़ पड़ी हैं सुन्दर समाधियाँ। उगे पड़ा है पीपल के पेड़ में। ढह गये ईंटों के ढेर के बीच से सियार ने मारी है पहर की बाँग। वे भी पहर की पहर पुकार लगाते थे और चाहते थे कि नाम रह जाये युगों-युगों के लिए।

गाँव के छोकरे चले गये हैं, ये हो अर्जुनिया, नारायना, मूना, सुना, रामा, भीमा, नना, बद्दा, शिनिया, रतना, राधा, गोविन्दा वगैरह कितने ही। माँ-बाप छोड़कर, घर-द्वार छोड़, जुग के नगाड़े बजा तूफान के किनारे में चले गये थे वे लोग। गये थे, जायेंगे, फिर आयेंगे इस धरती पर खेत की नयी फसल की तरह।

१९२१ ने पुकारा था। गुटुटा बाउरी गान्धी महात्मा का नाम जपते-जपते, लाठी के कोंचने से मरा। शिरु चौधरी जेल से मरे-जैसा ही लौटा था, बाकी देह खाली थी सो आते ही उसे भी फेंक दिया। भारत पण्डा कहाँ गया पता भी नहीं चला। देश के लिए अपने माथे में इतनी हित-कामना भरकर मन ही मन 'देश-देश' कहते छलछलायी आँखों से, आप चैन से गये सेटलमेण्ट के अमीन बनकर जमीन नापने। भले आदमी!

और लोग जीवन को तिलांजलि देकर बने विप्लवी। कोई मरा गोली खाकर, कोई झूल गया फाँसी के तख्ते पर, कोई मरा जेल में। कपिला बन गया राजा कपिलेन्द्र देव। उन लोगों के लिए न था रायबहादुर या खाँ बहादुर का खिताब, दीवान बहादुर की पदवी पाना, उनके पास रुपये न थे, ऊँचे-आलीशान कोठे रहने के लिए न थे, मोटर कार न थे, चढ़कर सैर-सपाटे के लिए, और न थे ठाठ इन्द्र से बढ़कर।

गाँव का वही नालायकों का दल, वह बिच्छी के पत्ते-जैसे लोगों का दल, ये लोग कुछ नहीं बन सके।

बस केवल इतिहास बन गये, नीरव, अचल, अकूल। केवल देश को आगे-पीछे एक झटका-भर दिया था। पुरानी प्राचीर तोड़ने के लिए एक और धक्का, एक और ठोकर। पुराना अन्धकार काटने के लिए और एक लुआठे की आग, चाहे उसकी शिखा कितनी ही छोटी हो।

वे ही नबा, नखिया, हरिया, परिया, मूपा, धूपा, शिवा, गुटुटा—गाँव-भर के नालायक!

फूलशरा गाँव में—

तपती दुपहरी, पुराने कचहरी-घर के पिछवाड़े के बरामदे में वे लोग कतार में बैठे थे, पास-पास, सटकर। बई मलिक, अर्पति पधान, भागुणि बेहरा, घोबेई मिश्र, नुबुरा मलिक, गंगा हलवाई, कुरपा बाउरी, उमा पशायत, रघु जेना तथा, दल के और आठ लोग।

केले के हरे पत्तों पर मोटे ललचौंसे भात। उनके बीच में भूरी कुल्थी की दाल

का गड्ढा। धोवी घाट के पट्टे के टुकड़े की तरह आम के अचार ने मुँह निकाल रखा है। पत्ते के किनारे पर ढेर सारा बथुवे का साग, अमिया की चटनी, कटहल की तरकारी, करेले की भजिया और हृष्ट पुष्ट कच्ची हरी मिर्च, नमक। वरामदे के उधर काँव-काँव कर रहे तीन कौवे पंख फड़-फड़ा रहे हैं, प्रतीक्षा कर रहे हैं। कटहल के पेड़ पर और भी कौवे बैठे हैं। मरियल कुत्ता देह टेढ़ी किये विनय भाव दिखाता प्रतीक्षा कर रहा है। थोड़ा हटकर पूँछ टेके आम के पेड़ के तने पर गिलहरियों की जोड़ी चीं-चीं करती दौड़-धूप कर रही हैं। सामने पुराने पेड़ों की छाया पड़ रही है।

जगुआ की माँ परोस रही है। रवि के पास रुककर बोली, "कैसा बना है रे बेटे? कैसा लगा?"

"क्या पूछती हो मौसी! हाथ चाटते रह जायेंगे, यह अमृत!" ऊपर झलमला-कर दिख रहा है आनन्द। कहा, "अमृत तो मुँह में है, तुम्हारे हाथ में। अहा।

"हजारी उमर करें रे, बेटे!—"

ये ही हैं उसके बलवीर बेटे, मानो उसकी सूखी बालू पर नदी की धार बह रही है। जीवन पूर्ण हो गया।

बिशिया पाण (डोम) थाली-भर भात लेकर परोसने आ पहुँचा। चारों ओर से आवाजें आयी, "ला भई, बिशी, दे रे बिशो!" बिशिया ने झट-झट परोसते-परोसते सारी थाली पूरी कर दी।

गंगा हलवाई ने कहा, "कैसा बदल गया बिशिया। अहा बेचारा! पट्टनायक के घर हलवाहा बना खटता रहता था। मया देते थे, उसे वे ही जानते। लँगोटी भी फटी-फटी थी। खटकर आने के बाद उसे बाड़ी के दरवाजे पर खड़ा कर कुत्ते की तरह पुकारते और कहते—अबे ओ बिशिया, ला तेरा तसला। अब कौन कहेगा कि यही वह बिशिया है? अब हमारा ही साथी भाई। आयें पट्टनायक देखें—"

"बनाया कहाँ, साथी-भाई?" रवि ने उलाहना दी, "तुम्हारे मन से तो वह भेदभाव मिटा लगता नहीं, नहीं तो मुँह से ऐसी बात क्यों निकलती? सचमुच जैसे बहुत बड़ी दया ही की हो, क्यों हम तो वैसे ही हैं, पहले अपनी ढपली बजाने को बेताब हैं। नहीं तो इतना हरिजन-उद्धार हरिजन-उद्धार का हल्ला मचता या पंक्ति-भोजन कराकर फोटो उतरवाते?

धोवेई मिश्र ने कहा, "बात तो सही है। पुराना पाप धो पोंछकर सब आदमी भाई-भाई बनें—यह कौन ऐसी बड़ी बात है कि जिसके लिए इतने ढोल पीटे जायें? इस बात को बड़ी कहने तक तुम्हारा मन इस अवस्था को सहज-साधारण-सच के रूप में ग्रहण नहीं करेगा। यह हरिजन-सवर्ण-आदिवासी-अनादिवासी का हो-हल्ला चलने तक असली भेदभाव बढ़ता चलेगा।"

रवि ने कहा, "अब और उन पिछली बातों को मत कहो। एक भूल को सुधार दिया, मैला धो दिया, चलो अब सीधी राह पर। अब उस बात को दुहराकर अपनी लाज

न बढ़ाओ, पीछे की ओर मत देखो।"

अर्पतिया ने हँसी में कहा, "पीछे की ओर देखे बिना क्या मजा ? पाटेली गाँव के पटनाइक की बात को ही लो ना। दादा थे नाहक, किसी की बेटी विदा होती तो पाठ बोलते, ॐ भगवान विष्णौर...."

अर्पति का श्लोक सुनकर सब हँस पड़े। अर्पति कहता गया, "उनके बेटे कहलाये नायक, पढ़-लिखकर नकल-नवीस बने, उनके जमाने में उनके घर के आगे एक पट रखा गया, वे कहलाये पटनायक—

हँसी के शोर में सब उठ खड़े हुए। जूठे पत्ते मोड़ना-उठाना, 'दो, मैं उठाये देता हूँ' 'अरे मैं ले जा रहा हूँ।' आदि चला।

धोबेई मिश्र ने कहा, "नाम के बाद की उपाधि मिटनी चाहिए पहले। युग-युग का सारा अहंकार, सारे भेद-भाव की गठरी यही है—मिश्र या महान्ती, नायक या पट्टनायक, दास या जेना—"

रवि ने कहा, "कौन कहता है, उस कूड़े की टोकरी को ढोने के लिए ?"

मिश्र ने पुकारा, "बिशि भाई, ओ बिशि भाई—"

रवि ने बुलाया, "बिशि भाई !"

सबने कहा, "बिशि भाई !"

बिशिया आकर खड़ा हो गया है। कैसे नया-नया-सा लग रहा है, और कौतुकपूर्ण अजीब-अजीब-सा, गुदगुदा-सा, कोमल-सा। सब उसकी ओर देखते खड़े हैं। चाकी के पाट पर चाकी की तरह पान के बीड़े पर मागुणी बेहेरा का मुँह चल रहा है। अर्पतिया मुँह बाये है, मानो हँसी रोके हुए है, रघु जेना गला खँखार रहा है, गंगा हलवाई की तर्जनी अँगुली और अँगूठा अपने पेट पर चिकोटी भरते कुछ खोज रहे हैं, उमा पसायत तिरछा देख रहा है रवि की ओर। रवि है हँसता-सा।

"बिशि भाई, बिशि भाई—"

मानो उसी पर एक परीक्षा हो रही है। वे देख रहे हैं। सारी दुनिया की निगाह है।

सचमुच क्या—?

या, यह झूठा आडम्बर है ? ऐसे और लोग भी बुलाने आये थे, बुलाने आये थे पहले भी, जब कंपकंपाती झड़-बरसा की अँधेरी रात में उन्हें मुफ्त में बेगार की जरूरत पड़ती। तब वे घिघियाते थे, फुसलाते थे, धमकाते थे।

और तब भी लोग बुलाने आये थे, जब उनके ही लोगों को सीढ़ी बनाकर, उनके कन्धे पर चढ़, बगुले की तरह सफ़ेद-धारी बन दुनिया के सामने खड़े होकर फूलों का हार गरदन तक बढ़ाने की जरूरत पड़ी थी।।

इसके बाद फिर कोई बुलाने नहीं आया। केवल दारू का घड़ा लुढ़का दिया। बस रानी हरिजन, हरि का भरोसा।

अब है गाँव से दूर हटकर—बगीचे के उस ओर खेतों के पास कहीं, या उजाड़ के बीच टूटे-फूटे झोंपड़े दो-चार, कहीं मचान, कहीं गँदला नाला, जो जगह और किसी के काम की नहीं। फटे चीथड़े, गन्दगी की ढेर। सुबह उठते न उठते पेट में उथल-पुथल मच जाती। बाढ़ आये चाहे हैजा, पहले उधर ही आयेगा। खाद की कुरी पर अतर छिड़कने कभी-कभार कोई आते। मीठी-मीठी बातें कहते कि तुम हरिजन हो, तुम अब अछूत नहीं रहे। उन बातों से खाली हण्डी में चावल भरेंगे क्या, या टूटे घर नये होंगे? खाली आदमी को आशा।

पर यह 'भाई' पुकार वैसी नहीं। यहाँ एक ही हण्डी, एक ही घर है। आदमी आदमी को पुकार रहा है, छाती से लगा रहा है। सच वह इनका भाई ही तो है, उमर में सबसे बड़ा है। एक ही घर खड़ा होगा, टूटेगा तो टूट जायेगा। पराया नहीं। दुराव नहीं। आदमी भाई-भाई है।

बिढ़िया जी खोलकर हँस पड़ा।

और एक दिन फूलहारा गाँव में कचहरी घर के पश्चिम की ओर हरी बाड़ के उधर दिखाई पड़ा—बाड़ के सहारे-सहारे आगे-पीछे होकर दो लाल पगड़ी एक दूसरे का पीछा करती-सी आ रही हैं; उनके पीछे कोई मोटी हरी टोपी। कुरूपा बाउरी ने गंगा हलवाई को हाथ दिखाकर कहा, "आज यह क्या अपूरब—"

गंगा ने उत्तर दिया, "खुद ही पता चल जायेगा कि—"

कुरूपा ने कहा, "देश स्वाधीन होने के बाद कम से कम ये रंग तो बदलना जरूरी था, वरना देखो तो सही, बिलकुल पहले की तरह—अकारण पुरानी बातें याद पड़ रही हैं, वही धर-पकड़, वही सब कुछ—"

गंगा ने कहा, "भग्, उल्लू! लाठी अगर लाठी न होगी तो क्या वंशी होगी? तू लाठी का भाव करेगा तब न लाठी तेरी ओर आयेगी, वरना तुझे क्या डर?"

कुरूपा ने डरने का दिखावा कर कहा, "कौन जाने बाबू, अपनी बात तुम जानो, मेरी तो धकधकी ही रही है। लाठी से महादेव डरें, मैं क्या चीज हूँ? लाठी के पीछे गोली—"

गंगा ने कहा, "अच्छा, अच्छा, रखे रहो। इतना न होता तो रात में सो भी सकता? बेचैन होता जा रहा है, नहीं तो और....अरे, आये हैं कोई जरूरत की बात पूछने, वो देख—"

वे आ पहुँचे। दोनों कान्स्टेबल ने चबूतरे पर झोला और लाठी रख दी। जूते खोलने के लिए झुके तो दिखा कि पीठ पर पोशाक पसीने में तर-बतर हो रही है। कर्मचारी खुले पैर फैलाकर खड़ा हो जेब से मैली-सी रूमाल निकाल पसीना पोंछने लगा।

कान्स्टेबल को आवाज दी—"अरे ओ, तीन सौ दो, दियासलाई है क्या ?"

तीन सौ दो नम्बर का व्यक्ति तबतक एक पैर से पट्टी खोलने के काम में व्यस्त था। संख्या सुनते ही पैर सटा ऊपर तनकर खड़ा हो गया। इसके बाद झपटकर खोज डाला अपना झोला, गिनने की तरह सम्हाल-सम्हालकर कदम बढ़ाते हुए कर्मचारी की ओर जाकर हठात् खुद को रोक खड़ा हो गया। बोला, "दियासलाई नहीं है, सर !"

कुरुपा बाउरी झटपट जाकर एक मोटा-सा लुआठा ले आया और कर्मचारी की ओर बढ़ाकर खड़ा हो गया। कर्मचारी ने जेब टटोलकर बीड़ी निकाली और मुँह में खोंस ली। गरदन आप ही पसर गयी लुआठे से बीड़ी लगाने के लिए; परन्तु कोयों को टेढ़े-टेढ़े उठाकर सामने की ओर देखा कि सब खड़े होकर उसे देख रहे हैं तो हठात् उनका मन बदल गया, बीड़ी फिर जेब के अन्दर चली गयी। स्वेच्छासेवी कुरुपा अपने हाथ में जलते लुआठे की आँच का यद्यपि अनुभव नहीं कर पा रहा था, परन्तु उनके तमतमाये चेहरे और जलती आँखों का ताव अनुभव कर रहा था। उमर चालीस के पास होगी, पर पचास बरस की तरह चेहरे के रूखे-सूखे भाव। परायेपन की-सी भंगिमा, खीझा हुआ चेहरा। उतने में ही वह पीठ फेर मुड़कर चला गया। पीछे से कर्मचारी ने कहा, "थोड़ा भी शऊर नहीं, कब ये लोग भद्रता सीखेंगे !"

धोबेई मिश्र ने होठ काटे। कहा, "सभ्य लोग तो सारे जाकर शहर में हैं। भला कितनी बार आप लोग पधारते हैं जो हम भद्रता सीखें ?"

कर्मचारी ने कहा, "आप लोगों ने जो किया है न, अब तो आना ही पड़ेगा। ठीक है, अरे यहाँ कोई कुरसी-फुरसी नहीं है ?"

धोबेई मिश्र मुसकरा उठे।

गंगा ने पूछा, "आपका कौन गाँव है हुजूर ?"

मागुणी अर्पति ठी-ठी हँस पड़े।

बिछावन काँख में दबाये रवि आ पहुँचा। बोला, "आइए, बैठें आप !"

"ओह, अरे आप !" बिछावन पर बैठकर कहने लगे, "आपका माथा तो ठीक हो गया लगता है, अब वहाँ पट्टी जो नहीं दिखती। इधर हमारा माथा खराब कर दिया।"

रवि ने हँसकर कहा, "क्यों, क्या हुआ ?"

"यहाँ इतना दल बनाना-गढ़ना क्या चल रहा है। मैं पूछता हूँ, फिर से यह क्या नया ढोंग छेड़ा ? भातहण्डी का सामलाती (सहकारी), हल-बैलों की सामलाती, जमीन-जायदाद की सामलाती, काम-काज की सामलाती, आदमियों का गुट और सामलाती, एक जिधर चला, बस चल पड़ा गोठ का गोठ उधर, धनवालों की तो छाती में धुकड़-धुकड़ किये क्या गुट साज रहे हैं, कहीं हमारी धनदौलत न छीन लें, हमारी जमीन जबरदस्ती न दाब बैठें। रिपोर्ट पर रिपोर्ट। अच्छा, मैं कहता हूँ एक बात, आप तो पढ़े-लिखे हैं, आपके बड़े भाई पुलिस में सब इन्स्पेक्टर हैं, आपके पिता पुराने खानदानी आदमी हैं, आप इसमें क्यों पिल पड़े हैं ?"

रवि ने उत्तर दिया, "बस इतनी मामूली-सी बात पूछने आप आये हैं इतनी दूर ? मन हुआ एक साथ चलते हैं, आप भी चाहें हमारे साथ मिल जायें। जो पैदा करेंगे बाँट-चूटकर खायेंगे, अपने लिए सहेजेंगे नहीं। जो खा जायेंगे खा जायेंगे, जो रहेगा सो देश के लिए। स्वयं ही पका-खाकर हाण्डी छोड़ देंगे—"

सब हँस पड़े। कर्मचारी हँस न सके। बोले, "यही तो विप्लव है!"

रवि ने कहा, "यह तो आप लोग पहले से ही कहते थे।"

"कब ?"

"कल की ही बात तो है, जब महात्मा गान्धी सबको एकमेक कर सूत कतवाते थे, नहीं, उससे भी पहले, जब बुद्ध ने लोगों के मुँह से कहलवाया—संघ में ही शक्ति है—या उससे भी पहले जब रामचन्द्रजी ने...."

बाधा देकर कर्मचारी ने कहा, "आपको बातों में जीता न जा सकेगा। हूँ, इस तरह चला तो आप भी एक दिन मन्त्री बनेंगे, तब आपके जाने के रास्ते में हम सारी व्यवस्था करेंगे, आप कानून गढ़ेंगे, हम जारी करायेंगे—"

अबकी बाधा देकर रवि ने कहा, "आप वह दुःस्वप्न देखें ही नहीं। हम तो हलवाहे-मजूरे लोग ठहरे, मन्त्री की गद्दी का हमें लोभ नहीं है, जिसने पूछने के लिए भेजा है उनसे कह दें कि हमने किसी के साथ जोर-आजमाइश के लिए यहाँ अखाड़ा नहीं खोल रखा है—"

"लोगों को कह-सुनकर बहका रहे हैं तो ?"

"बहकाना-उकसाना हमारा काम नहीं है, प्रचार और बहकावे के विरुद्ध ही हमारा काम—"

"वही तो मैं कह रहा हूँ" कर्मचारी हँसकर बोले, "हम सरल आदमी ठहरे, सरल बातें समझते हैं। सरल उपाय से उनका समाधान करते हैं, इतनी बखेड़े की बात क्यों ?"

रवि ने हँसकर कहा, "कीजिए सरल समाधान। अच्छा, यह एक ही बात देखें, इतने लोगों के इतने त्याग और तप के फल से हमें स्वाधीनता मिली। उसमें आप लोगों का दान भी कम न था, कम से कम लोगों को गरम करने में तो—"

कर्मचारी ने कहा, "वे बातें फिर क्यों उठा रहे हैं ? हम तो हुक्म के माननेवाले लोग हैं।"

रवि ने कहा, "मैंने तो यों ही कहा। इसके बाद अपना देश स्वाधीन हुआ। परन्तु हमारे विचारों की दिन पर दिन क्या अवस्था हो रही है ? हम अपना मत खुद नहीं मानते। हमारे सामने दस मत हैं, जैसे कि दुकान में दस कमीज टँगे हैं उनमें-से एक पहनना चाहते हैं, वही हमारा वेग है। हमें कैसा-क्या चाहिए, उधर अपना विचार चलता ही नहीं। स्वाधीन विचार छोड़कर हम हो रहे हैं पारी थामनेवाले। जिसके पास जितना पैसे का बल है, कूट बल है, वह अपनी तरफ़ उतने ही पारी थामनेवालों

को ढाल लेगा। जिसकी ओर अधिक सिर उसी का मत अधिक चलेगा। दो ध्वजाधारियों के बीच मन-मुटाव होकर मारपीट लगी तो इन पिछलगुओं के बीच भी लग जायेगी। ऐसा होते-होते तो पश्चिमी देशों में बड़े-बड़े गुट तैयार हो गये। कुछ सन्त ■■ भावुक लोग जो हल्ला मचा रहे हैं, उनकी बातें सुनता ही कौन है? हम उनसे बचकर थे, पर हमारे पूरब के देश भी वैसे ही पश्चिमी होने को आये, हम भी बनते जा रहे हैं मत के चाकर।"

कर्मचारी हक्के-बक्के होकर सुन रहे थे। चारों ओर एक छोटी-मोटी भीड़ जमा हो गयी थी। कहने लगे, "हमारे पुलिस विभाग में यदि सब जाति के लोग स्वाधीन भाव से काम करें तब तो कोई किसी की बात माने ही नहीं, हम चोर की रखवाली कैसे करेंगे, शान्ति की रक्षा क्या करेंगे?"

रवि ने कहा, "आप लोगों की बात दूसरी है। कर्म-क्षेत्र में आप कर्मचारी हैं। जो कानून है, उसके बाद आप भी स्वाधीन आदमी हैं, अपनी बुद्धि लगाकर अपना भला-बुरा सोचेंगे, अपना विचार ठीक करेंगे। पर और लोग तो किसी के कर्मचारी नहीं हैं वे अपना विचार क्यों छोड़ें?" प्रचार के शिकंजे में क्यों पड़ें? क्या करने से परायों का भी हित होगा, अपना भी हित, सदा के लिए सबका हित होगा—इसपर सबको अपने-अपने विचार फैलाकर सोचना चाहिए।

कर्मचारी उठ पड़े। कहा, "लोग 'दूसरों के लिए व्याकुल हैं,' कहकर अपना अपना दल-बल बढ़ा रहे हैं। बाबाजी का भेष बनाये दिन में घूम रात में सेंध लगाते हैं। कोई कुछ कहे, हमारा काम यह देखना है कि किसी तरह शान्ति भंग न हो। अच्छा बताइए, आपलोग लिखकर दे सकेंगे कि कोई गोलमाल नहीं होगा?"

रवि ने कहा, "उस लिखने का क्या प्रयोजन? आदमी जब लोहे की सांकल तक तोड़कर फेंक सकता है तो उस कागज के टुकड़े से क्या रुकेगा?"

"यही तो मुश्किल है। आप यह दल तोड़ दें तो अच्छा है।"

"तोड़ दें! इसका मतलब यह कि आप कहते हैं, बच्चे को जनमते ही जच्चाघर में ही गला घोंट दें, ताकि न कोई चोर हो, न कोई शत्रु होगा। यह बुद्धि भी क्यों नहीं है, कंस इससे पहले यह खोज करके गये हैं। फल कुछ नहीं हुआ, एक बच्चा तो रह ही गया!"

"जी बहुत बड़ी-बड़ी बातें कह रहे हैं!" कर्मचारी ने कहा। "ऐसे कितने देखे हैं, अब क्या? ऐसे दल-फल का बढ़ना-बढ़ना लगायेंगे तो फालतू में हमारा काम बढ़ेगा—"

उनके उत्तर पर पहले हँसा कुप्पा बाउरी। कमर पर हाथ रख, उनके चेहरे की ओर देख हो-हो कर हँसते-हँसते लोटपोट। वही हँसी अपर्णिया को, फिर गंगा को आयी, फिर सब हँसने लगे। इतनी हँसी का कारण क्या हो सकता है, कुछ सोच न पाकर कर्मचारी तमतमा उठे। इसके बाद अपना भेष अपना रूप देखने लगे। शायद कहीं कोई

भूल हो गयी हो। कुछ नहीं मिला। गम्भीर होकर पूछा, "किसलिए इतनी सारी हँसी है ?"

धोबेई मिश्र समझाने लगे, "आपने जरा धमकाया, शायद इसीलिए।"

कर्मचारी गुस्से में भर गये। कहा, "क्या, मैंने धमकाया, इसलिए ? इधर आना तो जरा तीन सौ दो—"

धोबेई मिश्र ने कहा, "तीन सौ दो आयें चाहे तीन सौ तीन, वह अब पुराना समय नहीं जो लोग लाल पगड़ी देखते ही भीत के कोने में जा छुपेंगे।"

"वह सब मत कहिए। क्या, हो क्या गया ? जेल नहीं है या कानून नहीं ?"

"सब है।" रवि ने कहा, "सारी कानूनों के ऊपर एक बड़ी कानून पास हो गयी है—वह है भारतीय संविधान।"

"तो फिर क्या क़ानून तोड़ने से दण्ड नहीं मिलेगा ?"

"पहले क़ानून तोड़ें तब तो ? ऐसा करते आपने देखा कहाँ ?"

"नहीं, नहीं, यह विप्लव—"

"सारे विप्लव दोष-भरे नहीं होते !"

"मैं एक सौ चव्वालीस लगाऊँगा।"

रवि ने कहा "मानी, झूठा डर-भय दिखायेंगे, यही बात तो। जब करेंगे तब करेंगे, यहाँ लोगों के साथ वाद-विवाद कर उन्हें चिढ़ाने की चेष्टा करने से कुछ नहीं मिलेगा। ये लोग डरेंगे नहीं।"

"ठीक है, चलो तीन सौ दो ! यह जगह ठीक नहीं।" कर्मचारी उठ पड़े। साथ-साथ पुलिसके दोनों कान्स्टेबल भी। वे चले गये।

लोगों ने कुछ नहीं कहा, केवल खड़े रहे।

रवि ने कहा, "इस तरह जाने कितना सुनना पड़ेगा। उससे हमें विचलित नहीं होना है।"

अर्पतिया कुदाल लेकर निकल पड़ा। उसके पीछे धोबेई मिश्र। बाद में पीछे-पीछे सब। वे काम पर चल पड़े।

दूसरी ओर गये तीनों पुलिसके कर्मचारी, सब-इन्स्पेक्टर रामचन्द्र चौबल, समुद्र किनारे के ठेठ देहात में टूटे हुए जमींदार घराने के वंशधर, उनके साथ तीन सौ दो नम्बर का कान्स्टेबल चक्रपाणि महाकुड़, घर पारलाखेमण्डी; एवं चार सौ सात नम्बर कान्स्टेबल अमलकमल मिश्र, उनका घर मयूरभंज, बारिपदा। चौबल बी. ए. फ़ेल हैं, पर खेल-कूद में उनका नाम था। बी. ए. फ़ेल होने पर भी अपने इलाके के बीस गाँव में वे सबसे ऊपर उठे थे आजकल की पढ़ाई में। गाँव-गाँव में अनेक लोग थे जो पुराने जमाने की पढ़ाई की खान थे; कोई संस्कृत में, कोई संस्कृत और उड़िया दोनों की पढ़ाई में, हिसाब, ज्योतिषशास्त्र, वैद्यशास्त्र, न्याय आदि नाना विद्याओं में पण्डित थे वे लोग। कोई किसी राजा से सोने का कुण्डल, पाट जोड़ा, किसी ने सोने के कंगन पाये थे। लोगों

की ज़बान पर उनका नाम अभी भी है, किसी की पदवी थी 'कवि कंकण', किसी की 'कवि डिण्डिम', किसी की 'कविराज' और किसी की 'तर्क पंचानन।' किन्तु उन लोगों ने स्कूल-कॉलेज देखे नहीं, न वे बी. ए. फेल बन सके, अँगरेज़ी जानते ही नही होंगे, बस सुनी-सुनाई दो-चार बातें 'कैट' 'रैट' 'बैट' तक। वे लोग पुराने ज़माने के हैं—उस ज़माने की तेल में तर मशालें; उनका अब और मूल्य नही रहा।

'बी. ए. फेल' इनके लिए बड़ी उपाधि है, भौंहें उठा, सिर हिला-हिलाकर वे पुराने बूढ़े भी आपस मे कहने लगे। बातें बनाने लगे, 'बी. ए. फेल!' रास्ते में चले जाते तो घटशाल के बच्चे अवाक् खड़े होकर ताकते रहते। लोगो का यह देखना और लोगो से प्रणाम पा-पाकर जैसे वे अपनी मर्यादा-प्रतिष्ठा के बारे में निश्चिन्त हो गये थे। बिना किसी तकलीफ के वे पुलिस सब-इन्स्पेक्टर बन सके, घोड़ा चढ़ सके, बन्दूक चला सके, पोशाक पहन प्रणाम दिया और लिया, समय खर्च कर मूँछें उगायी, कितने लोगों से कितने तरह के निमन्त्रण, आदर-सत्कार मिले। मन फूल उठा।

पर ठीक इसी समय ही खड़ी हुई थोड़ी असुविधावाली बात। उनके विरुद्ध अभियोग लगाती बेनामी दरख्वास्तें डाली गयी, फिर नाम लिखकर लोगो ने दरख्वास्त दी। लोगों ने कितनी ही बातें उनके विरुद्ध ज़बानी कही। घटना की जाँच हुई, असुविधा ही असुविधा में बरस पर बरस बीतते गये। उनके नीचे के कई लोग ऊँचा पद पा गये, उनकी और बढ़ोत्तरी नही हो सकी।

चौबल मानो साँकल में बँधे अरणे हाथी हैं, केवल निष्फल गरजना ही सार है उनके लिए। पुराने ज़माने का जुलमदार पुलिस का मनोभाव लेकर नौकरी आरम्भ करते ही वह समय बदल गया, वह थोड़ा झुककर मिलनेवाले पहले के प्रणाम भी बारह आने वही लोप हो गये। हेर-फैर का काम करने पर पीठ पीछे कोई नही, इधर बाहर लोग इतने बेरहे, परन्तु काम की धूम बेसी। घर-घर में समस्या खड़ी है।

हाथों की खुजलाहट मिटाने के लिए कभी-कभी अवसर मिल जाता, जैसे उस बार बड़े शहर में हुआ। धूम-धूम। तीखा-तानी। ढेंकानाल रजवाड़े में आन्दोलन, ढोल-धमाना। जीप में चढ़, बन्दूक ताने रात-दिन रास्ता-बाज़ार सब जगह पैंतरे। वो बड़ा चौराहा—हाड़ी साही देवल साही—छाती फूल उठती। हाथ और भी कुल-बुलाने—कि बस सामने पड़ जायें तो एक ही बार में दुरस्त हो जायें।

पर अधिक दिन नहीं बीते कि सचमुच जैसे चरते-चरते मुँह पर तुम्बी बँध गयी हो। पहले की तरह वही खाकी पोशाक है, बूट, संगीन, पगड़ी, वे ही हाकिम हैं, जिन्होंने गोली फायर का आर्डर दिया था, और वे ही दूसरे बूढ़े, राम-नामी ओढ़ते हैं, घर-बार फौज के आगे गाड़ी पर चढ़कर जाते समय बैंगे लोहे के खोल की तरह खाली चेहरा दिख जाता है, आँखों में थमा-सा तूफान, रजवाड़ों के प्रजा-आन्दोलन के समय गोली फायर के समय का दृश्य, क्योंकि बजर पहाड़ की चोटी पर वन जलाने-वाली आग की फैली हुई धार की तरह उस चेहरे की मुद्रा। वे वैसे ही हैं, परन्तु कोई

कुछ नही कर पाता, छाती फुलाकर, ताने कसकर, अनेक बातें कहते चलते हैं शहर के साधारण लोग—कोई दुकानदार, कोई व्यापारी, कोई रिक्शावाला, कोई मेहतर, कोई कुछ। कोई पीठ पर नही। उलटे हुआ ये कि जो गोली की चोट खाकर मरे उन्हीं के सम्मान में सभा में भाषण दिये गये, उन्ही के नाम पर स्मृति-मण्डप खड़े किये गये, नींव का पत्थर रखने के लिए आये हाकिम के हाकिम के हाकिम—स्वयं मन्त्री।

क्रमशः बचकानी धारणा बदल गयी। चौवल धीरे-धीरे समझ गये, दायित्व के लिए बहुत क्षेत्र है, हाकिमाई के लिए संकुचित, जुलम के लिए बिलकुल नही। कभी जब अँगरेज थे तब पुलिस ही थी मूल शक्ति—क्योंकि उनकी भुजाओं के बल पर खड़ा था अँगरेज-साम्राज्य। शासन का प्रधान काम था कानून और नियम बनाये रखना। इसका भार था पुलिस और कचहरी पर। तब के मुन्शी, दारोगा, सुप्रेण्ट आज नानी-दादी की सुनायी कहानी के आदमी बन गये हैं। वैसे लोग अब भी हैं वरन् पहले से अधिक है, लेकिन वे अब सर्वेसर्वा नहीं हैं, वे एकमेव नहीं हैं, जन-सामान्य के हाथ में क्षमता आयी है। बुद्धि हुई तो वह अपनी क्षमता का प्रयोग कर सकेगा। कुछ न कर सका तो वह इधर अधिकारियों के पास दरखास्त भेज सकेगा, उधर राज्य की सभा में प्रश्न पूछने के लिए किसी लोक-प्रतिनिधि के जरिये चेष्टा कर सकेगा। क्षति न कर सका तो भी अड़चन तो खड़ी कर ही देगा।

चौवल धीरे-धीरे इन सबका भी आदी हो गया, परन्तु कभी-कभी बेचैनी-सा अनुभव करता। हाथ कटकटाते, मन आतुर-कातुर होना। फिर होश आने पर वे पश्चात्ताप करते।

उस जगह को छोड़कर बाहर आने पर उनके दिमाग की गरमी उतरी जा रही थी। व्यर्थ ही डींग मारा—बिना कोई गलती पाये किसी का वे क्या कर लेंगे! मैलण के मैदान में मार-पीट हो गयी पर मुकदमा खड़ा करने के लिए कोई साखी नही मिल सका। और फिर यहाँ गाँव-भर मिल गया है, कोई दो-एक ही अलग होंगे, ऐसे में क्या किया जा सकता है?

"कुछ करके फायदा भी क्या है? तुम क्या कहते हो ओ नॉट टू?" उन्होने गम्भीर होकर कहा, "समय तो जैसा देखते हो, कौन-सी बात स्थिर है? आज जिसे मामूली आन्दोलन समझते हो, कल वह इस देश की चलन की धारा में नही आयेगा—यह बात कौन कह सकता है? आज जो लोगों को सिर्फ बहका रहा है, कल वह मन्त्री नही होगा—यही कौन कह सकता है?"

चक्रपाणि महांकुड़ने कहा, "हाँ हुजूर, वैसा भी तो हुआ है। लोक प्रतिनिधि बनने के लिए सबके सामने रास्ता है। एक बार हुए तो फिर मन्त्री भी उन्हीं में से होंगे—"

"सबको रास्ता कहाँ? हमें क्या रास्ता है?"

"चाकरी में रहने तक नही है, सर! चाकरी छोड़कर तो लोक-प्रतिनिधि बना

होता है। अपनी अकेली खेती से सामलाती खेती और भी अच्छी। सब अच्छा, पर सदा यह मन यह मेल रहे तब तो! दो दिन बीतते ही तो कलह लग जायेगा। वह कहेगा, अमुक खा गया मुझे नहीं दिया, यह कहेगा कि मैं क्यों काम करूँगा वह क्यों बैठेगा, और कोई कहेगा कि मेरी मानता कम क्यों हुई, उसकी अधिक क्यों और फिर चलेगी एक-एक कर टूटने की परम्परा कि सब टूटकर अलग हो जायेंगे। सब जगह यही होता आया है, आदमी का स्वभाव ही ऐसा है, दो दिनों की 'हां' से क्या मिलेगा? चलें हम सब—"

महाकुड़ ने कहा, "आदमी का हृदय पुकारता है एक होने को, परन्तु अपना किया काम दूसरे जैसा हो न सके तब एक दूसरे में फूट पड़ जाती है।"

अमलकमल मिश्र ने सिर हिलाया। बोले, "सच है, कोई कलह करना नहीं चाहता, अशान्ति नहीं चाहता। क्या कोई सचमुच चाहता है दूसरे को लहूलुहान करना? किसी की भी जान लेना? जाने कैसे क्या हो जाता है कि फिर यही आदमी पशु से भी घट जाता है, और दूसरे क्षण कुछ नहीं रहता।"

धौबल ने कहा, "ये हिरदय-फिरदय सब फ़ालतू बातें हैं, मन में जो भी हो, हम तो यह देखेंगे कि काम किसने किया। उसी का दोष होगा, उसी को दण्ड मिलेगा। यहाँ इन लोगों ने गुट बनाया है। करते हैं लम्बी-चौड़ी बातें। जो पढ़ाई करेंगे, वे तो करेंगे ही। कभी यहाँ कलह ज़रूर होगा, इन्हीं को लेकर औरों पर दाब पड़ेगा, फिर देखना क्या होता है—"

विकास अधिकारी युवक विपिन के पतले हड़ीले चेहरे पर सिगरेट थी, पर हँसी न थी। शीतलपुर गाँव का काम देख आने के बाद वह गाँव के सिरे पर बरगद तले खड़ा हुआ है, एक पैर उसका जीप के पायदान पर, दूसरा पैर जमीन पर, चेहरा आकाश की ओर आधा टिकाये तिरछा हुआ है, तेल में चमचमाती माँग के बीचों-बीच पतली सीधी रेखा, छोटी नाक ऊपर की ओर, दोनों नासा खुली हुई। अचानक मानो विपिन पत्थर हो गया हो, चेहरा मुखौटा बन गया, उस चेहरे पर अँका हुआ है क्लान्ति और नैराश्य, कुछ भय भी। कुछ दूर हटकर भीड़ बनाये गाँव के कई लोग खड़े हैं, और कुछ कर्मचारी। कुछ दूरी पर और कई लोग। वे लोग आपस में दोष देकर तू-तू मैं-मैं के युक्ति-तर्कों में लगे हैं।

सामने विकास खण्ड, उसके पास अन्न-भण्डार।

उसके सामने पड़ा है एक पानी का पम्प-सेट। दो बरस पहले खेत में पानी देने और फसल उपजाने के लिए तीन हजार रुपये में खरीदकर इस गाँव के लिए लगवा दिया गया था। दो बरस पहले जिस दिन यह पम्प आया था, उस दिन वह खुद यहाँ उपस्थित था, एक छोटा-मोटा समारोह किया गया था, सभा का आयोजन हुआ था।

गाँव के कितने आशावान् लोगों ने भाषण दिये थे, उनके साथ मिलकर उसने भी दो शब्द कहे थे।

आज ! यह वैसे ही पड़ा है। लोहे का टुकड़ा बना। ऊपर मोरचा, अन्दर मिट्टी। कहते हैं, उसके दो छोटे-छोटे पुरजे नहीं मिल रहे। रबर की एक पाइप कहीं खो गयी बताते हैं। होती तो भी क्या होना था ?

मिश्र ने विश्वस्त ढंग से समझाकर बताया, "जी, यह आया उसी दिन से अचल है। मिस्त्री आया, कितनी चेष्टाएँ की गयी, उसकी मशीन ने हूँ-चूँ भी नहीं की। शुरू से ही मुरदार ढोल था।"

पधानजी ने चुपके से बताया, "सारे नाटक का सूत्रधार ये मिश्रजी ही हैं। रबर की नली उन्होंने ही तो उड़ायी है, फिर वह काम करता भी तो कैसे ?" और एक दल ने कहा, "इसके मरम्मत आदि का काम यहाँ तो कोई जानता है नहीं। यहाँ था एक दनेई प्रहराज, कल-कब्जे का काम कुछ जानता था, वह तो जमाने से शहर में जाकर लोहे के कारखाने में काम करने लगा, और अब कौन जानता है, यह सब काम !"

रघु पट्टनायक ने कहा, "ये काम वैसा ही है ! कभी कड़ी धूप में नदी कहीं नीचे चली जाती है, गड्ढे-पोखरी सब सूख जाते हैं, पानी उठता कहाँ से ?" बलियार सिंह ने कहा, "भाड़े पर खेत लेने पर उतना भाड़ा चुकाने को किसके पास पैसा है ? हमारा पम्प खराब हुआ पड़ा है पर जहाँ पम्प ठीक है, जैसे बुढ़िसाही गाँव में वहाँ कितने लोग पम्प से काम ले रहे हैं ? देखें, समझें, ये हमारे काम की नहीं है, पानी होने पर टेंड़ हम चलायेंगे, नाले में नदी का पानी आता तो एक आड़ी बाँध डाल देते और नाले को काटकर खेत तक ले जायेंगे। यह सदा के लिए होगा, सस्ता होगा, और ये जन्तर-मन्तर हमें नहीं जँचेगा।" कई लोगों ने उस बात का समर्थन किया। पुरखा आदमी, बटी साहू ने अपने अँगोछे से पसीना पोंछते-पोंछते सार रूप में बात कह दी, "ये सारे काम हमारे देहातों में नहीं जमते, फालतू में यह इस गाँव को आया, सामलात में पैसे गिने जायेंगे, गाँव में बुराई आयेगी।"

मैं सब वो सुन चुका हूँ, केवल पम्प की ही बात नहीं, और भी वैसी ही कई बातें हैं। जेठ की धूप। वो उधर पोखरी की पाल पर खजूर के दो झुरमुट खड़े हैं, दोनों में ढेर की ढेर खजूर के फल लगे हैं, कसकर गुँथे हुए हैं, पक गये हैं, गाढ़े लाल। उसे किसी ने नहीं लगाया, उसके लिए किसी ने यत्न नहीं किया, फिर भी खजूर का पेड़ बढ़ा है, फल देता है, फल पकते हैं, पर यह बेचारा पम्प !

विज्ञान, परिश्रम, त्याग, कौशल, योजना, धन कितने उपादान एकत्र कर वह गढ़ा गया, कहाँ कितने ऊसर-मरु में उसने फ़सल पैदा की है, कितनी आशा के साथ भेजा गया था, इस सुदूर देहात में। इन्होंने उसका मूल्य समझा नहीं, वह रद्दी होकर पड़ा है।

अब क्या उत्तर देगा वह ऊपरवालों को ?

और यह अन्न-भण्डार। गरीब बेचारे अकाल में सस्ते सूद पर धान उधार लेंगे, अतः कितना खरचा कर यहाँ धान जमा किया गया। कारबार चला भी दो-तीन बरस। फिर कहाँ, इस साल धान की वसूली के समय दस आने लोगों ने धान लौटाया ही नहीं। कागज़ हैं, धान नहीं। कैसे वे लोग इतने स्वार्थी हो सके! यह भी नहीं समझ सके कि धान लौटाने पर दुखी-गरीबों का उपकार होगा। इसके लिए भी उसे ही जवाबदेही करनी पड़ेगी।

दो बरस पहले इस गाँव में पोखर खुदाई के लिए रुपये आये थे। पोखर खुदता, मछली छोड़ी जाती, बढ़ती। जो हो रुपये में चौदह आने डाकघर में रखे हैं, उड़े नहीं, बाकी जो दो आने अगाऊ के दिये गये थे उनसे काम हुआ नहीं। कारबरदार तो कहते हैं कि दस गुना काम हुआ था, बरसा में सारा दब गया। वे मुकदमा लड़कर अपनी बात रखने पर आमादा हैं, रुपये लौटायेंगे नहीं, और काम करेंगे नहीं। और एक दल कहता है कि उनमें आधे पैसे तो गाँव की रामनवमी में ही खरच हो गये, और किसी ने कुछ किया।

गाँव की यह जो सड़क पड़ी है, उसमें फिर कितने गड्ढे ऊबड़-खाबड़ हैं। गाड़ी नाचती-नाचती कूदती-कूदती आयी, उस काम में भी कितनी टालमटोल—महीना नहीं, बरस बीत गया। कौन उस काम को लेगा, इसके लिए दल-बन्दी, ऊपर तक दरखास्त-बाजी, धर-पकड़ की तब जाकर काम चुकटा, पर अब कहते हैं कि सड़क के किनारे पुरानी खन्दक थी, उसी के किनारे तोड़-खरोचकर गारे की साखी गढ़कर चौकोर गड्ढा दिखा हिसाब चुकता कर लिया और पैसे खींच लिये। एक दल इधर की कहता है तो और एक दल उधर की कहता है।

क्या करने से लोग समझेंगे कि यह गाँव अपना है, यह काम अपना है, अपने घर की चिन्ता और घर के काम से बढ़कर ज़रूरी है—सबका सामूहिक मंगल और काम। ये बातें केवल किताबी या प्रचार की बातें नहीं हैं, एक विराट् स्वाधीन देश के जीवन-मरण की समस्या है। इसी पर सब निर्भर है। पता नहीं कब आयेगी यह चेतना!

ख्याल आया, कहीं से कोई सड़ांध में भरी हुई दुर्गन्ध तैर आती है, उबकाई-सी आने लगी। पता नहीं कब से यह दुर्गन्ध उठ रही थी, मानो उसकी अनुभूति में यह मिल गयी है, गुद-गुद उसके अन्दर एक उद्यम चल रहा था—उसे पहचानने और नाम देने का। पुरानी बात का तार पकड़ते हुए उसने कहा, "कैसी है, यहाँ यह दुर्गन्ध? कुछ मर गया है क्या?" और ज़ोर से सिगरेट खींची। उसके प्रश्न से मानो सचमुच दुर्गन्ध ने नया रूप धारण कर लिया हो। अचानक सब उस बारे में सोचने लगे। एक ने कहा, "हाँ, सच तो, कोई कुत्ता मरा पड़ा है कहीं। दूर फेंक देने तो क्या हो जाता?"

फिर इस प्रसंग पर आलोचना हुई। पधान ने कहा, "देखें तो सही इन लोगों की बात! गड्ढर कीड़े पड़ गये, सड़ाँध से उबकाई आ रही है, पर उठाकर फेंक देने को किसी का हाथ नहीं जाता—"

"कहते ही हो, तुमने खुद फेंक क्यों नहीं दिया ?" भीड़ में से किसी ने बात फेंकी। उसका समर्थन भी एक ने कर दिया, "सच तो, जीभ हिलाने में क्या लगती है, पर काम कहाँ ?"

बलियार सिंह ने रुककर कहा, "जमाना तो बदल गया, और क्या करें ? इस गाँव के चमार भी मिजाजी बन गये, हुजूर ! नहीं तो एक जरा-सा कुत्ता तीन दिन तक पड़ा सड़ता रहे ? उन्होंने न उठाया तो क्या तुम्हारे दरवाजे पड़ा रहे, यों ही, क्यों ?"

"बात तो ठीक है, और अब किसके हाथ या पैर हैं जो कोई कुछ करेगा ?" उसने व्यंग करते हुए कहा, "मुरदा उठाना तो समझो चमारों का ही काम ठहरा, और क्या ? उन्होंने अगर न उठाया तो पड़ा रहे, वैसे ही तुम्हारे द्वार के आगे ?"

"पहले से ही यह रीत चली आयी है न, हममें से कोई करेगा ?" बलियार सिंह ने कहा, "गाँव की नीति में जिसका जो काम है, वही उसे करे तो कितना सुन्दर हो !"

"तब बलियार सिंह तो गाँव के मुखिया होते, फिर चिन्ता क्या रहती ?" ठट्ठे में युवक उत्सव महारणा ने कहा, "जिसका जो काम वह उसे करे तो इसमें बलियार सिंह का लाभ है, पुराना मुखिया परिवार है, हुजूर ! फिर इतना ही नहीं, मैं समझता हूँ कि कोई भी काम करने को राजी नहीं, अब चासी पढ़-लिखकर कमीज-पैण्ट पहनकर केवल चाकरी-वेपार-कल-कारखाने के काम आदि में मिलेंगे, अतः झुण्ड के झुण्ड एक साथ शहर चल पड़े, गाँव में उनका काम भी कैसे होगा, हल कौन चलायेगा, फसल कहाँ से आयेगी !"

सिर्फ कहने की बातें हैं ! विपिन सोच रहा है। केवल तर्क-बाण है। इधर नाक में सड़ाँध भर रही है। मोटर में बैठकर इंजिन स्टार्ट किया। सूखी हँसी हँसकर कहा, "भाषण अब अपने यहाँ रसोईघर तक घुस आया है। कहने-सुनने को तो कहाँ से कहाँ, पर काम कुछ नहीं होता। ठीक है, बैठकर गप्प मारें, मैं चलता हूँ।"

एक साथ कई आवाजें आयीं, उछलकर, "यहाँ सब अपना-अपना मत व्यक्त कर रहे हैं।"

हाथ हिलाना, सिर हिलाना, एक दूसरे पर दोष लादना, जी खोलकर गप्पें हाँकना—फिर उसके बाद सब अपने-अपने घर जायेंगे।

क्या करें ताकि यह संस्था सब जगह काम करे ?

उसके मन के अन्दर इतना ही गम्भीर प्रश्न था। ऊपर से नीचे लुढ़कते हुए चला आता है आदेश—कहाँ क्या काम होगा, इसके लिए कितना खरच होगा, किस ढंग से कौन काम होगा। वैसे ही ऊपर से नीचे तक लुढ़क आती है निन्दा—"तुम्हारे यहाँ कुछ भी काम नहीं हो सका। तुमसे तिनका भी नहीं टूटता, अच्छी तरह काम करो, और नहीं तो...."

उसके ऊपर जो हैं उन्होंने अपना यह मन्तव्य उसको अच्छी तरह समझा दिया

है। उसने भी अपने से नीचे की ओर देखकर औरों को कह दिया है—"तुमसे कुछ हुआ नहीं। तुम तो बिल्कुल निकम्मे हो—तुम्हारे लिए मुझे कितनी बातें सुननी पड़ीं। अच्छी तरह कमर कसकर जुट पड़ो, नहीं तो परवाना मिल जायेगा।"

और यहाँ सीतलपुर में हालत ये हैं! ओह! बड़ी आशा थी कि यहाँ कुछ काम हो सकेगा, जो लोगों की नजरों में आ सके, ताकि परिदर्शकों को घुमाकर वह कुछ दिखा सकता।

गाँव के दवाखाने के लिए घर बनने लगा। उस आधे घर के बीच एक बेर का जब्बर पेड़ खड़ा हो गया है, अब की बार फलेगा। गाँववालों ने अपने हिस्से के वादा किये हुए पैसे जमा कराये नहीं, इसलिए घर पूरा हुआ नहीं।

घुम-घुम करती जीप धचकड़-धचकड़ रास्ते पर चली जा रही है। तपती धूप की आँख झुलसाती आँच की ओर ध्यान ही नहीं, न रास्ते की बात मन में आती है।

मानो सारे आकाश में गरम राग बिछायी जा रही है, नीचे आग बरस रही है। ताप में भुनकर यह धरती किसी अन्य अवस्था के लिए तैयार हो रही है, जब यह धूप नहीं होगी, यह गरमी नहीं होगी, यह सूखा-पथरीला कुछ न होगा, सब कुछ भीगता रहेगा। प्रतिक्षण उसके दीखते चित्र में बदलाव हो रहा है, धूप सुलग-सुलगकर मन्द होती जा रही है, रोशनी के बीच छाया घनी होती आ रही है।

वैसे ही चुपचाप बैठा है वह। बीच-बीच में बुझ जाने पर एक और सिगरेट लगा लेता है, कुछ बोलता नहीं। रास्ते के किनारे के ठूँठ या बाँबी, पेड़ या घर या आदमी किसी की छवि उसकी आँखों के परदे पर पड़ती है, कभी उसके मन की अनन्त चेतना के घट में कहीं मिल जाती है, ठीक एक चुनी हुई जगह देखकर संकेत से और एक भिन्न चित्र उपजता है, बँधे-बँधे, गुँथे-गुँथे भावों और चित्रों का जाल-सा होकर दप-दपा रहा है उसकी चेतना का आकाश। वहाँ भी दृश्य बदलता है, उसी के भीतर जी-जान से कसकर पकड़े हुए है अपने सचेत मन में एक धारणा को—विकास योजनाओं की सफलता, उसके कर्म-जीवन की सफलता है।

पड़ी है पुरानी पृथ्वी पर पुरानी सृष्टि, पुराना संसार। कुँए की मुँडेर खाली पड़ी है, किनारे पर रस्सी रखी है। पोखर का घाट खाली पड़ा है, पैर धोने का पत्थर पड़ा है, और धोबी का कपड़ा धोने के लिए डाला गया पट्टा भी। बकरियाँ चर रही हैं, गला फुलाकर भेड़ा पीछा करता आ रहा है, पीठ फेरे खड़ी है कोई बुढ़िया औरत। हाथ में एक छड़ी, झुर्रीदार ललाट तिरछा किये, रूढ आँखें उठायी हैं खाली आकाश की ओर। मुई सूखी लताओं के जाल में ढँकी चुपचाप पड़ी है किसी की दबी हुई छान, छावनी हुई नहीं, बाँस की फरचियाँ टेढ़े-मेढ़े दाँतों की तरह इधर-उधर निकली हैं, ठुँसी हैं। तपतपाती धूप में पेड़ तले कोई खर्राटे भर रहा है, पास में रखी है हलद रंग की गाँठदार लाठी, कहीं किवाड़ खुले हैं तो कहीं बन्द पड़े हैं, कतार में घर, अन्दर तक दिख जाता है, लोग सोये हैं, बैठे हैं, बात-चीत में लीन हैं, ढेंकी कूट रहे हैं, पोथी पढ़ रहे हैं,

या कोई तारा खेल रहे हैं—आदमी है, सदा थे, आदमी हैं और सदा रहेंगे, इसी धारणा में उसके चेतना के अणु-परमाणु भी सिक्त हो रहे हैं।

और वह सोच रहा है, कब सपना सफल होगा! सपना झाँक रहा है—चौकोर की तरह सड़क, दोनों किनारे बाड़ी-बगीचो से भरी कोठियाँ, टाइल के घर, साफ़-सुथरे, धकधक-भकभक करती हुई घर-घर में छोटी-छोटी कलें, बटन दाबते ही बिजली से चलती हो, तरह-तरह की चीज़ें तैयार होती रहेंगी। गाँव में, खेतों में काम आयेगी मल की खाद, आदमी का मल भी तनिक बरबाद नहीं होगा, हड्डियो के चूरे की खाद—मरने के बाद मानो सबकी देह इस देश की माटी में मिलेगी, होता रहेगा कम्पोस्ट, धनीचा, रासायनिक खाद, खली, गोबर, मशीन के हल। ट्रेक्टर से खेती होती होगी। रबर के पहिये लगी बैलगाडियों में पंजाबी-हरियानवी बैलों की जोड़ी जुती होगी, और गाड़ी की गाड़ी फ़सल जाती रहेगी। और चाहे इस जेठ का अन्न हो, बैलगाड़ियाँ भरकर अच्छे-अच्छे बीजों से पैदा हुए धान, गेहूँ, आलू, कपास, तम्बाकू और कितना कुछ जाता होगा। पम्प से उठाकर छोटी-छोटी लाल नालियों के रास्ते खेतों को पानी जाता होगा। पानी से भरकर बड़ी-बडी पोखरियां झिलमिलाती दिखती होंगी, पाँच सेरी-सात सेरी रोहू या भाकुर मछलियाँ उछल-कूद करती होंगी, झुण्ड के झुण्ड मुर्गे सारे मैदान में चरते होंगे। सफ़ेद लेगहॉर्न और लाल रोड आइलेण्डर। चारों ओर निश्चिन्त नीरोग हृष्ट-पुष्ट स्त्री-पुरुष, गाँव की ओर देखते ही कारख़ाने में, खेत में जुटे हुए लोगो के झुण्ड, नाना उद्योगों के लिए अनेकों मकान, मशीनो के कारख़ाने, भण्डार, स्कूल, अस्पताल, सब्ज खेत-बाड़ी, बाग़-बगीचे, बीच-बीच में धब्बे सफ़ेद-सफ़ेद, रात होते बिजली की रोशनी से चारों ओर दीपावली, बीच-बीच में बड़े-बडे कारखानो के घेरे, असुर की तरह विराट्-विराट् अट्टालिकाएँ, जगह-जगह दस तल्ले, बीस तल्ले, गति, भीड़, गाड़ियों की गरज, हो-हल्ला। खेती और मशीनी उत्पादन का चरमोत्कर्ष। यन्त्रो से नपे-तुले, कटे-छँटे, सजे-धजे खेत, बगीचे और बाड़ी की क़तार, कहाँ किस प्रकार पेड़ लगाने पर काम आयेंगे, उसी के अनुसार सजे हैं। झोपडे नही, मकानों से भरा गाँव। मकानो से निकले आ रहे हैं साफ़-सुथरी पोशाक पहने स्त्री-पुरुष। वे खूब खरच कर रहे है, इसके लिए उनके पास खूब पैसे हैं। भाँति-भाँति की कई तरह की चीज़ें व्यवहार में लाते है, कीमती पोशाक, अपनी आवश्यकताएँ बढ़ा-बढ़ाकर सभ्य हुए है। उनके अपने यान-वाहन है। घर-घर में रेडियो। इसी खेतो के आकाश में चिड़ियो की तरह झुण्ड के झुण्ड उड़े जा रहे हैं छोटे-छोटे हवाई जहाज, नीचे चला जा रहा है गाड़ियों का स्रोत। जिधर देखो व्यस्तता, कार्य-तत्परता। और पक्के कारीगर—लोहा, ईंट, कंक्रीट, भरी की भरी चीज़ों की गाड़ियाँ। इसी उद्देश्य को आँखो से आगे रखकर चल रहा है इस गठन का क्रम, क्योंकि इस देश को भी बहाना होगा—इण्डस्ट्री के युग ऐटम के युग के स्रोत के साथ। अमेरिका से भी आगे निकलना पड़ेगा। क्या नहीं हो सकता?

मगर क्या होगा फिर?

यह आदमी बदलेगा ? ये जो मरियल-सा बूढ़ा बहँगी कन्धे पर लादे लड़खड़ाता-सा फुदकता भागा जा रहा है, इतनी तपन में वह क्या यों नहीं भागेगा ? पोशाक पहन होंठों के कोने में चुरुट लटकाये एक जीप ड्राइव करता जाता होगा नीली आस्फाल्ट के खुले चौड़े रास्ते पर, धारा की तरह आगे-पीछे, पता नहीं कितने !

खेती करनेवाली मशीन ! काटती होगी और कमाती होगी मशीन। मशीन का गीत, मशीन की गाड़ी, मशीन की तरह आदमी, मशीन के जैसे घर का काम-धन्धा। एक ही साँस में, एक तरीके से सब कुछ।

कौन-सा आदर्श, कौन-सी आध्यात्मिकता, किस कविता की आड़ लेकर समर्थन करोगे इस चलनशील स्थिति का। इस दारिद्र्य, फटी लँगोटी, टूटी भीत, रोग, गन्दगी, अज्ञान, भय का ? जल जायें यह सारा कूड़ा और साथ-साथ ये सुस्ती, जाये चाहे उसके साथ ही इस देश के मानव समाज की वह पुरानी सड़ी-गली धारा, वही सैकड़ों बरसों की तलछट, तिरोंछट तालाब की कीच, बदल जायें ये आदमी स्वयं, और उसके दिमाग की बद्ध धारणाएँ, विचार। बदल जाये। मानव जाति बचे, और सुखी हो।

जगह-जगह नयी सड़क पड़ी है, ऊँची समतल कर माटी बिछी है, दूर तक, जगह-जगह पोखर की खुदाई चल रही है। कई पूरे हो चुके, चौकस पाल बाँधी जा रही है, टोकरी सिर पर उठाये लोग इधर-उधर हो रहे हैं। रास्ते में पानी जमने की जगह देख कहीं-कहीं पत्थर के सेतु, कहीं पुलिया, कहीं पुल, नये, चूने से पुतकर सफ़ेद दीख रहे हैं। जगह-जगह नये मकान खड़े किये जा रहे हैं, समाज-कल्याण-गृह बन रहे हैं। कपड़ा बुनने के केन्द्र, स्कूल, प्रसूति-घर, धान के भण्डार-घर बन रहे हैं, पशु-चिकित्सा केन्द्र, सेवक बस्ती, खजूर गुड़ केन्द्र, हाड़ के चूरे की खाद बनाने का केन्द्र, समाज के लिए धान-भण्डार। लाइब्रेरी, कृषि-केन्द्र, जगह-जगह के घर हो गये, हो रहे हैं। कहीं कच्ची ईंटें पक रही हैं, कहीं पकी हुई ईंटों की थाक लगायी जा रही है, कहीं बढ़ई काठ चीर रहे हैं, खोली, किवाड़, झरोखे बना रहे हैं, कहीं छत बना रहे हैं। रास्ते में जगह-जगह कुआँ, सीमेण्ट से बनी मुँडेर और फ़र्श, ऊपर छोटा-सा पम्प। जगह-जगह बड़े-बड़े चौराहों पर छोटे-छोटे खम्भों पर बड़े-बड़े धान के गोदाम-घर, गोल, मुड़े हुए लोहे के पात से बने। कतार में चले गये हैं टेलीफ़ोन की लाइनों के बेशुमार खूँटे। और फिर उसके बाद दूर तक खींच आयी है इलेक्ट्रिक लाइन, इस सड़क के किनारे ही किनारे दूर देहात तक। सैकड़ों कोस की दूरी से बिजली इन तारों में बहकर आती है, और सीध में चले गये हैं दोनों किनारे गाँवों में। ठेठ देहाती गाँव तक में रात के समय रोशनी जल रही है, फिर चलेगी वहाँ मशीन। और ये आ गया नया खोदा हुआ नाला। वहाँ सैकड़ों कोस दूर पर कोई नदी बँधी है, पानी [illegible] भण्डार बनाया गया है, गाँवों के अन्दर तक नालियाँ मोड़-मोड़कर ले जा रहे हैं, हजारों कुली लगे हैं, नालियों की खुदाई पूरी होने पर पानी आयेगा।

इस तरह जो कुछ भी हो गया है वह विराम-कार्य का प्रतीक है। कुछ तो हुआ

ही है। देश को स्वाधीन हुए कुल जमा कितने बरस हुए ही हैं! उसमें फिर इतनी जगह इतने चिह्न तो दृष्टि में आ रहे हैं। चलता रहेगा तो और भी होंगे। पहले तो इन सबका पता तक न था, थोड़ा-बहुत काम चल ही रहा है।

इसी तरह सोचता-सोचता चलता गया विकास-कर्मचारी विपिन, अपने स्वप्न-जागृति, आशा-निराशा के बीच, अपनी सिगरेट को धुआँ के अन्तराल में। सब जगह शीतलपुर की-सी हालत नहीं है, थोड़ा-बहुत काम हो रहा है।

इसी काम को देखने-परखने को तो वह गश्त पर निकला है। धूप ही धूप में दौड़ना, रास्ते में कहीं रुकना। काम देखता है, कहीं गाँव के लोग डाब मँगा फोड़कर पिलाते हैं, खड़े-खड़े ही पी लेता है; कहीं रास्ते पर गाड़ी रोक कुछ दूर पैदल चला जाता है। गड्ढे, काँटे-झाड़ी होकर बढ़ जाता है। आगे-पीछे गाँव के लोग, कर्मचारी। टप-टप पसीना चू रहा है, धूप की तेज़ी से कान झाँय-झाँय कर रहे हैं। सिगरेट फूँक, फिर आकर गाड़ी में बैठता है। कितने नोट ले रहा है अपनी नोट बुक में, कितने तथ्य संग्रह कर रहा है, कितने उपदेश दे रहा है, चारों ओर की योजना में ये ही उसके काम हैं। इतने बड़े देश में, उसकी तरह छोटे-बड़े कितने ही काम करनेवाले हैं, जो उसमें लगे हुए हैं।

पर वह—मन के तल में—शीतलपुर।

अकेले शीतलपुर में ही नहीं और भी जगह-जगह पर। सब जगह लोग सिर नीचा नहीं करते, कहीं तर्क करते हैं, कहीं कड़ी-कड़ी बातें कहते हैं।

वह जो पीछे रह गया है बड़ा गाँव, उसका नाम है श्रीवन्तपुर। ढेरों नारियल के पेड़ हैं, कुछेक पक्के मकान, कुछ पक्के घरों की छतों पर लोहे की चादरें। हृष्ट-पुष्ट पुरखेवाले दस-पाँच लोगों ने मिलकर अच्छी-खासी आलोचना से भरी दो-चार बातें भी सुना डाली थीं। कहा था—"तुम्हारी इच्छा हुई तुमने रुपयों की बरसात कर दी, घर खड़े करते हो, पम्प लाकर रख देते हो, उलटे हमसे कहते हो कि अपव्यवहार हुआ, आगे कभी आकर पूछा भी था कि हमारी क्या ज़रूरतें हैं? हमें क्या चाहिए?

"हैं रे, हमारे तो पीने को दो बूँद पानी नहीं, हर साल हैज़ा खींच लेता है, उसके लिए कोई बन्दोबस्त नहीं, हमारे तो आस-पास कहीं कोई डागदर भी नहीं, दवाएँ तो कितनी दूर की चीज हैं, इधर जच्चा को खलास करने के लिए कोई दाई भी नहीं, जिसके पास पैसा है वो पाँच कोस जाकर बीस रुपल्ली में आबिदी की माँ पठानिन को लायेगा, और नहीं तो फिर रामभरोसे। हमारी जमीन में जो बालूचर है कि उसे उठाने को किसी की कमर में दम ही नहीं, उस बारे में कोई बात ही नहीं। हमारे गाँव में तो बारह आने लोगों के घर एक बेला चूल्हा ही नहीं जलता—वे कहाँ से सोचेंगे ये तुम्हारी जापानी खेती की बात।"

रास्ते के किनारे ये समवाय भण्डार-घर है। याद आ रही है उस दिन की बात। बहुत आशा लिये आये थे ऊपरवाले वे लोग, हालाँकि पूरी उड़िया भाषा वे नहीं जानते,

पर बहुत उत्साह में भर गया था उनका मन, अतः उफनते उच्छ्वास में भरे होने की तरह वे टूटी-फूटी भाषा में कहते गये, सोचा हो कि शायद यही इस राज्य की भाषा है—

"आप लोक्—देखे—ये जो हामार भण्डार आछे—इसमें—हामार बीज रोबे—आप लोक् लेवे लौटावे लेबे-लौटावे—सो बहुत भालो होबे—अच्छा ! आच्छा ! आच्छ ! हमार देस में नया भालो काम करबे तो पालु यानी दूध बोहिबे राज्य में—सम्झा—आच्छा ! आच्छा !"—

लोग खूब हँसे । लोग उनके भाषण से बहुत अनुप्राणित हुए हैं—यह सोचकर और भी उत्साह में वे कहते चले गये । खुद हँसे, उत्साहित हुए, सोचा कि उन्होंने सुन्दर कच्ची उड़िया भाषा में उस गाँव के लोगों को रास्य-भण्डार की उपकारिता से अनुप्राणित किया है ।

खाली पड़ा है वह घर, धान के क़रज में कहीं कोई गड़बड़ी हो गयी, इन्तवायरी पूरी हुई नहीं ।

कितनी जगह कितनी दलबन्दी, गाँव का कलह, आपत्ति करने के लिए दल के दल लोग हैं, वैसे आपत्ति के विषय भी थोड़े-से ही हैं—विकास-केन्द्र हमारे गाँव में न होकर उनके गाँव में क्यों हुआ ? फलाँ गाँव के साथ हम नहीं चलेंगे । हमें अलग कर दो । अमुक आदमी का नेतृत्व हमें स्वीकार नहीं है । फलाँ आदमी का हमारे गाँव से तबादला कर दो—अमुक आदमी पैसा खा गया—

ऐसे ही चुने-चुनाये कुछ अभियोग हैं । वे जो उत्साह में भरे आये थे, भाषण दिया था, शायद वे नहीं जानते कि इन गाँवों में पीढ़ी दर पीढ़ी इतने कलह हैं, फिर और नये पैदा हो रहे हैं । शायद वे नहीं जानते कि ये लोग क्या काम पहले करते हैं और क्या काम बाद में, किस तरीके से 'ओ' करते हैं, कैसे मुँह मरोड़ते हैं ।

परन्तु उनमें सदिच्छा है, उत्साह है, और उनके जितने शुभानुध्यायी लोगों का—

फिर भी इस माटी में विपुल परिवर्तन हुआ नहीं ।

इस राज्य की उन्नति के लिए देश के विभिन्न प्रदेशों से इतने लोग आकर व्यापारिक स्थानों में पड़े हैं, व्यवसायी, कण्ट्राक्टर, कर्मचारी, कुली, मजूर । बड़े-बड़े कारखाने शहरों में गढ़े जा रहे हैं । कहीं पहाड़ उखाड़कर लोहा-पत्थर निकाला जा रहा है, कहीं पत्थर पिघला लोहा निकालकर चीजें गढ़ी जा रही हैं, कहीं नदी की धार को ऊँचे बाँध पर से नीचे की ओर ढलकाकर बिजली निकाली जा रही है, कहीं वनों को काटकर उड़ा रहे हैं और शरणार्थियों के लिए गाँव और शहर गढ़ रहे हैं, कितनी जगह कहाँ-कहाँ व्यावसायिक प्रतिष्ठान ठूँसा-ठूँसी कर खड़े किये जा रहे हैं । चल रही है माल की तैयारी, माल की ढोआई-ढुलाई, परन्तु इससे इन गाँवों के लोगों में से जाकर कुछेक कुली-मजूरे बनने के सिवा और कोई लाभ नहीं पा सके हैं या उनकी दशा में दिखने लायक कोई प्रभाव पड़ा नहीं, इस पुरानी माटी पर ।

शायद कभी होगा, बदलेगा । यह देश भी बन जायेगा मशीन और भीड़ का

देश। होगा ही।

दिन-भर खूब घूमा हूँ। साँझ हो आयी। अचानक छन् से लगा। सिगरेट फेंककर दूर देखा तो उसे लगा जैसे वह इस देश का सदा से अनबदला रूप देख रहा है। वही आकाश, वही खेत-बाड़ी, वे ही गाँव, बगीचे, रास्ता। वे ही आदमी—उनका धूल से भरा कपड़ा पहनना, धूल-कोहरे में कमी हुई चमड़ी।

वो वहाँ निचले खेत के बीच कहीं खड़ा है। कछुए की पीठ की तरह, छोटे-से कन्धे की तरह खड़ा है सैकड़ों बरस पुराना पत्थर का पुल। नीचे सात खम्भे। उसके दोनों सिरों पर कभी सड़क थी, हाथी-घोड़े रावतों का ठाठ आराम से पार कर जाये इसके लिए कभी पुराने ज़माने में वह तैयार हुआ था, वह भी थी एक योजना। और यह उधर ज़मीन के नीचे में जो गढ़ का दरवाज़ा निकला हुआ है, उसके उधर सैनिकों के रहने के लिए मकान थे, वे भी उस ज़माने की बेसिक योजना के अंग थे। पर टिक न सके।

फिर ये इधर जो ब्रह्मण शासन (गाँव)—सब नारियल और सुपारी की क़तारों से भरे, पास तक चले आये हैं—कहीं बकुल की छाया तले, अशोक पेड़ की छाया तले *'महाजन सभा' की चाँदनी पर पासों की बाजी बिछी है, लोग घेरे हैं—वे सारे गाँव भी* किसी योजना के ही फल थे। खाने-पीने की चिन्ता से मुक्त होकर पण्डित लोग निश्चिन्त बैठकर ज्ञान की चर्चा करेंगे, गवेषणा करेंगे। दौड़-भाग के लिए अन्यान्य जाति के लोग नियुक्त हैं, यहाँ तक कि नींद से जगाने के लिए भी रखे गये हैं 'हेण्डियाँ'। वे गाँव के रास्ते पर हेरी दे-देकर नींद से उठा देंगे। पीछे लम्बी फैली है पोखरी, जो कि गढ़ की खाई के रूप में भी काम आयेगी, फिर घर में आग लगे तो हाथ के पास ही पानी। सामने खुला मैदान। कहीं भागवत टुंगी (छोटा-सा घर) होगा, कहीं गाँव में सामलाती (सहकारी) घर होगा, किधर किस ओर के लोग घर बनाकर रहेंगे, सब पहले से नपा-तुला। सुना जाता है कि पहले दुर्गापुर शासन (ब्राह्मण गाँव) में औरतें मैदान में बैठते समय भी न्याय-चर्चा करती थीं, न्याय उनके गाँव की खास विद्या बन गयी थी।

इसके लिए भी एक दिन योजना रही थी। वह भी दो दिन की हो गयी। पर आम आदमी की शान्तिकामी जीवन-योजना—वह मानो इस माटी का निजस्व हो।

जाती हुई धूप तिरछी होकर पड़ रही है, पेड़ की फुनगियों के ऊपर सच जैसे धकधकाती आग जल रही है। उसके नीचे जाने किस ज़माने का पुराना देवल है—छोटा, परत पर परत, ऊपर सींग की तरह आठ छोटी-छोटी चूड़ाएँ निकली हैं, बीच में बड़ी। और फिर त्रिशूल। सूक्ष्म कलाकारिता नहीं, वहाँ खासे मूर्तियाँ नहीं, सिंह-मूर्ति नहीं, नटराज-मूर्ति नहीं, केवल सीधी-सादी ऐसे ही—मानो आजकल के किसी मिस्त्री ने ईंट-चूने से गढ़ा हो। देव की थापना करने को हृदय का चाव उच्छरित हो रहा होगा, तब साधारण चासी आदमी ने अपनी शक्ति के अनुसार, पता नहीं कितने बरस पहले या कितने सौ साल बरस पहले इस सोये हुए देहात में पेड़ों की ओट में यह छुपा-छुपा-सा देवल गढ़ा था।

कभी किसी की प्रशंसा की कामना नही की। महज अपनी खुशी से गढा होगा यह बालुका देवल। पास आता जा रहा है—विपिन मुग्ध भाव से देख रहा है, वह काली फफूँद पुता बौना देवल उसकी आँखों के आगे अचानक बहुत सुन्दर दिखने लगा। वह मानो उसके साधारण रूप के खोल को न देख उसके स्वरूप को देख रहा है—चर्म नेत्रों से नही, अपने तीसरे नेत्र से।

आदमी के रूप की तरह ही वह रूप उसे शाश्वत, स्नेह-शीतल दिखा।

धूप कितनी ढल चुकी, सूरज खिसकता-खिसकता आकर क्षितिज को छूने लगा, रंगो में झिलमलाता। सड़क के किनारे देवल के पास उसने गाड़ी रोकी। उतर पड़ा। दक्खिनी हवा से गाडी के पीछे से उड़ती लाल धूल की छोटी-सी बदली उसकी ओर घिर आयी। आगे देवल के सामने एक गहरी तलाई, काफी नीचे जाकर थोड़ा-सा नीला पानी, ताड की लकडी की सीढियाँ नीचे तक उतरी हुई है।

सभी कर्मचारी लोग उतर पड़े थे। फिर विपिन ने सिगरेट सुलगायी। सिर झुकाये वह टहलता-टहलता एक नये सूत्र का प्रचार करने जैसे ढंग में कहने लगा, "लगता है, असली विकास-योजना तो होनी चाहिए आदमी की नीति की उन्नति के लिए, ताकि उसमें मानवता बढे, वह स्वत: सत् होगा।"

"सचमुच—बात ठीक है।" सबने कहा।

पात्र तो शुद्ध ही नही—रसोई किसमें बनेगी ?

मन तो शुद्ध नही, कल्याणकारी भावना आयेगी कहाँ से ? अच्छा काम करने के लिए हाथों को निर्देश कौन देगा ?

अस्त होते सूरज की लाल रोशनी मे उच्छ्वसित धर्मप्रचारक की भाँति हुलस-हुलसकर विपिन कहने लगा, "कानो के बिना सोने का क्या प्रयोजन ? मन ही न हो तो धन का क्या हो ? इतना जीतकर, इतना पैदा कर, सोने में लंका गढकर भी, रावण के काम क्या चीज आयी ? विज्ञान बढा, आदमी आकाश में उडा, चन्द्रलोक मे झण्डा गाडने के लिए देश-देश के बीच होड लगी हुई है। लोहा, रबर, प्लास्टिक, बिजली, तार, बेतार, कितनी बातें उसने कब्जे में कर ली है, क्या ये सब यथार्थ मे मनुष्य की सुख-शान्ति बढा सके हैं या केवल माध्यम बनकर मनुष्य के जी का जंजाल ही बढाया है ? कहाँ है मनुष्य की स्वाधीनता ? दिनों-दिन उसकी मन मुताबिक चलने-सोचने की बात भी सँकरी होती जा रही है। व्यापती जा रही है आशका, आतंक, अशान्ति, ईर्ष्या और हिंसा का विष, कितने रास्ते, कितने कुएँ-पोखरी, मकान-बाडी, कल-कारखाने गढने पर यह सब दूर होगा ?"

विराट् जटा-जूट लादे, विराट् खुले ताड का छाता लिये कुम्भीपट की लँगोटी लगाये चला जा रहा है वह नन्हा-सा बूढा[1]। कहाँ आया, कहाँ गया, बस मुँह से 'अलेख', 'अलेख' निकल रहा है। वही से उड आये अनेक कबूतर, आकाश में चक्कर मार घेरा

१. अलेख सम्प्रदाय का संन्यासी।

काटते-काटते किधर उड़ चले गये। एक-एक कर नजर में आ रहे हैं बगीचे के पेड़। विपिन ने उधर ऊपर को ओर ताका। जो उसने सोचा, जो उसके मुँह से निकला, उससे जैसे वह स्वयं उन्नत हो गया है। लगा कि आकाश कितना बड़ा है! कितना आश्वासन से भरा हुआ। उसने सूरज को डूबते देखा। आग की रेखा की तरह, आग की बूँद की तरह, बाद में सब शेष। अननुभूत सहानुभूति में उसकी छाती पर लहरें फैल गयी। उसने दीर्घ श्वास छोड़ा—अनुभव हुआ कि वह इस सृष्टि का मंगल चाहता है।

बाद में एक कर्मचारी ने याद करा दिया कि एक काम और बाकी है। ऊपर से कोई अवलोकन करने आनेवाले हैं। वे देखेंगे कुछ खुदी हुई पोखरियाँ, जहाँ मछलियाँ पैदा की जा रही है, खूब बड़ी-बड़ी मछलियाँ होंगी। वैसी हैं कहाँ आस-पास में?

"सापगाड़िया गाँव में पुराना नाला भी देखने जाना पड़ेगा," विपिन ने कहा, "पुराने जमाने की उसमें अब भी मछलियाँ होंगी, उसमें मछलियाँ बढ़ती हैं, ऐसे क्या होगी नहीं? गाँव के लोगों के हाथ जाती नहीं—यह सच है, कभी तो जायेंगी। मछली होंगी तो उन्हें ही लेकर दिखा देंगे, कुछ बुरा नहीं होगा—"

"फिर मत्तगजपुर केन्द्र में खाद-खली और प्रसिद्ध बीज 'के-टू' पहुँचे या नहीं—वह भी जाँच करना था...."

"जरूर देखेंगे," विपिन ने कहा, "लौटते-लौटते चाहे जितनी रात हो जाये, देखते हुए ही चलेंगे—"

फिर जीप घूँ-घूँ-घूँ कर चल पड़ी। उसका मन संकुचित हो गया है। चेतना के आगे दोनों ओर के दृश्य हिल रहे हैं—एक ओर उसके गाँव में स्त्री-परिवार, आधा शहर में उसका सूना घर। उसके सामने मैदान, उस ओर वह बस्ती है। हिलते-डुलते मन स्थिर हुआ—मोटर की रोशनी के उस ओर के रास्ते पर—लाल रास्ता, बीच-बीच में रास्ते से उछलकर फाँय से उड़ जाती कोई छोटी-सी चिड़िया। आगे और भी दिख रहा है, और भी—और भी। दहकती अंगारों-सी उसकी छोटी-छोटी दो आँखें।

जीप गीयर बदल उठान पर चढ़ रही है। गूँ-गूँ गूँ-गूँ गरजती-चीखती अँधेरा चीरती-चीरती जा रही है—ऊपर और भी आगे। सुनसान फैला है दोनों ओर, चढ़ती जा रही है एक क्षीण उत्तेजना।

उस आवरण की तरह दिन-भर की जलन, क्लान्ति और पसीना और धूल की परतें।

विपिन ने फिर सिगरेट जलायी।

पाटेली गाँव में लोहार किर्णेई ओझा बाहर बरामदे पर पड़े-पड़े बुखार से काँप रहा था। रह-रहकर वह विषैली दृष्टि से गली की ओर देखता। चेहरे को कँपाते हुए गुस्से से

पड़े-पड़े उसने महसूस किया कि वह तो अकेला पड़ा है पर गांव की गली में औरतों का चलना-फिरना बढ गया है....। अभी-अभी झमर-झमर करती हुई केला की पत्नी इसी रास्ते से गयी है। लाज-मरजादा को उतार फेंककर आते-जाते लोगों के बीच चली गयी वह....घर के अन्दर रहने-बसनेवाली बहू! सिर्फ यही एक बात नहीं, उसको इस तरह की चहलकदमी लगी ही रहती है, हाल ही में उसे डायन लगी—उसे डर है या फिकर? घर के कोने से बाहर उस बीच सड़क पर बहू-बेटियां चलने लगीं तो यह सास्तर रहेगा और?

अब गयी रघुआ की मां....उम्र है उसकी। उसकी बात क्या कहें—पैर पसार-कर बाल सँवारती होगी और उसके पास बैठे चार-पाँच हिजड़ानुमा लड़के हैं....हैं....फैं....फें करते होंगे। उसे कुछ कहो तो काटने दौड़ेंगे....।

और वह सिन्धु चौधरी की अनब्याही बेटी....वह गली-गली घूमती है....साँड़ की तरह इधर-उधर पिलती जाती है....उसके लिए न कोई बड़े हैं न वह किसी को मानती है....उसका न बाड़ा है न बन्धन....वह घूमती है और खूब घूमती है। उसे क्या पता कि उसके भाग पर गिद्ध बैठा है....और उधर उसका बाप....पाठशाला खोल चुपचाप पढाने बैठ गया और उधर पानी नाक तक चढ आया है....

और उसी के आँचल से बँधी हुई-सी, उसी के पीछे-पीछे खिंचती हुई-सी पता नहीं कितनी बहू-बेटियाँ कहाँ से आकर किधर जा रही हैं....उन्हें पता है....सब गया....सब मिट्टी में मिलने को हुए....

ओ हो हो?....आया,....चढ़ आया बुखार....अरी ओ मल्ली, अरी ओ सेरेन्ती ....अरी ओ बहू....कोई भी पास नहीं आ रही!

स्वर ही नहीं निकलता था। सिर्फ भालू की तरह कराहना....

फिर डांडे ने मिट्टी को महसूस किया....आदमी नहीं वह नाव है, धीरे-धीरे चल रहा है....वह फिर आदमी बन गया।....

गया....गाँव की कमर ही टूट गयी। थोड़ा बहुत कहने को अर्पतिया, मागुणिआ, मुदुआ वगैरह थे, पर पता नहीं उनपर कैसा जादू चला कि वे चेलागिरी करने फूलशरा चले गये....जैसे वहाँ बहुत बड़ा धर्म का काम हो रहा है—और वे निहाल कर देंगे....युग पलट देंगे....। नया घर-बार होगा। आम के पेड़ में खम्म-आलू लगेंगे, या क्या? बहुत परोपकारी निकल रहे हैं। कहते हैं, दूसरों को अपनायेंगे, भोजन की थाली में बाँट देंगे, मुल्क को मलीके से करेंगे—अपने पीछे चाहे इतने ही....कुँवारे छोकरे, इसी गाँव में कितने तमाशे खड़े कर दिये! वही बना है नेता—यह तो जमाना ही वैसा है! कुछ लोगों को बहका दो, सरदारी करने में सुविधा.. .सब याद है, कण्टरोल से अबतक की सारी बातें— लुहारशाल चलाने के लिए, लोहे के टुकड़े के लिए लोगों के आगे कितने निहोरे नहीं किये—'रजसंक्रान्ति', कुँआर पूनम, . या बेटी के घर भेजने के लिए एक साड़ी के लिए दौड़ते-दौड़ते जूतों के तले घिस जाते। धान-चावल की मँहगाई के

साथ-साथ कितनी असुविधाएँ, और आखिर में इन्द्र ने भी कृपा नहीं की, छोड़ गये। इतनी बड़ी-बड़ी बातें हाँक गये—क्या किया? और ये अब उखाड़ डालेंगे, कमर कसी है—झूठी बातें कहकर तुम किणेई ओझा को ठगने चले हो? पता है किणेई ओझा लोहा पिघलाता है। *विश्वकर्मा के वंश में जन्मा है वह। उसकी आँखों में धूल झोंकोगे? तुम* सब एक राह चलोगे तो वह अकेला धरती को जकड़े पड़ा रहेगा....कल-युग आया है सब एकाकार हो जायेगा, इसलिए तुम्हारा सिर फिरने लगा है, अनहोनी हो रही है—तुम्हारा कोई चारा नहीं....ओ....हो-हो....आया....आया....फिर आया बुखार.... मारूँगा....काटूँगा....छिन-भिन कर दूँगा...

अरे कौन है? काले...डाग की तरह लम्बा....जूट जैसे बाल....यमदेवता...आओ ...आओ यमदेवता, आओ! लोगे तो...साथ-साथ चलेंगे...एक बात पूछना चाहता हूँ ...*सिन्धु चौधरी की कुँआरी लड़की किधर-किधर इतनी भटकती रहती है! इतना भर* बता दो, उसके बाद तुम्हारे साथ सउरी पधान के पास चला आऊँगा...वही गाँव में बूढ़ा था...उस जमाने का खूँटा...उसे सब पता था!

अरे कौन है? लोका नाहक खड़े-खड़े क्या कर रहा है यहाँ? नहीं-नहीं; किणेई ओझा ने सिमटने की कोशिश की। लोका नाहक उसका सिर पोंछ रहा था। उसने आँखें मूँद ली। लोका नाहक ने कहा, "आँ करो—लो पीओ इसे। गाँव में जिधर देखो, यही बीमारी है...सब पड़े हैं। छूट जायेगा!" फिर जोर से बोला, "फिर किधर चली गयी बहू! यह इधर बुखार से कराह रहा है, बदन तवे की तरह तप रहा है, उलटी कर लथपथ हो पड़ा है, और कोई भी इसके पास नहीं।"

किणेई ओझा ने आँखें उठाकर देखा। उसके सिर के अन्दर मानो कुछ पिघल-सा गया...पानी-पानी हो गया। उसने काँपते हाथों से लोका नाहक के हाथ को पकड़ा—आँखो से आँसू बह रहे थे।

"*धीरज धर, धीरज धर!*" *लोका नाहक कहता जा रहा था,* "बुखार ही तो है कि और कुछ! मलेरिया, दवाई लेने से छूट जायेगा। ऐसे क्यों हो रहे हो बच्चों की तरह?"

किणेई ओझा फूट-फूट कर रो पड़ा—फिर चुप हो गया। घर के अन्दर से आकर तबतक सब उसे घेरकर खड़े हो गये थे।

"*इसे अन्दर ले जाओ...यह लो कुनैन की गोली, एक शाम को...दूसरी रात को सोते समय। नींबू का पानी बीच-बीच में देना! खाने को सिर्फ दूध और लाई।* मैं फिर आऊँगा।"

बच्चे मेरे हैं। बहू के कन्धे के सहारे वह कूँथते हुए एक-एक डग सँभलकर चल रहा है....बहू बहुत ही नरमी से कह रही है—"....इन बच्चो के लिए मैं रसोई में थी। ये तो साँस तक नहीं लेने देते। अच्छा कमाने गये वे! इधर घर कैसे चले? कितनी तकलीफ भुगत रहे हैं...मैं करूँ भी क्या!"

किसने किसका अनादर किया ? वह सोच रहा था। सब तो है। संसार में प्यार की कमी नहीं। कभी लोका नाहक के साथ उसकी पटती नहीं थी। नहीं-नहीं, अब वह तो मित्र है।

इतने कष्ट के बावजूद उसे हल्कापन-सा लगा।

बुखार छूट जायेगा। बेटा आता होगा। गाँव में कितने स्नेही लोग हैं। यह जीवन सुन्दर है!

हगुरा रस का गिलास बढ़ाते हुए बोला, "लो दादा, पी लो।" बहू पैर दबा रही है। और सब बच्चे अपनी छोटी-छोटी हथेलियों से सहला रहे हैं। बूढ़े ने आँखें बन्द कीं...

सचमुच गाँव-भर में बीमारी फैल गयी है। कड़ी धूप के बाद वर्षा हुई है। फिर बन्द। किधर-किधर से आकर इस भीगे मौसम के कारण बीमारियों ने सिर उठाया है। बुखार, खाँसी, अधिकतर पेचिश आदि रोग।

छोटे पधान मोहल्ले के उस ओर तीन-तीन खाली डीहों के बाद के खबरों की झोपड़ी...सिखरा की माँ की—वही ताकतवर बूढ़ी जिसे लोग दिल्लगी से हनुमन्त बूढ़ी कहते हैं। धान कूटती है। दो दिन से बार-बार कै और दस्त से बूढ़ी की हालत बिगड़ गयी है....उभरे हुए गाल, मोटी-मोटी गठीली बाँहें, हाथ-पैर सब सिमट गये हैं। आँखें धँस गयी हैं। बूढ़ी पड़ी है....कोने में मैले कपड़ों का एक ढेर है। छवि ने झुककर उसके बिछौने से एक मैला कपड़ा खींच लिया और उसी ढेर पर रख दिया। रघुआ की माँ सब कपड़े उठाकर बाहर चली गयी। द्वार पर केला की पत्नी मिली।

"लायी क्या ?" छवि ने पूछा।

केला की पत्नी पकड़ी हुई एक डिबिया दिखायी "किणेई ओझा लोहार को तेज बुखार है। नाहक वहीं है। वहाँ से निपटकर आयेंगे। यह गोली एक बार एक...दिन-भर में तीन गोलियाँ।"

छवि मटकी से गिलटी के बरतन में पानी निकालकर बुढ़िया के सामने बैठ गयी। बोली "लो यह दवाई खा लो!"

सिखरा की माँ ने उसकी ओर सकपकाते हुए देखा।

"ले भी ले...आँ कर!"

दवाई सिखरा की माँ को कड़वी लगी। केला की पत्नी ने उसे पान निकालकर दिया। सिखरा की माँ कमजोर धीमी आवाज में बुदबुदायी—"युग-युग जी रे बेटी! पता नहीं मेरा इतना उपकार क्यों करती हो!...मैं कुलछनी..."

"...बात ज्यादा न करो....आराम करो, कमजोर हो।"

"....नहीं-नहीं, तुम जाओ। जो कर पायेगी रघुआ की माँ करेगी। बाबू के घर से आयेंगे क्या बहू-बेटी मेरे लिए गू-मूत करने. ..क्या-क्या नहीं दिखाया ठाकुर ने!... यह दो कौड़ी की जान—क्यों चली नहीं जाती! अब क्या उमर बची है—जीते जी

कैसे तुम्हारा देना चुकाऊँगी !"

"ठीक है, ठीक है, तुम आराम करो, डरो नहीं, फिर मत घबराओ।" केला की पत्नी ने कहा, "अरी ओ, किसका देना चुकायेगी ?"

छवि बोली, "क्यों उलटी-सीधी सोच रही हैं ? जिन्दगी-भर दूसरों के धान कूटकर सूने ही तो गाँव-भर को अबतक भात खिलाया है !"

सिसरा की माँ ने गहरी साँस ली। बोली, "वह धान कूटना भी अब खतम समझो। मझियारा के मिश्रजी चावल कूटने की मशीन बिठा रहे हैं।"

छवि ने कहा, "अरी, वह उनके गाँव में है, हमें उससे क्या लेना-देना। कितनी दूर है गाँव उनका। तेरी रोजी कौन छीनेगा ?"

सिसरा की माँ गरदन हिला-हिलाकर कहने लगी, "लेंगे लेंगे,....आज उनके गाँव में हुआ है, तो कल अपने यहाँ भी हो जायेगा। दुखियाओं के दाने छीन लेंगे। टिट्टी मारकर मैना पालेंगे। करें। युग तो वैसा ही है। उनका भला हो....वे बड़े आदमी बनें....।" वह और कुछ कहना चाह रही थी, पर नहीं कह सकी। उसके होंठ हिल रहे थे पर बात नहीं निकल रही थी।

"सो जा, सो जा।" केला की पत्नी ने उसके सिर पर थपकी देते हुए कहा, "इधर-उधर की मत सोच। गाँव में इतने सारे लोग हैं, कौन तेरा दाना छीनेगा।"

सिसरा की माँ ने फिर से मुँह बनाया। चेहरा सिकुड़ गया ...और एक बार फिर दस्त हो गया। छवि उसके पीछे आ गयीं।

सहमती आँखों में उसने घर के अन्दर के दृश्यों को एक बार समेट लिया। खाली झोंपड़ी। कूड़ा-करकट। टूटी-फूटी। नीचे फटे कपड़े बिछाकर बुढ़ी सो गयी है। कितनी मोटी-तगड़ी थी.. सूख गयी है। पता नहीं क्या होगा !

हठात् बूढ़ी बोली, "कहीं से थोड़ा-सा अचार नहीं ला देते। खाने को मन करता है।"

केला की पत्नी ने कहा, "सो जा, मैं ला दूँगी बाद में।"

सेवा और त्याग। दोनों बड़े-बड़े शब्द हैं। सुनते ही उसे लगता है मानो ये शब्द उसपर टूट पड़े हों। फिर भी लोग कहते हैं कि उसके पास यही दो गुण हैं। पहले पता नहीं कैसे वह घर से निकल पड़ी थी। कहीं भी कोई बीमार हो और उसे सेवा की जरूरत हो, वह अपने-आप निकल पड़ती है और पहुँच जाती है। गाँव-भर में जैसे सभी उसके कुटुम्ब के हैं। धोबी, नाई तक के घरों में बैठकर उसने बीमार बच्चों के लिए सागू बनाया है। डोमों की बस्ती में बैठ उसने लड़कियों के बाल सँवारे हैं, जूँ मारी हैं।

सिसरा की माँ को साफ रख, उसकी परिचर्या कर छवि मन में उल्लास सा अनुभव कर रही थी। माँ को फुसलाकर उसके लिए थोड़ा फटा कपड़ा एवं एक साबुत-सी चादर लेकर दे आयी, उसका उल्लास कई गुना बढ़ गया। बाद में फिर जाने कितनी ही बातें चलीं। ऐसे काम में पिता का सदा समर्थन और उत्साह रहा है, इसलिए वह

निश्चिन्त मन से ऐसे काम कर लेती है। गुरु की माँ सहानुभूति में पिघल जाती, परन्तु बाहर के आँगन से आगे रास्ते पर क़दम वह नही रखती। छवि कही निकलती तो आश्चर्य में भरकर कहती, "जाती हो। सच, फिर जाती हो!" माँ कभी-कभी आपत्ति करती। कहती, "यह पागल की तरह कहाँ दौड़-धूप कर रही हो? दुनिया-भर का उपकार बस तुझे ही करना है! यह कही लिखा है? बच्ची ठहरी, इसके गये बिना लोगों का काम नही चलता, सो लगा-सिखाकर इसे काम में खटा रहे है।" पर उसका बिगड़ना केवल मुँह-भर ही होता, वह कभी रोकती नही। वरन् उलटे गुरु की माँ से कहा करती, "बेटा भी यही, बेटी भी यही! इसे क्या रोकूँ, बता? करे, क्या-कुछ करती है, अपना तो कोई अनिष्ट करती नही।"

कहाँ-कहाँ से उस गाँव-गली में भी बाहर की खबर आकर भेद जाती है....कि दुनिया की हवा स्त्री-जाति के मुँह पर से घूँघट कब किस जमाने से खींच ले गयी! औरतें भी मरदों के समान काम करने लगी, बाहर निकल पड़ी है। गाँव में चली है कितनी ही बार यह बात। गुरु की माँ के कोई दूर के रिश्ते में मौसी के बेटे की दो लड़कियाँ है—सुना और हीरा। उस जमाने में नयी लगती थी यह बात—कि उन्होंने ब्याह नहीं किया। डॉक्टरी की पढ़ाई की, उमर बढ़कर कितनी हो गयी, वे बिना-ब्याही ही रही है। वे चर्चा का विषय बन गयी थी। सुना गया कि वे डागदरानी बनी, बाप ने बिलायत भेजा। चारों ओर बात फैल गयी कि पूरा कलजुग आ गया, वरना कही ऐसा भी होता है कि चिर-आचरित ढंग से पराये घर न जाकर दोनों बेटी मरदों की तरह स्वाधीन वृत्ति कर कुँवारी रह जायें!

पर कुछ ही बरस जाते न जाते और भी कई लड़कियाँ वैसी ही निकली, पढ़ाई करनेवाली बेटियाँ—कोई डॉक्टर, कोई सरकारी चाकरी में, कोई नारी कार्य-कर्त्री। किसी ने विवाह किया, कोई अविवाहित रही। इस गाँव में जो बहू बनकर आयी या यहाँ से और गाँवों में बहू बनकर गयी, नाते-गोते में उन्ही के बन्धु-बान्धवों में भी कई ऐसी थी। बात फैलती गयी। सिर्फ इतने पर ही नहीं रुकी। कभी किसी की अपकीर्ति की कहानी भी आकर पहुँच जाती। और कभी खबर आती कि किसी ने अपनी इच्छा से वर चुनकर ब्याह किया, अमुक का ब्याह वेदी तले नही हुआ, बस कचहरी के खाते में दस्तखत देते ही हो गया, किसी ने अपनी जात से बाहर ब्याह किया—आदि कई बातें। शुरू-शुरू में कितनी नाक-भौं सिकोड़ी गयी, फिर वे भी देह को सहनी पड़ गयी। गाँव के लोग शहरियों की बातो की जिस कुतूहल से आलोचना करते अब वह ढंग भी रहा नही उनकी आलोचना का। गाँव-शहर घुल-मिल गया—परिवर्तन के इतिहास में, गाँव ही नही, अवस्था के फेर में जहाँ जो भी घट जाये, लोग मान लेने को अभ्यस्त हो गये। मान लिया गया कि अपनी-अपनी रुचि और बल-ज़ोर होता है। जो बहुत ही पुरातनपन्थी थे वे नये जुग पर अभिसम्पात कर रहे थे। उन्होंने भी देखा कि यह अभिसम्पात कोई खास असर नही करता, ब्रह्मशाप का भी तेज नहीं, आलोचना सुनकर

कोई उद्‌बुद्ध नहीं होता, वरन् कोने में खड़ी नयी आयी बहू भी दो बातें मुँह खोलकर कहने लग गयी।

छवि की माँ भी खबर रखती इन सारी बातों की।

फिर भी अनसमझ मन नहीं मानता। लगता, बाहर औरों के लिए जो सच है, क्या उसको धौंस भी लग गयी उनके अपने घर में। बाहर दुनिया की घटनाओं में वे जिसे सम्भाव्य मान लेती, अपने बारे में वे ही बातें जाने क्यों अड़चन-सी लगती। अतः छाती छन् से रह जाती। वैसे छवि उतना नहीं सोचती। जैसे घूमा करती थी, वैसे ही घूमती। बस्ती की बहू-बेटियाँ आकर बुला ले जाती।

छवि की माँ गुरु की माँ की ओर देखती।

देखने को सिन्धु चौधरी न होते। होने पर भी उनसे प्रतिध्वनि नहीं मिलती। कभी-कभी गुरु की माँ गुरु को भेजती—"जा देख आना तो तेरी जीजी कहाँ गयी।" एक मैली-सी धोती डालकर गुरु निकल पड़ता, गुरु की माँ उसकी पटली को ऊपर खींच देती और पँखे की तरह सामने झुला देती। गुरु दौड़ जाता।

यही क्या कम है, इतने लोगों के सुख में सुखी—दुख में दुखी होकर, इतनी जगह घूम लेते फिरना? छवि सोचती। पसीना जब चिपचिपाता हुआ बहने लगता, धूप की तेजी में लू थपेड़े मारती। वह औरों के साथ जी खोलकर हँसती, हवा का स्वाद पहचानती। और मन ही मन स्मरण कर लेती उसी किसी छिपे हुए 'अन्य' को जो उसकी स्मृति और कल्पना से पैदा होकर सचमुच जैसे उसके खून में घुल गया है।

•

बाहर चेहरे पर वही नित्य दिन का परदा है। उसपर वही जाने-पहचाने चिह्न हैं। माँ-बाप की लाडली बेटी, जो अब मोहल्ले-भर की लाडली बन गयी है, आँखों का तारा है। उसके अन्दर उसका एक और जीवन है। छवि प्रतीक्षा कर रही है।

होली गयी, उसके बाद गरमियों के दिन. जल-जलकर वे भी मर गये। आया पहला मेघ, बाद में फिर कई बार, रह-रहकर। नये बीज अंकुराये। नयी दूब उगी, छवि का कुछ नहीं हुआ।

लगता है, गाँव थोड़ा ठण्डा पड़ गया है। जो दीवार खड़ी हो गयी थी, वह हट गयी है। गेन्दों की माँ, बन की माँ, अगणिराय, गदेई लेंका आदि गाँव में न होने के बराबर हैं। उन लोगों की जगह गाँव-भर में शरीफ घरानों की बहू-बेटी घूम-फिर रही हैं, मानो फटे-दिल, टूटे-सम्बन्धों को जोड़ने की कोशिश करती हों।

गुरु की माँ को एक बार बुखार हुआ। चार दिन। पता नहीं किधर-किधर से आकर औरतें घर में जमा हो गयीं। कोई पैर दबाने लगी तो कोई पथ्य बनाने लगी। कोई नहलाने लगी तो कोई उसका मन बहलाने के लिए मीठी-मीठी बातें करने

लगी। उस समय छवि की माँ को भी अनुभव हुआ कि गाँव में कुछ-कुछ अच्छा होने लगा है।

छवि के लिए सम्बन्ध लेकर मणिहंसपुर के रामगुरु आये थे, लम्बी तोंदवाले, गोल-मटोल ठिगने-से, बूढ़े। अभिरवाईं ने अपने बेटे नव के लिए उन्हें भेजा था। रामगुरु बोले, "सिर्फ जातवाली बात को नही उठायेंगे तो ऐसा लड़का दुनिया-भर में नही मिलेगा। नवकिशोर ने इंजीनियरिंग पास किया है। अब और पढ़ने विलायत गया है। देखने में वह जैसा है उसकी बातें भी वैसी है। स्वभाव-आचरण किसी में कमी नही। अभिराम बाबू को तो आप जानते हैं, उनको कौन-सी बात आपसे छिपी है ?"

बाहर बैठक घर के जँगले के उस ओर छवि खड़ी थी। शाम उतरती आ रही थी। सामने गाँव की बस्ती से धुँआ उठकर ऊपर आसमान में एक हो रहा है....धुआँ.... इधर-उधर भँवरें पड रही है। आँख जहाँ तक तैर जाये, धुएँ का कोहरा है जिसमें धीरे-धीरे अँधेरा शामिल होता जा रहा है। घने पेड़ों की छतें एक हो गिर पडती-सी लग रही थी....उसी में उसने अनुभव किया....अपनी उठती-गिरती छाती के नीचे दप्, दप्....दप्....दप्....एक अपनी आतुर स्पन्दन....।

पिताजी गुमसुम बैठ गये। छवि ने सुना, वे कह रहे थे—अभिरवाईंजी से कह दें रामगुरुजी, कि मैं उनके प्रस्ताव का सम्मान करता हूँ। विद्वान्, चरित्रवान् युवक, उसके परिश्रमी पिता, उन्होंने सब अपने हाथों से किया है, कमाया है, कोई चोरी तो नही की।"

छवि ने अनुभव किया, मानो उसका हृदय अचानक सहम गया है। छाती रुँधती गयी....साँस रुकती गयी। लगा जैसे वह उस धुएँ के अँधेरे में खो जायेगी....

फिर उसने सुना, चुप रहने के बाद पिताजी बोले, "पर बात यह है, हमने भी दूसरी जगह लडका देखा है। लड़की पराये घर जायेगी, उसके समाज को बदलने में देर लगेगी... अप्रीति भी हो सकती है। हम सिर्फ़ एक लगाव के लिए इस टूटी डीह को जकड़े बैठे है, संस्कार की माया को तोड़ने के लिए बल चाहिए। उसके लिए अपने को तैयार करने में समय की आवश्यकता है....इस तरह हूँ करके नही। उन्हें कहें प्रतीक्षा करें....योग होगा तो हो जायेगा, कौन कह सकता है ?"

"आप नही कह सकते क्या ?"

मानो एक नये उत्साह से उलछते हुए चौधरी बोले, "कह सकता था, पर मैं लड़की को सर्कस का खिलाड़ी बनाना नही चाहता। मुझमें बड़ी आशा भी नही है, बहादुरी दिखाने की भी इच्छा नही है। आदमी का मन ही तो, एक ओर तरफ बह गया है, मैं देख रहा हूँ, आशा की है....पर जहाँ होना है वही होगा.... आप समझ रहे है ?"

फिर एक लहर आयी थी। छवि ने अनुभव किया, कि वह लहर फिर लौट गयी। फिर उसने सँभलकर अपने आपको देखा, वह समूची है। उत्तेजना में काँप रही है। चूड़ियों की खनखनाहट, आंचल के सरकने की धीमी-सी आवाज उसे सुनाई पड़ी।

और सुनाई पडा गाँव-भर में शाम का स्वर। किसी मुहल्ले में कोई चिल्ला रहा है यहीं, किसी ओर से बछडे के रँभाने की आवाज़, किसी ओर भीड़-भडक्के का स्वर। जिस तरह एक साथ पोखर में पानी छलछला उठता है आदमी के स्वर और डाहुक के बोल। जिस तरह 'कुमार पूर्णमी' पास आते न आते गाँव-भर की कुँआरियो के गीतों की लहर लहरा जाती है। लगा जैसे इस शब्दों के सागर में कभी सिर उठाने पर, कभी निश्चित विश्वास से सो जाने और उसके बाद आँखें खोलने पर अपने को घिरो हुई जानी-पहचानी दुनिया को देखेगी। निर्भर और विश्वास-भरी उसकी वह संस्थिति। वह टूटी नहीं.... वैसे ही है।

अँधेरे में एक-एक कर सब दीये जल उठे। छवि चौकी और सोचने लगी—क्या हो गया है उसे! आज सन्ध्या-दीप भी उसने नहीं जलाया है अभी तक, सब कुछ माँ कर रही है, क्या सोचती होगी वह!

धीमे कदमों से घर लौटते हुए वह सोच रही थी, कौन-सा काम वह कर रही है, क्या है उस काम का मूल्य!

उसके बाद उसने फिर से अपने अन्दर झाँका.. सपनों से भरी-पूरी उसकी जिन्दगी है। बाहर यही सत्य है और अन्दर भी यही है। और उस नये ससार में रोज वह रवि के साथ मिलती है। बातें करती है. .

पिताजी बोले थे—उसका मन किसी दूसरी ओर बह गया है. उन्हें भरोसा है। क्या है वह भरोसा! किसपर?

लाज से डूबी-सी उसने रवि को स्मरण किया और मन ही मन जैसे वह कहने लगी, "और किसपर? तुमपर तो?"

हाँ, तुम्हारा नाम है। तुम बडा काम करते हो, सबके मुँह पर तुम्हारी जय-जयकार है। मैं कौन हूँ? क्या हूँ मैं तुम्हारी? क्या होगा मेरा?

वह चेहरा मुसकरा रहा है। पर यह क्या हुआ? गाल भीगे-भीगे-से लग रहे हैं। मन ही मन पता नहीं उसने क्या कहा था.. .वह स्वर अब अपने कानो में बज रहा है—शिवरा की माँ के बिछौने के पास रहकर तुम ही तो सब कुछ बता रहे थे, करने-धरने को कह रहे थे। अछूतों की बस्ती में तुम थे—और क्या कुछ । और भी कई जगह!

उसने आँसू पोछ लिये। दरवाजे पर खड़ी हो माँ बुला रही है—"अरी ओ छवि! किधर चली गयी ?"

उस स्वर के साथ स्वर मिलाया है गुरु ने—"छवि दीदी!" दुनिया स्वर पसारे है उसे पकडने को और वह है कि उड जाना चाहती है। कैसी है वह?

लजाते हुए, डरते-डरते चलते समय गाय बाँधने की खूँटी से टकरा गयी, फिर सँभल गयी....और चुपचाप जाकर बोली, "क्यों चिल्ला रही हो, क्या मैं कहीं खो गयी हूँ?"

मानो चारो ओर रवि की जयजयकार गूँज रही थी। जैसे सदियों से, युग-युग से स्वार्थ की पूजा करती आयी धरती धीरे-धीरे करवट बदलकर नये रास्ते की ओर देखने लगी है।

हर जगह यही चर्चा है कि वहाँ एक दल है जो अपने काम छोड़ दूसरों की भलाई के बारे में निरन्तर सोचता है। एक भाईचारे का दल बना रहे हैं। कोई कहता है—"कितने आये, कितने गये....अब ये आये हैं पहिये खिसकाने। अरे आदमी को अपने काम-धन्धे भारी हो गये....फिर इसे क्या ढोयेंगे ?"

पुरोहित जी घर-घर व्रतकथा बाँचने जाकर, पूजा करने जाकर यही बात दुहराते जा रहे हैं। इस तरह के एक-एक आन्दोलन होते-होते करोड़ होंगे, मालिका में लिखी भविष्यवाणी क्या झूठ होगी ! कलि का भार हद से बढ गया, अब सत उपजेगा। पहले जगत् को घेरे था, फूटन-पर्व। खाता फाड़ो, घर फोड़ो भाग-बँटवारा कर दो, दूसरे की जमीन काटकर एक टुकड़ा निगल जाओ, दूसरे का अन्न खुद हड़प जाओ। इसी तरह फोड़ते-फोड़ते आँचल से परमाणु निकला, जिसे फोड़ो तो जगत् का नाश हो जाये ! क्या क्या हो चुकी यह धरती, देखते नहीं ! कुशभद्रा नदी के किनारे खजुरिपड़ा में बंग रिफ्यूजियों को जाकर देख आओ, सौ पीढ़ी की जमीन-जायदाद, घर-बार छोड़कर, ग्राम देवता-देवालय छोड़कर यहाँ आकर परदेश में नया संसार बसा रहे हैं। पर हमारे घर में क्या हो रहा है ? दो बहनों की शादियाँ करायीं; नरसिंहा को दो आखर लिखाया-पढाया, उसकी भी शादी की और अब उसका पहला काम हुआ—अलग हो जाना, जैसे ही अपनी पतवार स्वयं सँभाली, जैसे ही कलकत्ता जाकर दो पैसे कमा लिये। उसी के लिए रोज हमारे घर में झगड़ा है। उसी के लिए तो फूलशरा में यह सब कुछ नये-नये बनाये जा रहे हैं। सब एक बनेंगे....एक परिवार बनकर रहेंगे, बसेंगे। जा देख आ.. .यहीं से सतयुग का आरम्भ होगा।

अँधियारी रात। दमकते बादल। सारी धरती अँधेरे का लिहाफ़ ओढे सोयी पडी है। छवि सोयी है। वर्षा की साँय-साँय की तरह रक्त-माँस की देह में बढती आ रही है आसुरी बाढ। अन्धकार के नीद मे बोझिल करतूतों की आड़ में प्रबल वेग से जीवन का प्रवाह बहता चला जा रहा है। झिर-झिर वर्षा झर रही है। पत्तों पर टपकता पानी। हजार कण्ठ से एक साथ मानो स्वर फूट रहा है....उसी के नीचे-नीचे है प्रवाह। प्रवाह—जीवन की गति और उल्लास। आकाश और माटी भीगे अन्धकार के

साथ घुल-मिल गये हैं। सब एकाकार होकर एक अभिनव सृष्टि हुई है। वहाँ अवयव न स्पष्ट है न स्वतन्त्र....वहाँ भावना ही प्रधान है। विराट्, विपुल परितृप्ति की तरह अन्धकार में वर्षा का प्रकाश। छवि नींद से जागकर दूर देखते हुए बरामदे में बैठी है। हाथ पर गाल टिकाये, पैर पसारे अपने को उस अन्धकार में मिलाये-सी बैठी है, वह—एक नगण्य प्राणी। धीरे से अनुभव कर रही है, अपने में उस वर्षा की चमक। वही आकांक्षा, वही उल्लास, वही पागलपन। वह बुद्धि की नहीं, एक अन्धी क्षुधा है।

उसकी रक्त-मांस से बनी नारी देह! वहाँ यौवन का ऐश्वर्य है।

अँधेरा मानो उससे अनुनय-विनय कर रहा है। उस भविष्य में योजना नहीं या कोई राजनीति का अर्थनीति नहीं—केवल एक नारी है जो मृण्मयी होकर चिन्मयी है। आनन्द के लिए है उसका जन्म। पर कहाँ है वह आनन्द?

अनहोनी की भाँति दीर्घ साँस आयी। फिर वह चोर की तरह सकुचाते हुए बिछौने पर लौट आयी। आँखें मूँद ली। धड़कती छाती और लड़खड़ाती देह को मानो उस वर्षा के अन्धेरे के सहारे टिका रही है।

उसके बाद डूबती जा रही है।

"माटी किसी की नहीं, फिर भी सबकी है। माँ के पेट से मुट्ठी में माटी लिये कोई नहीं आता। संसार में आने के बाद सम्पत्ति अर्जता है, जमीन-जायदाद करता है, और सोचने लगता है कि ये सब उसी की हो गयी। जाते समय फिर वही खाली हाथ आग पर चढ़ता है, मिट्टी पड़ी रहती है। इसलिए इतने लन्द-फन्द से कोई फायदा नहीं। कर दो, सब मिलाकर एक कर दो। जितने संसार को आये हैं सबका यही एक घर है। सब यहाँ काम कर आपस में बाँटकर खायें, भूखा पेट अशान्त न रहे। न पानेवाले, जिनके पास नहीं है उन अभागों के मन में ईर्ष्या न रहे, विद्रोह न रहे—शान्ति की स्थापना हो।

ये बातें नन्द तहसीलदार के कानों में झनझना रही थीं।

गुड़ पर मक्खियों की तरह वे लगे हुए थे। पहले रवि और फिर दल-भर के दूसरे। कहीं भी बैठें, बस वही बात।

क्रमशः नन्द तहसीलदार ने देखा, कहीं से आ टपकी बात आकाश से गिर धरती पर अंकुरित हो गाछ बनी, एक के बाद एक और धीरे-धीरे सब उसी ओर ढलने लगे। पहले आये असमर्थ, अनाथ, बेवा फिर अल्प वित्तवाले, अन्त में बूढ़े रघु बिस्वाल को पता नहीं कैसा परमार्थ ने आ घेरा कि उसने अपनी सारी सम्पत्ति और दो जवान लड़कों को कोठार में शामिल कर दिया और वह बैठे-बैठे माला फेरने लगा। जिसने भी पूछा, जवाब दिया हँसते हुए—"ठाकुर ने बताया है, इस युग में मेरा नाम

कोठार है। यही सही रास्ता है।"

और नन्द तहसीलदार ने जब अपने दोनों लड़कों कुलिया-मुलिया से कुरेद-कुरेदकर पूछा तो वे बोले, "बाप ने जो कहा, क्या हम उसे टाल जायेंगे। हम दो भाई थे, अब सौ भाई बने। देखो, अब गाँव-भर के लोग सब भाई-भाई हैं। दो भाई एक हो मिलें तो कितनी खेती कर दें, ढेर सारे काम कर दें और सौ बलशाली भाई एक साथ हल चलाने आयें तो देखना, कितना-कितना काम हो जायेगा!"

देखते ही यह बात गाँव-भर में फैल गयी, हलचल मच गयी। पानी की सतह पर पतले दल की तरह सब उसी ओर पसर आये। मानो वह एक बाढ़ थी, जो कोने-कोने में फैलती गयी, सब एकाकार करती गयी। सिर्फ उस गाँव में नहीं, आस-पास के कई गाँवों में फैल गया वह आन्दोलन। जैसे सबको 'मैं-पन' कड़वा लगने लगा था। दो, सब एक कर दो, सब सहकारी हो। नन्द तहसीलदार भकुए की तरह इस पागल-पन को ताकते रह गये थे।

अपने आत्मविश्वास के सहारे वे अटल, अविचल थे। लोग उनकी बातें सुनें, न सुनें, वे उपदेश बाँटते जा रहे थे। इसी तरह विरुद्ध मत प्रचार करते-करते, तर्क करते-करते कब इस नयी भावना ने उनके मन की गहरी सतह को हिला दिया था—उसका उन्हें पता ही नहीं था। उन्हें पता नहीं था, कब रावण में ईश्वर-भक्ति की तरह इस विरोध के संघात से ही उनका मन खिंचता चला जा रहा था, पर वह तो मन की बात थी, बाहर वे अविचल दृढ थे।

और बाहर की उस अविचलता को तोड़ने के लिए मानो दुनिया-भर के लोग षड्यन्त्र कर रहे हैं, ज़िद कर रहे हैं—बार-बार दुहरा-दुहराकर यही बातें सुनाते। जैसे आकाश-पवन तक इस षड्यन्त्र में लिप्त हैं, कानों में मानो हवा भी कहते हुए चली जायेगी वही बात—"छोड़ो-छोड़ो, मैं-पन का मोह छोड़ो, किवाड़ खोल दो, सब अन्दर आयें, तुम भी बाहर आओ और देखो बाहर जो कुछ है वह भी तुम्हारा ही है, हर जगह तुम्हारे घर हैं, किसीको पराया मत करो और खुद पराये मत बनो।"

सुबह नींद टूटे बाहर आये तो लगता है जैसे भोर का उजाला वही बात कहने की प्रतीक्षा में है। बाट के बटोही, गोबर चुगनेवाले, गाँव की औरतें, गाँव के मनमौजी लोग सब एक ही ताल में मानो रट लगाये हुए हैं—और दिन में दो बार उसी मन्त्र का जाप करने के लिए आ पहुँचते हैं घोवेई मिश्र—अत्यन्त विनयी, शीतल मधुरभाषी। न चिढ़ाते हैं, न तर्क करते हैं, न झगड़ते हैं। पुराण बाँचने की उसी एक ही बात को दुहराते जायेंगे—"मिट्टी किसी की नहीं है, फिर भी सभी की है। मेरी-मेरी कहकर भी कोई उसे साथ नहीं ले पाता। परमेश्वर ने आपके लिए इतना बड़ा घर बनाया है, उसे छोड़कर अलग दीवारें खड़ी कर छोटी-सी कबूतरखाना बनाने की क्या आवश्यकता है? युग बदल रहा है, हम भी बदलेंगे, नास्ति न कहें और सबको मिला दें।"

बातें कानों में झनझना रही थीं।

धोबेई मिश्र ज्ञानी हैं। बात-बात में पुराण, शास्त्र, इतिहास के उदाहरण देकर समझाते हैं। इस गाँव के नहीं हैं, कुम्भारपुर के पुरोहित ब्राह्मण हैं, घरबार सब छोड़कर इन्हीं के साथ आ मिले हैं। दोंग-आडम्बर नहीं। तेल नहीं लगायेंगे, सिर्फ एक बेला भोजन करेंगे। बुखार हो फिर भी, जहाँ तक जाना होगा अवश्य जायेंगे। कहेंगे, "रवि भाई को लें, ये कितने महान् पुरुष हैं, यहाँ चेतना में पराधीनता नहीं है।"

उस शाम के समय ही नन्द तहसीलदार के घर के सामने तुलसी के बिरवे के चारों ओर पक्के चबूतरे पर बैठक हुई थी। छोटे-बड़े कई जमा हुए थे। बूढ़े साधु बलीयार सिंह ने वही पुराणवाली बात छेड़ी—"अच्छा, आप जो कहते हैं कि कोई भी अपना कहकर कुछ भी नहीं रखे, तो यह क्या कभी सम्भव हुआ है ?"

धोबेई मिश्र ने उच्छ्वसित होकर कहा, "हाँ हुआ था, हुआ था, बारम्बार हुआ था। नहीं तो क्या पुराण, इतिहास सब झूठे हैं। आदमी पवित्र बन जन्मा था, नररूपी नारायण, अच्छाई की ओर उसकी रुचि है। धूल-मैल की तरह स्वार्थ का मोह उसपर परत-परत हो जम गया है और उसकी पवित्र आत्मा ढाँप रखा है; यह सब अवस्था का दोष है, उसका अपना दोष नहीं है। जब वह आच्छन्न रहता है, सपने को सच मानता है, उस समय उसे नींद से जगाने के लिए युग पुकार लगाता है। यह पुकार कभी कृष्ण की बाँसुरी तो कभी बुद्ध की वाणी बनती है। उसी पुकार से मनुष्य जाति की नींद टूटी थी। सत्य को ढूँढ़ने के लिए गतानुगतिक लीक से उलटा रास्ता पकड़ लिया था मनुष्य समाज ने। उसी को कहते हैं—यमुना का उलटे बहना। जिस संसार को जिस विचारधारा को पहले मनुष्य प्रिय मानता था, फलतः तपकसे उसे फेंककर नये विचार को अपना लिया—उसी का नाम है सोलह सहस्र गोपियों का मान-विसर्जन। यह आदमी सब कुछ कर सकता है। एक तरह की जीवनगति को बदलकर एक नयी धारा की सर्जना कर देना; यह सिर्फ मनुष्य के द्वारा सम्भव है, इसलिए उसे चारों ओर की अवस्था ग्रास नहीं कर सकी, उसका वंश अटूट है—बढ़ता चला है, मानव जाति ने कई बार 'मैं-पन' तोड़ने की पुकार सुनी है और अहंभाव टूटा है, अब भी टूटेगा।

बुद्ध युग के आदमी—उनका भी अपना घर-बार था, सम्पत्ति थी, छोटे से बड़े बनने का लोभ था, कोई शासन करता था, कोई बड़ा व्यापार करता था, कोई कर्ज ही क़र्ज़ से अनगिनत लोगों को गूँथकर मुफ्त में ही लाभ उठा रहा था और वे विलास से सड़ रहे थे। उसके बाद उन्होंने बुद्धदेव की वाणी सुनी, हठात् सब छोड़ दिया, देश-भर में सब भाई-भाई बन गये, जनगोष्ठी के सेवक। तीन ही अभीष्ट आँखों के सामने थे—बुद्धदेव के चरण, संघ और धर्म। इन तीनों की शरण में जाना होगा। बड़े-बड़े धनी, अनाथ, पिण्डज सब छोड़-छाड़कर बुद्धदेव के सेवक बने, और महान् अशोक को तो सभी जानते हैं। उस समय किस हिसाब और बुद्धि ने लोगों को रोका था ? और कल सुबह जब दरवाजे पर आकर चैतन्य महाप्रभु ने पुकार लगायी—किस व्यवसाय-बुद्धि ने इस जाति को रोक लिया ? कोई नहीं रोक सका....कोई नहीं रोक सकता, सत्य की जय होगी,

धर्म की जय होगी।"

नन्द तहसीलदार ये ही सब बातें सोच रहे थे।

कितना लन्द-फन्द कर सम्पत्ति जमा कर आये हैं जीवन-भर। लोग रोये हैं, गालियाँ दी हैं, अभिशाप बरसाये हैं। इतनी दुश्चिन्ताएँ, इतना परिश्रम। खुद मेंड़ पर खड़े रह छोटे लोगों से बुद्धि-बल से छीनकर लायी गयी जमीन को एक साथ शामिल कर उन्होंने मरम्मत करवायी है, ऊँचा को नीचा, नीचा को ऊँचा कर बड़ी-बड़ी क्यारियाँ बनवायी हैं, पोखर खुदवाये हैं, नारियल के पेड़ लगाये हैं, जमीन की ओर घूमने गये तो मानो उसपर अपनी ही रोहर चमकती-सी दिखती है।....आज युग की पुकार है, सब कुछ को सामिलात बना देने की। बाड़ी से एक पत्ता साग या बग़ीचे से तिनके-भर कोई ले जाये तो हुड़दंग मचा देते। पर उन सबको अब सबका बना देना होगा। सिर्फ़ बात से नहीं, कार्यतः। ऐसा भी कभी होता है?

पर हुमक-हुमककर बारम्बार चलता है नये विचारों का जुलूस, रंग-बिरंगा। सारे ग़रीब, मटमैले मजदूर—वे सब भी जगत् के लिए दान करके नयी स्वाधीनता के सैनिक बने हैं। देने की मर्यादा, त्याग करने की मर्यादा के कारण कितने ऊँचे लग रहे हैं, कितने निर्भीक! कितने सर्गावत लग रहे हैं! और वह खुद?....

वे देख रहे हैं।

ओह, कितनी जलती-सी है वह दृष्टि।

शाम ढलते समय से अनजाना बुख़ार की तरह उस चिन्ता ने जकड़ रखा है, कभी वह चिन्ता आती-जाती थी, पर इस बार लेने को आयी है, समस्त चेतना को आच्छन्न कर, अभिभूत कर जकड़ रखा है, जिसे भुलाया नहीं जाता।

किसी अवसर पर दिख जाता है—मेरा घर, मेरी बाड़ी 'मैं-पन' जहाँ और किसी का देखना हृदय को सहा नहीं जाता....उस 'मैं-पन' के तूफान में करकराकर टूटते समय आँखों से जुगनू निकल रहे हैं। माथे पर सलवटें पड रही हैं—ऐं, सबकी तरह मैं भी उँडेल पड़ूँगा सब। फिर दूसरे पल चिन्ता बदल जाती है; नये सिरे से सब एक और तरह दिख रहे हैं। जगत् का नया रूप, वहाँ सोने का वर्ण भी काला पड जाता है, धन-दौलत कोयले सरीखी दिख रही है, घर-द्वार कारागार की तरह। वहाँ आदमी ही केवल मूल्यवान् और मर्यादायुक्त है, वह खुद और उसका एक अकेला समाज, उसका कठोर दल, श्रम और बल। वहाँ अकेला आदमी केवल कायर है, दुर्बल है, उद्विग्न और सन्देही है। खेत के किसानों की खुली हँसी सुन उसकी छाती धड़कती है, आतंक से वह उस घडी की प्रतीक्षा करता रहता है, जब उसकी ओर उँगली उठाकर लोग कहेंगे.... वही वह जा रहा है, और गाँव में केवड़े के झुरमुटे, वस की झाड़ियाँ तक उसे आश्रय नहीं देंगी।

वह किधर ? वह नहीं है उस सूने अनिश्चित रास्ते के अकेले भयालु पथिक के साथ। वह उसी दल का आदमी है। उनका नया जन्म हुआ है। इस जन्म में यह

दर्शन ही जगत्-भर के लोगों को बाँधे रखता है, और दस आदमी जिस बात को मोल देंगे, वही तो है उसका मोल ? दस लोग मोल देते हैं एक दुनिया का, एक भाईचारे के इस खुले रास्ते का। जिधर जाओ सब जगह तुम्हारा ही घर, जहाँ लड़खड़ाओगे दस हाथ बढ़ आयेंगे तुम्हें उठा लेने को। चिन्ता नहीं, हिंसा नहीं। संचय होगा—एक के लिए नहीं सबके लिए। आमदनी होगी सबके पेट की खातिर, अपने और अपनी सन्तानों के लिए सारी पृथ्वी ही जागरूक है। अपने भण्डार की पूँजी यहाँ हास्यास्पद है, उसकी जरूरत नहीं। उसी दुनिया में नये सिरे से उनका जन्म हुआ है। कितना सहज लगता है यह। यही तो है परिचित जीवन। इसी जीवन का परिचय तो लिया था प्राचीन धर्म ने। और जगन्नाथ ! यही अभय वाणी तो वे सुनाते आये थे युग-युग से। अन्तर में अँधेरे झरने की तरह बह रहा था महामानवीयता का स्वप्न, सृष्टि के आदिम काल से, झरना अन्त:सलिला फल्गु बनकर रह गया था, प्रकाश के लिए प्रतीक्षा की थी इस नयी भोर की, इस नये प्रकाश की, मानव की सहजात मानवता यहाँ प्रकाश पा गयी है, वह पुण्य नहीं, अपने से अलग होकर सुनी हुई बात, पढ़ी-पढ़ाई बात का ज्ञान नहीं, वह जीवन है।

यही विचित्र द्वन्द्व, विचित्र अनुभूति में उब-डुब हो रहा है—नन्द तहसीलदार। बरामदे में बैठे-बैठे समय बीतता जा रहा है। किसी के साथ बातचीत नहीं, बोलचाल नहीं। कल वे आये थे। आये थे समझाने, आज नहीं आये हैं। कोई न आये—आज अपने अन्दर ही सारा जगत् इधर-उधर हो अपने को प्रकट कर रहा है। यह कैसा तूफान। कैसा प्रलय। फिर कैसी सृष्टि, कैसा विस्मय।

शाम ढलती आयी। खेत से लौट, एक साथ मिल, उल्लास भरी गूँज भरकर इसी रास्ते से गाँववाले गये, और अलग-अलग खेती नहीं....जहाँ लग जायें, सब लग जायें। जैसे असुर काम कर रहा हो। असम्भव को सम्भव बना रहा है। कहीं, ऐसी खेती के बारे में तो किसी ने सुना नहीं था, न देखा था। अकेला तारा उगा, उसके बाद और तारे, और तारे। दूर आकाश है, और काला बादल सरकता जा रहा है, वर्षा भीगे आकाश में गुच्छे के गुच्छे तारे खिल रहे हैं। कितने सतेज, कितने उजले ! मन के सपनों की तरह जैसे इस आकाश पर अंकित रह गया है। नन्द तहसीलदार, नन्द तहसीलदार—नहीं, कोई नन्द तहसीलदार नहीं है। ऐसा आदमी कभी कोई नहीं था। केवल अनगिनत तारे, और अन्धकार ! ऊपर उनकी मृत्युंजयी हँसी। और समवेत मनुष्य कण्ठ की झंकार। मनुष्य जाति ने अपने में उषा का आविष्कार किया है। यही उसका संगीत है। बाहर संगीत कब का थम चुका, अब टिमटिमाते लालटेन जलते रहेंगे, लिखाई-पढ़ाई चलती होगी। टिमटिमाते से दिखाई दे रहे हैं उनके शिविर। उषा का संगीत गाकर, सूर्य की वन्दना कितनी नद-नदियाँ पहाड़ पर्वत लाँघ, बहती जा रही हैं, और अब अँधेरे में बूँद-बूँद उजाला है, पास-पास हो, फिर भोर का एक साथ जुलूस निकलेगा, सहस्र पाद, सहस्र हाथ हो चलती होगी उसकी सेना। वह न कम होगी, न

थमेगी। उसे सत्य का सन्धान मिला है, उसने सत्य युग की प्रतिष्ठा की है। दूर किया है यातना और हिंसा को....वहाँ क्षुद्र स्वार्थ, क्षुद्र पूँजी के लिए जगह नहीं, वह अक्षय भण्डार का अधिकारी है

कौन कहता है ? स्त्री आयी है। अफ़ीम की गोली और दूध का कटोरा अपने आप आया था, पेट के अन्दर जा चुका।

वे क्या कह रहे है ? कहेंगे नही, आदमी की जिह्वा है बात नही कहेगा ? देखो, असल तो मजदूर है, वे नही रहे तो तुम अपने हाथों से खेती करोगे नही या कीच-पानी चलोगे नहीं। मजदूर पहले पैर पसारे बैठ जाते थे—कहते थे, दिन भर डेढ़-दो रुपये न मिलें तो हम नही चलते। और अब इस साल से कह रहे हैं—हमारी मजूरी क्या होगी जो हम तुम्हारे यहाँ मजूरी करने जायें ? अपनी सामिलाती जमीन में ही काम करने को समय नहीं है, हम जाकर कहाँ और कब काम करें ! अब बात हो रही है कि घर में गोबर-पुताई कौन करे, कौन गाय-गोरू चराने जाये, कौन खेती करे ? इसलिए मैं कहता हूँ, चलो जो कुछ जेवरात हैं उन्हें बेच-बाचकर पैसे लेकर शहर चले जायें। लड़का जो कमाता है उसी से जैसे-तैसे चलायेंगे—हे....हे....हे—हे हे हे"। नौटंकी की खाँसी की तरह हँसी उठी उस देह में से।

अरे यह वह क्या रहे है ? खेती तो यही करेंगे, इसमें क्या शक है ? इस एक ही गाँव में इतने कुटुम्ब चलेंगे—उनके साथ-साथ हमारा भी गुजारा होगा। और लड़का बाच्चू, वह तो वकील का चमचा, सही माने में डाक्टर भी नही, दरखास्त लिख देगा या मुकदमा जुटा देगा और उसी से कमायेगा, बाबूजी के सिर का तेल, खुशबूदार साबुन और कुर्त्ते-कमीज के लिये यह कम है, उस पैसे से भात कहाँ खरीदा जा सकता है, बच्चा दूध कहाँ से पायेगा ? और अब मुकदमे भी आयेंगे कहाँ से ? गाँव में किसान लड़े-झगड़ें, तब न हो मुकदमा। एक हो जायें तो मुकदमा किस बात का ? हे हे... हेः हेः—अरे अच्छे आदमी हो तुम, भकुए की तरह बैठे हो, मुँह तक नही खोलते। ऐं ! मुँह नही खोला—तो अब तक कौन कह रहा था ? वह गया बक-झक्कर। अब सुन्दर अँधेरी रात, शान्ति भरी है, तारों पर तारे लदे हुए-से है, झलक रही है हर दिशा, तारे पीठ पर सवार हुए है, कोख में है। "पिताजी, अब और छँटे हुए से सबसे विलग क्यों रहें ? हम भी अपना सब कुछ उन्ही के साथ शामिल कर दें—"

अरे वह है क्या ? हम इसी गाँव के है, गाँव के बाहर के नहीं....? जा-जा बच्चा जाग आयेगा !"

चली जा रही है—झमझमाती हुई। जा बेटी, लक्ष्मी बहू ! भगवान् तेरा भला करें। सब शामिल हो गया—अब चारों ओर रोशनी जलेगी।

लड़का मेरा मन्त्री बनेगा। अन्नपूर्ण गाँव में रवि के पिता बट महान्ती को कुछ दिन से इसी कल्पना ने जकड़ लिया है। कल्पना ने अपने आप कहीं से उड़ आकर नीड़ नहीं बनाया, उसके पीछे एक छोटी-सी घटना थी। उस दिन सुबह बाँध के पासवाली दुकान की ओर जाते समय रास्ते में पुरोहितजी और अवधानजी अचानक मिले। अवधान ने बन्द हथेली जोड़कर ऊपर सिर तक उठाया तो पुरोहित ने खुली हथेली को पसार आगे कर दिया और दोनों के होठों से हँसी झर आयी और अवधान ने जैसे ही कहा— "आज सुबह-सुबह अकेले ब्राह्मण के मुख-दर्शन हुए, पता नहीं दिन-भर कैसा बीते!" पुरोहितजी संस्कृत में बोले—"अद्य प्रातरेवानिष्टदर्शनं जातं न जाने किमनभिमतं दर्शयिष्यति"। और इसी शिष्टाचार विनिमय के पश्चात् अवधान ने पूछा, "जमींदार के घर पूजा-ऊजा, पर्व आदि कुछ भी नहीं हो रहे क्या?"

पुरोहित ने एक टूक जवाब दिया—"जमींदारी तो कब की गयी, अब जमींदार घर के पर्व-त्योहार को कौन पूछता है? और हमारे गाँव के यह जो जमींदार हैं, उनका तो वानप्रस्थ ही समझो। जाने का समय आया, अब सिर्फ लड़का सब-इन्सपेक्टर है—इससे उनके साथ सम्बन्ध न तोड़ना अच्छा है।"

अवधान ने कहा, "अरे एक लड़का सब-इन्सपेक्टर है, पर दूसरा तो साक्षात् मन्त्री है।"

पुरोहित ने हँसकर कहा, "कैसे? छोटे बाबू मन्त्री बनेंगे, तुम्हारी साँस की बीमारी बढ़ गयी है, क्यों न बढ़े, वर्षा के दिन हैं, इसीलिए अफीम की गोली भी बढ़ गयी है, नहीं तो मूकं करोति वाचालं पंगुं लंघयते गिरिं, नहीं तो बाप-माँ बूढ़ा-बूढ़ी जिसके लिए सोच करते-करते ठाकुर-भगती-दान-ध्यान सब कुछ भूल गये हैं, वही आवारा तुम्हारी आँखों को मन्त्री दिखता है? हाँ, कहो-कहो, गठीला सुन्दर जवान छोकरा है, किस बात में कम है! मन्त्री कौन-सी बड़ी बात है? मन्त्री का दादा बने तो क्या कम है!"

अवधान ने कहा, "दादा बने तो क्या अधिक हो जायेगा? दादा हम-तुम जैसे आदमी हैं, वे मन्त्री नहीं थे। गणना की, प्रश्न किया, पता चला, वह मन्त्री बनेगा।"

"क्यों, नल ने कहा, या नील ने कहा या अंगद ने कहा ..?"

"उससे तुम्हें क्या मिलेगा? तुम्हें एक शुभ समाचार मिला। उसके साथ एक-दो संस्कृत श्लोक जोड़कर उसे और शुभ बना सकते तो बूढ़ा-बूढ़ी दोनों खुश होते। साथ-साथ हम-तुम भी।"

पुरोहित हँसा, बोला, "तुम्हारी बुद्धि की तारीफ करता हूँ। मन्त्री अगर किसी को बनना चाहिए तो पहले तुमको। क्यों, इस बात का फैसला हो गया ...! हो गया फ़ैसला।"

उसके बाद बट महान्ती पर अचानक आक्रमण हुआ। जन्मपत्री देखी गयी, श्लोक पढ़े गये, उसका अर्थ समझाया गया। और फ़ैसला सुना दिया गया कि रवि मन्त्री बनेगा। अब उसके भाग्य बदलने का समय निकट आ रहा है—ग्रहों के आने-जाने का समय। इसी समय ठाकुर-अभिषेक, ब्राह्मण-भोजन, दान-दक्षिणा, बाल-लीला, उत्सव आदि की व्यवस्था हो जाये तो अच्छा हो। यह सब किस लिए हो रहे हैं —बस उसका प्रचार न हो। पुरोहित और अवधान दोनों की राय एक हो गयी। उनके अलावा और जो जानने-वाले आये, आचार्य वग़ैरह, वे भी एकमत हुए। उसके बाद से वही विचार कि बेटा मन्त्री बनेगा।

थाक-थाक हो बढ़ता जा रहा है, झरता जा रहा है जीवन। एक-एक थाक में एक-एक स्थान है। उसी में बट महान्ती के कुछ दिन बीत जाते। और भगवान् ने ऐसा सहेज कर रखा है कि मोह टूटकर आशा करने लायक डाली के टूटने के ऐन मौक़े पर एक और डाली नज़र आती है हाथ बढ़ाने भर के फ़ासले पर—न हाथ खाली रहता, न मन।

रवि गया। कवि को कितना समझाकर लिखा कि बच्चों को लाकर कुछ दिन के लिए यहीं छोड़ जा, पर वह नहीं हो सका। दो महीने में एक चिट्ठी आ जाये तो उसमें न आ पाने के कारणों के उलझे जाल होंगे। संसार कड़वा लगने लगा था। जगत्-भर के प्रति अभिमान। दो लड़के हुए। एक अपने सुख के लिए पराया बना और दूसरा दूसरों के सुख के लिए पराया हो गया। युग बना अल्हड़। इतनी ज़मीन-बाड़ी के रहते फ़सल आये तो हँसी आती है। मजदूरों की ज्वाला से खुद काश्त करो तो हाथ लग जाये। बटाईदार कहने लगे हैं—तुम्हें पाँच में से दो हिस्से देंगे, कानून से बेकानून चलेंगे नहीं। क़र्ज़ लेनेवाले भी कहने लगे हैं कि हम भी कानून के मुताबिक रुपया पर सात पैसे का ब्याज देंगे, पहले से जो ले चुके उसे जमा कर लो। क़ानून! कानून! सब [illegible] जाओ। जिनके लिए जमाकर रखते, उनका तो इसमें मन नहीं लगता, हम दोनों के तो दो ही पेट हैं। ठगो, जिसकी जो मरज़ी, इसके बाद हम भी ठगकर स्वर्ग सिधारेंगे। मन का सारा दम्भ सारे मोह टूट चुके थे।

उसके बाद मन में बना रहा—बेटा मन्त्री बनेगा!

जन्मपत्री का फल ज़रूर सच होगा, ऐसा विश्वास तब आता है जब कोई हिसाब कर 'लाभ होगा' कह देता है।

ज्योतिषी और पुरोहित दोनों की बात एक-सी हुई है, तो अन्यथा कैसे होगा?

अपने अन्दर विश्वास पैदा करने के लिए, अपने अभिज्ञान को टटोलने से कई उदाहरण मिलते हैं, किसने किसे क्या कहा था, किस तरह वह बात फलवती हुई—इसी तरह की कई बातें।

और जब उमर पश्चिम की ओर ढलने लगी है, सोचने पर चारों दिशाएँ धूमिल और अन्धकाराच्छन्न लगती हैं, उस समय इसी तरह अकारण और चकित करनेवाली परिकल्पना को, सीढ़ियों के किनारों को, हाथ की मजबूत पकड़ में लेने पर तो सीढ़ी दर

सीढ़ी चढ़ी जाती हैं—नही तो एक-दो-तीन-चार-पाँच की गिनती-भर सामने दिखती होती है और एक विराट् शून्यता नजर आती हैं। और ज्यादा दूर नही।

और तर्क को परखने पर भी पुरोहित और ज्योतिषी ही एकमात्र सहारे-से लगते हैं। इस संसार में बड़े हैं, छोटे हैं, पाँच उँगलियाँ समान नही होतीं, जिसे सौभाग्य कहते हैं उसे सबके साथ समान रूप से बाँटा नही जा सकता। कुछ लोग खायेंगे और कुछ भूखे रहेंगे। कुछ लोग आदमी चरायेंगे, कुछ गोरू चरायेंगे। सौभाग्यबंटन की विधि परची डालकर होगी। जिसे जो मिला वही उसका भाग है। भाग का लिखा कौन पढ़ सकता है—दैवज्ञ के सिवाय।

सत्य सत्य सत्य, त्रिवार सत्य!

बेटा मेरा मन्त्री बनेगा! होगा जरूर, नहीं तो यही रास्ता उसे क्यों दिखता? छाँह तले का रास्ता नही, धूप, सर्दी, भूख का रास्ता है वह, पाँच के कन्धों पर पैर रखकर राज करने का रास्ता नही है, पाँच सौ के कन्धों पर हाथ रख, पीठ से पसीना पोंछ पैर से काँटे निकालने का रास्ता है वह। जरूर इसमें विधाता का कोई गूढ़ रहस्य है, बेटा मेरा मन्त्री बनेगा!

बट महान्ती जो स्वप्न देखने के लिए बैठ जाते—एक पर एक पान की गिलौरी मुँह में पानी बन खतम होती जाती। शून्य आकाश पर रंगने का काम कम नही होता, छाँह लम्बी होते-होते धूप मुरझाने लगती, और खतम हो जाता है एक दिन।

आषाढ़ का मेघ से लदा आकाश, बिजली-तूफान को पेट में भरे ठहरा हुआ-सा रह गया है। चल रही है सृष्टि और सृष्टि की योजनाएँ, उद्योग और श्रम। खेत में किसान, पेड़ पर पंछी, ठूँठे-अधसूखे दूब की जड़ को सलसलाती हुई चींटियों की धार। पहली बौछार के बाद सूखी मिट्टी सिहर उठी है, उसके बीज फूल-फैल गये है, अनगिनत जीवाणुओं के, अगणित उद्भिदों के; वे भी जन्मेंगे, कोई दो पल के लिए, कोई कुछ महीनों के लिए, कुछ सालों के लिए। अपनी सतह पर अपने व्यक्तित्व के अनुसार अपना-अपना समय का माप और कीमत अलग-अलग। किसी की नापने की छड़ी पकड़ और कोई नापना नही चाहता—सबकी अपनी-अपनी अलग-अलग छड़ी है। आषाढ़ की धरती पर छोटा-सा सूँड़ी कीड़ा अगर अपनी पल-भर की जिन्दगी के लिए योजना बनाने को आतुर है तो आदमी भी अपनी साठ वर्ष की उमर को एक कल्प मानकर अटूट आशा से आकाश की ओर सीढ़ी बना रहा है, वही उसकी जीवन-क्रिया है। और बट महान्ती की आँखों के सामने दिखाई पड़ रहा है—वह सहज भवितव्य, बेटा मन्त्री बनेगा। बस वही, उससे बढ़कर और कुछ नही।

क्यों नहीं होगा? इसी तरह तो कितना कुछ हो गया। कितने ऊपर उठ गये हैं। कल पहचाने नही जा रहे थे—और आज उन्हें देखो तो दंग हो। और नेता, मेम्बर, वक्ता, सभापति, देश के अन्य कर्णधार कहलानेवाले—वे भी कल तक अपरिचित थे और आज हर जगह जाने-पहचाने हो गये। युग के वर्ण में रंग लगा है उनकी

देह में, कितने नामी हैं वे, कितने प्रतापी, और क्या चेहरे हैं उनके !

आज जिधर भी देखो नयी-नयी इमारतें सिर उठा रही हैं, नयी-नयी मोटरें धूल उड़ाती भागी जा रही हैं, व्यापारी-साहब हटकर चला गया, अब देशी व्यापारी दबोचे हुए हैं, देश की समृद्धि की वैजयन्ती उड़ाकर बाहर भेजा जा रहा है अधिक वाले प्रान्तों को धान, कुली बनने को बाहर जाना नहीं पड़ रहा है, इस देश के व्यापारी इसी देश में कल-कारखाने बिठा रहे हैं, यहीं कुली को काम मिल जायेगा। अजीब है यह समय, इस समय सब कुछ सम्भव है।

और अति सम्भव, अति निश्चित है ज्योतिषी की गणना—बैटा मेरा मन्त्री बनेगा !

"सुनती हो," उन्होंने पत्नी को समझाया—"रवि मन्त्री बनेगा, जन्मपत्री की बात झूठी नहीं होगी।"

सुनकर सुबकते हुए रवि की माँ ने कहा, "मुझे मन्त्री नहीं चाहिए, राजा नहीं चाहिए, मेरा लड़का घर लौट आये बस, ये फ़ालतू बातों से तुम किसे समझाओगे ?"

"तुम औरत जात, समझ सकोगी नहीं। पहले-पहले लोगों के साथ न मिले तो, अपनों को न भुलाये तो, क्या कोई मन्त्री बना है, बताओ तो ? मैं सोच रहा हूँ, चलो एक बार फूलधरा हो आयें !"

रवि की माँ चली गयी है।

यट महान्ती ने फिर एक बार चल-चित्र देखने के पहले कहा, "औरत जात, नहीं समझ सकेगी।"

देखते ही देखते काला किट्-किट् अँधेरा छा गया, न हिलता, न डोलता, हवा भी थम गयी है। मानो आकाश एक विराट् काला छाता है और उसके नीचे एक अकेला आदमी है वह, कितना छोटा, किसी कोने में गुम हो गया है !

दिन के चार बजे हैं, तब 'डाआणिआ' धूप थी। लड़कपन में पढ़ी हुई नन्दकिशोर की कविता की याद आयी—'डाआणिआ खरा....पारा ढुंडिटि....।' चल पड़ा है वह अकेला—चकुलिआ गाँव में घड़िआ बाउरी बीमार था, हैजा हुआ था। उसी की सेवा करने गया था, अब लौट रहा है फूलधरा को। गहरी जमीनों के बीच से चल रहा था, अँधेरा घिर चुका था।

यहाँ से चकुलिआ गाँव दो कोश से अधिक होगा। गाँव के बाद थोड़े-थोड़े फ़ासले पर तीन जमीनें जिसमें दो को तो वह पार कर चुका, एक यही है, इसके बाद सामने दिख रही है पगडण्डी—फूलधरा तक गयी है, धीरे-धीरे सर्दीली हवा बहने लगी है, मानो अब बरसाती बौछार कर देगी।

लाश जलायी नहीं जायेगी। वर्षा का पानी झर जायेगा, बह जायेगा जुलूस हैजे के जीवाणुओं का। आज यह एक—उसके बाद और पाँच।

ऐसे फटा-फट मरकर सो-सो जाते हैं जगत्-भर के कितने लोग! उन्हें जिन्दा रखने के लिए कोई योजना नहीं है। मरकर सोते जा रहे हैं उजाड़ों में गिरकर, जानते नहीं—सब भाई-भाई हैं, इस संसार-भर की धन-दौलत वही है, इस हाथ से बनी चीज, जानते नहीं—जो आया है, उसे यहाँ जीने-खाने का अधिकार है, जैसे वह बाध्य है काम करने को। जानते नहीं—आदमी-आदमी में धर-पकड़ वही कराते हैं, दूसरों की मृत्यु जिनके स्वार्थ की पूँजी है।

झर-झर हो वर्षा उलझ पड़ी थी—एक साथ चारों ओर से घिर आयी। पहले प्रवृत्ति जागी दौड़ पड़ने की, उसके बाद जैसे उसने अपनी भूल समझी। वर्षा में सराबोर हो सहज गति से वह फूलझरा की ओर चलने लगा। सोचा, वर्षा आयी है, फिर नयी-नयी समस्याएँ—छान से घर के अन्दर पानी टपकने लगेगा, बीमारी होगी, नदियों में बाढ़ आयेगी। अभावग्रस्त लोगों के लिए नयी ऋतु क्या, नये दिन भी समस्या लिये पहुँचते हैं।

फूलझरा की पगडण्डी पर पहुँचकर उसे लगा जैसे एक सफ़ेद छाता इधर-उधर हिल-डुलकर खिंचा हुआ-सा उसी की ओर बढ़ता आ रहा है। उसके नीचे सिमटे-सुमटे हुए नन्द तहसीलदार थे। आनन्द से अधीर हो छाते को रवि के सिर पर तान लेने पर भी वर्षा के झोंके ने उनके दुर्बल हाथों को एक ओर सरका दिया था।

"अरे, देखें देखें," रवि बोला, "दूसरों पर छाता तानो तो अपना सिर भीग जाता है। याद रखें, और किसी दिन उपकारी बन किसी पर छाता नहीं तानेंगे।"

"ह....ह...." लुढ़क-लुढ़क जानेवाले छाते पर हुकुम जारी कर रहे थे नन्द तहसीलदार—"ठहर यहाँ....जा नहीं," छाता लुढ़कते-लुढ़कते आकाश पर पैर उठाये रह गया। हँसते हुए नन्द बूढ़े बोले, "क्या कहा—? और किसी दिन दूसरों पर छाता नहीं तानूँ? अच्छी बात कही। ठीक है, भूल मेरी है, मैं मानता हूँ। जब इस तरह काले घुमर मेघ गगन भरते हैं तब तो सबके पास छाता नहीं होगा; मैं छाता लिये निकल पड़ा तो उसे उड़ा लिया, अच्छा हुआ, मैं कहता हूँ न...."

रवि हँसा। घड़िया बाउरी की मृत्यु की बात सोच-सोच यद्यपि वह अबतक मरण को ही स्मरण करता आ रहा था, पर अब आमने-सामने देखा उसने जीवन को। बासठ साल का बुढ़ापा हट गया है और उसकी जगह ले ली है नूतन तारुण्य, बल और आशा ने। त्याग से अंकुरित होकर सरसर बढ़ते जा रहे हैं मानव के मान और श्री.... ये सारी जमीन, सारी सम्पत्ति को सामलाती बना देने के बाद। नन्द तहसीलदार का पुनर्जन्म हुआ है।

"मैं तुम्ही को ढूँढने निकला था," किसी ने कहा, "घड़िया बाउरी मर गया, तुम कई दिन उसी के पास लगे रहे, सोचा...."

बात अधबड़ी रह गयी। उदास हो रवि ने कहा, "हाँ, वह मर गया।"

"परख रहा था कि तुम इस बात को किस तरह कहते हो।" नन्द ने कहा, "सारे ब्रह्मज्ञान इसी एक बात को कहने के पहले सबसे भिन्न रूप में स्पष्ट हो जायेगा। नहीं, तुम्हारा यह हुआ नहीं है। 'मर गया' कहते हो तो उदास स्वर सुनाई देता है, फाँका-फाँका-सा लगता है स्वर।"

"नन्द दादा, मुझे जीवन से खूब प्यार है।"

"प्यार कहाँ कर सकते हो? मन है, पर काम, उसके लिए समय लगेगा। जीवन से अगर प्यार करते तो चारों ओर इतने जीवन देखते जिससे मृत्यु के लिए रोने को फुरसत ही नहीं मिलती। तुम देखते, मरण में भी जीवन है, जैसे अँधेरी रात में समुन्दर के अन्दर उजाले की बड़ी-बड़ी लहरें दिखाई पड़ती हैं, इस सिरे से उस सिरे तक। पहले मैं बँधा पड़ा था, जैसे अँधेरे घर में भार तले कोई पिलपिला आलू सूख-सूखकर धीरे-धीरे सड़ रहा हो। फिर तुमने मुझे बाहर निकाला, पेड़ लगाया, देख-भाल की। अब अपनी डाल-पात देखकर स्वयं मुझे अचम्भा लगता है। मुझे तो लगता है जैसे आनन्द से उफन जाऊँगा मैं।"

झर-झर वर्षा की बौछार भी उस बात की उष्माहट को नहीं बुझा सकी। बल्कि और अधिक लग रहा है—आदमी का तेज।

बादलों में सामने धुँधला-सा नजर आ रहा है फूलझरा गाँव, कचहरी-घर यानी केन्द्र-कार्यालय के पिछवाड़े का घना बरगद, आस-पास सटे हुए गाँव के दूसरे पेड़। नन्द तहसीलदार की बातों पर सोचते हुए रवि फूलझरा पर सोचने लगा। एक छोटा-सा गाँव। और वह सिर्फ गाँव ही नहीं, एक समवेत अनुष्ठान है, जहाँ आदमी ने प्रण किया है—हमारे गाँव में भूमिहीन कोई किसान-परिवार नहीं रहेगा, हमारे गाँव में एक के घर में खाने को हो तो दूसरा भूखा नहीं रहेगा, हमारे गाँव में सब सबका है, किसी एक का कुछ भी नहीं। हमारे गाँव में किसी एक की जमा-पूँजी कुछ नहीं है, जमा करना हो तो सबके लिए, समाज के लिए, गोष्ठी के लिए। कौन कह सकता है कि यह व्यापक नहीं बनेगा?

इसी तरह दुनिया-भर—घर से घर, गाँव से गाँव। इसी तरह देश-भर, धरती कहने पर देश के साथ देश शामिल होकर आदमियों की एक गोष्ठी का अनुमान होता है।

समस्या भी एक ही तरह की है—व्याधि, दरिद्रता, लुण्ठन और अत्याचार की। अतीत में आदमी जो नहीं कर सका, नया आदमी वही कर दिखायेगा। वह पहले बनेगा भाई-भाई। मनुष्य जाति की समवेत शक्ति को वह उड़ेल देगा—मनुष्य जाति की समवेत दुर्दशा को हटाने के लिए। भारत और चीन मानो फूलझरा और पाटेली गाँव हैं, वैसे ही भारत और रूस, भारत और अमरीका या इंग्लैण्ड—इसी तरह गाँव से गाँव फूलझरा या आलिपुर या डिंगिसर या पाटेली गाँव।

नन्द तहसीलदार के नये रूप को देख वह विश्वास कर सकता है कि इस पृथ्वी पर नये आदमी बन रहे हैं, जो दलदल के लोगों के बीच सेतु बनायेंगे। सदा के लिए युद्ध और युद्ध की आशंका को दूर कर देंगे। आदमी को चिन्तन और कार्य में स्वाधीनता दे पायेंगे, उसके विकास के लिए सहायता कर सकेंगे। इसके लिए अवश्य ही नये आदमी सामने आयेंगे।

नये आदमी अवश्य ही आ रहे हैं। वे आयेंगे। इसलिए पहले से ही दिखाई पड़ रहा है कि हर देश के लोग नीति और विचारों की बातें कर प्रचलित लीक पर चर्चा कर रहे हैं। जहाँ जितनी बुराई क्यों न हो, उसके अन्दर अच्छाई का स्रोत कहीं न कहीं अवश्य है। प्रत्येक देश में एक दल है जो चिल्ला रहा है कि सेना बढ़ाओ, हथियार बढ़ाओ, लड़ाई छेड़ो, व्यापार तेज होगा, जगह मिलेगी बढ़ने को, अन्य देश पर हमला कर उपनिवेश बनाओ, सस्ते में कुली मिलेंगे। फिर उसी कच्चे माल को कारखाने में डाल चीजें बनाकर उन्हीं लोगों को बेच, उन्हीं लोगों से पैसे खींच लो, उन लोगों को अनुन्नत बनाये रखो, बढ़ने मत दो, सोचने न दो—उस समय एक अन्य दल भी है जो इसका विरोध कर रहा है, निन्दा कर रहा है। उन लोगों का स्वर कितना ही क्षीण क्यों न हो, उनकी संख्या क्यों न कम हो—वे कह रहे हैं कि इस धरती पर लड़ाई अब और न होने पाये, शान्ति विराजित हो, आदमी-आदमी के बीच, देश-देश के बीच हिंसा, विद्वेष, सन्देह का लोप हो, सबको भोजन मिले, काम मिले, भेद-भाव दूर हो जाये, सबको बढ़ने की सुविधा मिले। उनके पीछे लाखों मूक जनता है, किसान, मजदूर, कारीगर, वे भी यही चाहते हैं, यद्यपि इनकी भाषा उतनी मार्जित नहीं है, आवाज उतनी ऊँची नहीं कि दूर तक सुनाई दे।

उन्हीं लोगों की आवाज को एक दिन दुनिया-भर के लोग अवश्य सुनेंगे, सीधे, बिचौलियों के बगैर, जो बिचौलिये एक-एक देश के प्रतिनिधि बनकर मार्जित भाषा में लड़ाई को ही आमन्त्रित कर लाते हैं, विज्ञान के अर्थों को विकृत बनाकर मारणास्त्रों का उत्पादन बढ़ाते हैं, दर्शन शास्त्र के व्याख्यानों को विकृत बनाकर प्रचार करते हैं, दूसरों पर हमला कर अपना विकास करने का मात्र बहाना है यह सब!

"अरे यह क्या, आप तो पूरा भीग चुके साआन्तजी," बरामदे पर से वई मल्लिक ने ऊँचे स्वर में कहा, "ऐसे न भीगते तो क्या बिगड़ जाता!" वई मल्लिक कहते-कहते भीगते हुए बरामदे पर से उतर आया। हाथों में एक बड़ा तालपत्र का छाता था। बिशि पाण भी उतर पड़ा....और 'अरे-अरे' कहते हुए घोबेई मिश्र भी।

"हः, खूब बहादुरी मैंने दिखायी है कि उतरे आ रहे हो; क्या कोई भीगता नहीं? क्या यह कोई नयी बात है?" हँसते हुए रवि ने कहा।

"जिसके मन के अन्दर तपिश है उसका यह वर्षा क्या बिगाड़ेगी !"

नन्द तहसीलदार ने कहा, "मैं क्या कम समझा चुका इन्हें ! या कोई छाता नहीं था ! मेरे पास था एक, इन्होंने मना कर दिया।"

बरामदे में लगभग तीस लोग थे। नमस्कार आरम्भ हो गया और साथ-साथ बारिश में भीगने पर आपत्ति भी।

रवि ने कहा, "वर्षा देखने पर हमें अपने-अपने घरों की याद आती है। नहीं क्या ? याद आती है छाते की। सूखी जगह की और सूखे कपड़ों की। और मुँह में डालने को कुछ मुड़-मुड़ मुड़-मुड़।"

चौबेई मिश्र ने कहा, "गरमागरम भूँजा के साथ मूँगफली, उसके साथ चाय।"

रवि ने कहा, "ठीक बात है। पर इस देश में एक ऐसे आदमी भी थे कि वर्षा देखें तो उन्हें राज्य-भर की दुख-दुर्दशाएँ याद आ जाती थीं, किसका बिना छप्पर का घर बुरहाल हुआ और दीवारें गिर रही हैं, किसके घर में तीन दिन से चूल्हा नहीं जला, कहाँ नीची जमीन में बाढ़ आ रही है, चारों ओर जिलिजामय हो गया है। इन सबों की याद उन्हें आती थी। एक बार सत्यवादी में अँधेरी रात, झरझर बरस रहा था। उस समय कोई फूट-फूट कर रो रहा था। सुनकर सबकी नींद टूट गयी। लोग जाकर देखते हैं कि वे बिलख-बिलखकर रो रहे थे। क्यों रोते थे ? वे बिलखते हुए कहने लगे—'वही डभार गाँव का दामा बाउरी, देख आया था उसके नौ बाल-बच्चों को, साधारण दिन तो उसकी खाने की कमी रहती है, पर अब तो चारों ओर जलार्णव हो गया होगा। घर मानो एक झोपड़ी—उसको छान पड़ी नहीं थी। घर के अन्दर लहर होगी, बच्चे भूख से आतुर होते होंगे। क्या कर रहा होगा अब वह' !"

सब गम्भीर बन गये। सचमुच जैसे उत्कलमणि गोपबन्धु दास आकर उनके सामने खड़े हो गये।

चौबेई मिश्र ने कहा, "वे देवता थे, गोपबन्धु उत्कल के मणि। उनके चले जाने के बाद कितने डभार के दाम-बाउरी, तितिग गाँव के मेहतर और ब्रह्मगिरि का केशबा पाण कितने उठ पाये ? शहरों में अधिक इमारतें बनी हैं, यह सच है; बहुत लोग मोटर चढ़ रहे हैं, कई बड़े-बड़े धनी बन चुके। पर गरीब, मजदूर, मटमैलों की सोचते हुए जिनकी आँखों से अविरत धारा बहती थी, वे मानो वैसे ही रह गये हैं, अब फिर से वहीं से गढ़ना होगा।"

रवि ने कहा, "जानते हो सब। घड़िआ बाउरी चला गया। वहीं देखकर चकुलिया से लौटा हूँ !"

"एँ !"

विस्मय ! दुख। नन्द तहसीलदार के मन में आशावाद से सुलग उठती ऊष्माहट मानो धप् से बुझ गयी।

सच मानो घड़िआ बाउरी मरा नहीं था, जिन्दा था, रवि की बातें खतम होते

के पहले वह मर गया है। आकाश पर घनघोर घटाएँ। वर्षा [illegible] जा रही है। चारों ओर अन्धकार, [illegible] और [illegible]। [illegible] आता है, [illegible] मर गया है। इस वर्षा की तरह उसके मरने की खबर भी [illegible] है—[illegible] और [illegible] है। वह और आँखें नहीं खोलेगा, खड़ा नहीं होगा।

चोप से याद आ गये वे सारे दृश्य। [illegible] के लोगों के चेहरों पर [illegible], भय का दृश्य था। गरदनों में एक-एक तिनके [illegible] बंधे हैं। वे [illegible] के कवच हैं। घर में दरवाजे के सामने पड़ा है [illegible], [illegible] है। आँखें सोते की तरह। बीच-बीच में [illegible]—"हे भगवान्....हे ठाकुर....मेरे बाप....माँ....[illegible]....मैं अच्छा हो जाऊंगा—मैं जीऊंगा....कौन कहाँ है! [illegible]....!"

उसकी चेतना पर धाम बिछी पड़ रही थी।

जी-जान से वह चाहता था—जीने की, [illegible] ऊपर उठ रही थी कामना।

रवि उस मृत्यु के चित्र में डूबा हुआ [illegible]।

सामने दिखाई पड़ रहा है, बरामदे के [illegible] शामिल हो बहती जा रही है। रवि की चेतना में [illegible] रहा था—समय बहता चला जा रहा है। [illegible] उसकी आँखों पर मानो वर्षा झर रही है, और [illegible] है! बहता चला जा रहा है, उम्र टूटती जा रही है, [illegible] बहती चली जा रही है विस्मृति के अँधेरे की ओर—[illegible] मनाने को? किसकी आँखों में इतने आँसू हैं? [illegible] है, हर पल में इस विश्व की सृष्टि से लेकर इसी [illegible] पारिपार्श्विक अवस्थाएँ, उसका जीवन, बहते चले [illegible] इसी तरह आदमी मर-खप गये हैं, भुला दिये गये हैं, [illegible] सृष्टि में अनन्त काल से! क्या इसका कोई समाधान [illegible] स्थितियाँ बदलेंगी, बदली हैं। शायद आदमी [illegible] दे, वहाँ सब भाई-भाई होंगे, सब साम्लाती [illegible] नहीं रहेगी खाने-पीने की। आदमी को अपनी [illegible] भी आदमी के चारों ओर समय के गुजर जाने [illegible]। [illegible] पानी बहता जाता होगा, सूख जाता होगा, [illegible] दिन-रात बनते होंगे और आदमी कदम-कदम [illegible] जाता होगा। इस चरम बन्धन, चरम दुख [illegible] मुक्ति देगा! धरती पर इतने सारे राजनैतिक [illegible] चीन, रूस, इनमें से मनुष्य जीवन की इस [illegible]

रूस का श्रमवाद या अमरीकी धनवाद ? भूला-बिसरा पुराना युग जैसा था, आज भी वैसा ही है। सूर्य उदय होता है और अस्त हो जाता है। समय बहता चला जा रहा है। जीने की बलवती आकांक्षा के बावजूद आदमी मर रहा है, बिसर रहा है, खो रहा है।

कौन इस दुख को हटायेगा ? सान्त्वना देगा।

एक ओर बादल, अन्धकार, कल्पना में धड़िया बाउरी की नंगी लाश, जिसपर बौछार है वर्षा की। दूसरी ओर उसका उत्साह और उद्दीपना कि वह खुद मशाल की तरह जलकर संसार के अँधेरे को उजाला बनाने में मदद देगा। ताकि न रहेगा शोषण, लूट, भेदभाव, अन्याय, अविचार; और इन्हीं दोनों को एक साथ शामिल कर उसने देखा तो उसका उत्साह बुझता-सा लगा।

कब से वह गुम-सुम हो गया है। हठात् गुनगुनाते हुए घोवेई मिश्र ने 'कहइ मन आरे....' गाना शुरू कर दिया है। अपने आप दूसरे दुहराने लगे, कोई ताली बजाने लगा। सर्दीली वर्षा में समवेत स्वर-संगीत गूँजने लगा।

अति अद्भुत ढंग से वह समय के साथ जैसे जम गया। रवि ने सुना, 'कहइ मन आरे मो बोल कर। कळा श्रोमुख बारे देखिबा चाल रे। केते दिनकु मन करिछु आण्ट। कि घेनि जिबु तोर छुटिले घट। खडि जे खंडि तोर पंजरा काठि। खाउन थिबे श्वान शृगाल वाटि रे।'

टपटप कर अरबी के पत्तों से पानी की बूँदों की तरह उसकी आँखों से आँसू झरने लगे। वह शान्त हुआ। सदियों पहले के किसी अज्ञात कवि की रचना, वह गीत आदमी की चरम परिणति का वर्णन कर गयी सच, पर उसके साथ-साथ निराशा के बदले कैसे एक निवेदित मन की प्रसिद्धि और प्रशान्ति ही आयी। लगा, जीवन की निश्चित बातें यही हैं, अन्त में मृत्यु—उससे उद्धार नहीं।

पर दूसरे पल उसकी निराशा और चिन्ता गायब हो गयी। उसे लगा, रास्ते के अन्तिम सिरे पर मृत्यु अन्धकार का परदा नहीं, एक तीव्र उज्ज्वल आलोक है, उसी उजाले में रास्ते की सारी चीजें दिखती हैं, वही मानो जीवन को अर्थ गौरव से परिपूर्ण कर रखता है। वही समय को उद्देश्य प्रदान करता है, उसे मूल्य देता है। अपने कार्य के द्वारा जहाँ जो कुछ हो जाता है, कभी जँभाई लेना या कभी गणित करना, उतने ही समय का विशिष्ट कार्य होकर वह पीछे रह जाता है, यही उस प्रवहमान जीवन का प्रमाण है। खोये समय को जैसे अतीत के कार्य के लिए लौटाया नहीं जा सकता, वैसे ही उसे पोंछा भी नहीं जा सकता। प्रत्येक मुहूर्त को पूर्णतम उपयोग में लाना होगा, मरे-खोये के लिए, दुर्दशाग्रस्त पराजितों के लिए शोक प्रकाश करना समय का सही उपयोग नहीं।

कब से उसकी चुप्पी का अन्दाज कर गाँव से आकर इकट्ठे हुए लोग उसी की ओर देख रहे थे। वे उसका सहयोग खोज रहे थे, निर्देश और उत्साह ढूँढ रहे थे। अपने स्वार्थ की बात पर सोचने से भी समय का सही उपयोग नहीं होता—उपयोग

होता है आदमी जब दूसरों का उपकार करता है, मनुष्य-समाज में शान्ति की प्रतिष्ठा के लिए, आदमी के दुख दूर करने के लिए जब वह लग जाता है।

वर्षा चल रही है। उन्होंने चर्चा का आरम्भ किया था कि किस गाँव में सामलाती का काम कितना बढ़ चुका—उसपर कहाँ कैसी समस्या है—उसपर !

साथ लगा है गुरु। उसने अपने छोटे-से मन में परत दर परत जितने सवाल सजाये हुए है, वह इसी समय के लिए। पूछ रहा है : "छवि दीदी, बादल अपने-आप क्यों बरसते है ?....छवि दीदी, बादल के पास कितना पानी होगा ? खतम हो जाये तो क्या होगा ?....गड़गड़ क्यों करता है बता तो, छवि दीदी ! माँ कहती है, बाहर मत निकल वरना वह पकड़कर ले जायेगा। बरतन तक बाहर हो तो उसे भी ले जाती है। भालू कुत्ते को ले नही जायेगा छवि दीदी ? बाहर कैसा स्रोत है, ओह कितनी गरज ! दे, ला तेरा आँचल, मैं ओढ़कर सो जाऊँगा। मच्छर कैसे गुनगुना रहे हैं ! मच्छर कितने पतले-पतले है ! माँ कहती है कि मैं पतला होता जा रहा हूँ।....सावि तो मुझसे भी पतली है। उनकी छटकी बिल्ली बच्चा जनेगी तो मैं एक ले आऊँगा....पालूँगा.... सावि...." कहते-कहते उसे नींद आ गयी है।

वर्षा खूब हो रही है। बाहर हवा गरज रही है। बादल, हवा का अरणा संगीत चीखता जा रहा है बाहर। भीतर आदमी के बनाये ऊष्म नीड, वहीं उसके जीवन की तपिश और तेज।

छवि अपने बिछौने पर आराम महसूस कर रही थी। किसी पुराने ज़माने का काठ का पलंग। सीसमकाठ के बने पलंग के नक्काशीदार पाये, दूर से देखे तो कोई कह देगा कि पत्थर का बना है। घोड़े पर एक सुन्दर-सी स्त्री सवार है, कई हथियारों से लैस, कितने आभूषणों से सज्जित। हाथ में एक बरछी है, बरछे की नोक में एक हिरन है, घोडा, युद्ध का लड़ाका घोड़ा....दो पैर ऊपर उठाये हुए है। घोड़े के नीचे घुटनों के बल पड़ा है एक आदमी। फिर उसके नीचे एक खिला हुआ कमल। इसी तरह उसके चारों पैरों में नक्काशी के काम किये हुए है। पलंग के सिरहाने बेलबूटे बनाये गये है जिसपर युग-युग से परतों में मैल जमा है।

किसी परदादा के ज़माने का पलंग, उसके पिताजी तक नही कह पाते कि वह किस ज़माने का है।

पुराने घर के कुछ अंश को उसने ढहते देखा है। घर तो क्या महल था। चौधरी का महल। कमरो के आगे-पीछे बरामदों में भी दीवारें है ! वहाँ कहीं-कही एक-एक दरवाज़ा। पिताजी कहते हैं, पहले और भी गली-बरामदा, गली-कमरे थे। जाननेवाले लोग तक उन गुफानुमा कमरो का रास्ता नही पाते थे। दिन के समय भी ढिबरी लेकर

जाना पड़ता था, उसपर तालियाँ बजाते हुए, कहीं कुछ हो, इसलिए। मोटी-मोटी दीवारें। दीवारों पर भी कहीं-कहीं आलाएँ थी, माटी के नीचे तहखाने थे। उन तक पहुँचने को सीढ़ियाँ थी। उसी तरह के तहखाने में हाण्डी के हाण्डी गुड़, अचार, वड़ी, रखे हैं। वह देख रही है—वह घर अब टूट रहा है।

वैसे उसने देखा था—रास्ते की ओर एक अजीब कोठरी। माँ कहती कि वह किसी ज़माने में जेलख़ाना था। अन्दर से दीवारें टेढ़ी-बाँकी-कमानीदार, अण्डे के खोल की तरह। नीचे एक जगह कमर जितना बड़ा रास्ते का मुँह। वहाँ कोई मोटा ताँबे का किवाड़ बना था। उस कोठरी की दो भीतें आधी टूटी हालत मे थी। बाद में वह भी ढह गयी।

बरसात और अँधेरे के बीच वह पुराने बिस्तर का आराम अनुभव कर रही थी। लग रहा था, पीढ़ी दर पीढ़ी जीने का पुराना वाष्प मानो उसे ऊष्मा प्रदान कर रहा है और उसकी आँखों के आगे अस्पष्ट होकर तैरता चला आ रहा है। कहाँ से आया था, किधर जा रहा है वह! आँखें बोझिल हो रही हैं। देह मानो बिछौने पर दबी-दबी जा रही है। किस ज़माने का बिछावन है यह। ऊपर से खोल हटाते ही कितने दाग़ दिख जाते हैं। उसमें पुरानेपन की महक अत्यन्त जानी-पहचानी-सी। याद करा देती है पुराने खोये चित्र को—टूटा घर, दीमक खाये कलापूर्ण झरोखे, रंग-रंग की काठ की पेटी, पुराने सन्दूक छींट से ढँके, पुराने अचार के घड़े, पेटियों में लाद बनी बनारसी साड़ी, उसपर झिलमिलाती चाँदी की ज़री, माँ का जड़ाऊ, चाँवर-मूठ, चोया-चन्दन की महक....

"गुरु! गुरु!" पुकारते हुए ढिबरी थामे खोजती आयी गुरु की माँ, बोली, "क्यों, बिना खाये, बिना पीये अभी से सो पड़ी, बेटी। उठो-उठो।" हिला-डुलाकर उठा दिया। वैसे ही उनींदी हालत में वह माँ के पास खड़ी रही। "क्यों, बैठ जाती नहीं, खड़ी क्यों है? अच्छा, जा तेरे बापू भोजन कर रहे है, नमक माँग रहे है, दे आ।"

"नमक? अच्छा।" भर मुट्ठी डाल दिया। वे ज़ोर से बोले, "उसे नींद घेरे है, क्यों कोई काम करने को कह रही हो?"

नींद या कुछ और, वह नहीं जानती। कब वह आकर बैठ गयी भोजन करने। लगा, जैसे मुँह जल रहा है, छौंक में एक साबित लाल मिरच पड़ी थी, वह उसे ही मनोयोग से चबाती जा रही थी। रोने को जी किया, पर वह रोयी नहीं। और भी भात ठूँसे, मोटे-मोटे निवाले के निवाले। फिर लगा, वह अपने बिस्तर पर लौट आयी है। देह पर वही परिचित स्पर्श, फिर वही महक। कितनी बार उसके माथे में वह महक भेद कर गयी है। लगता जैसे मछली पानी में लौटी जा रही है—परिस्थिति से अनुभूति ग्रहण करने जब उसके स्नायु मानो एक साथ कार्य शुरू कर देते हैं। नींद में भरकर वह एक परिचित अवस्था में जाग उठती है। बचपन से ही, कई बार, दूसरे को समझा न सकेगी पर अनुभव कर सकती है।

माटी में। युग पर युग बीते, मानव स्पर्श पाती आयी है। माटी पड़ी है, मनुष्य चले गये हैं।

मन के विचारों में उसी बन्दीघर की करुण कहानी याद आ जाती, जब इस घर में बड़े आदमी थे। उन दिनों यह था उसके बड़प्पन का प्रमाण चिह्न। आज समय की इतनी दूरी से पीछे की ओर अनुमान करते समय, जब कि पोथी की वंशावली को समय चर गया है, उस गोल घर के बन्दियों की कहानी भी खो गयी हैं, फिर बड़े घर के लोगों का बड़ा इतिहास, पर वहाँ तबतक बड़े घर की कहानी ही नामजद हो गयी थी। लेकिन बन्दीघर की बात किसी ने याद नहीं रखी थी।

वहीं बन्दियों के असंख्य चेहरे वह अपनी कल्पना में देख पा रही है। देख रही है उन धँसी आँखों में नीरव अभिशाप, युग-युग के लिए। भूख-प्यास से क़ैद-घर में फेंके जाकर मार खाकर कितनी ही कठोर ज़िदें टूटी हैं। कितने जीवन सूखकर लकड़ी बन गये। फटे-हाल, भूखे, दागों से भरे बन्दियों के झुण्ड, एकदम अच्छी तरह से बन्द गोल कमरे ने आदमी को पीसकर चूर-चूर किया है, चक्की की तरह पीस डाला है। उसी हाड़-पीसनी मशीन की सहायता से कितने स्वेच्छाचारियों की राह सरल हो गयी होगी, हाथ मजबूत हुआ होगा। डरा-धमका के काबू में कर गये होंगे दुनिया-भर को, खिंचा चला आया होगा धन-द्रव्य, किसी के घर के पिछवाड़े से कद्दू, लौकी, गुहाल से गाय-बकरी, किसी आस-पड़ोस के गाँव से ढेरों बेगार खटनेवाले चाकर, किसी के घर की धन-सम्पद्, या कहीं से कुछ और। साआन्तों की बड़ाई-यशोगान करते हुए, सहमे हुए गाते-गाते किसी तरह गिन-गिनकर दिन काट देते। छवि के पिता कितनी ही पुरानी बातें कहा करते।

परन्तु उनमें उदार लोग भी थे। अपने अतीत की परम्परा के इतिहास में—अत्यन्त कोमल मनवाली उदार रानियाँ—गोविन्दचन्द्र गीत सुनते ही जिनकी आँख से अश्रुधार बह जाती, और विचारवान्, उदार-हृदय गृहस्थ। पिता से सुना है कि ऐसे भी थे कोई-कोई जो जबतक यह नहीं जान लेते कि गाँव-भर के लोगों का खाना-पीना हो गया है, वे स्वयं भात की थाली के पास तक न जाते, उनका प्रण था कि कोई भी अगर गाँव में भूखा है तो वे नहीं खायेंगे। उनके कारण जो लोगों के खाने-पीने की खबर रखने, एक-एक कर सारी जमींदारी पराये हाथों में चली गयी। ऐसे लोग भी थे इस घर में।

अँधेरे में तनिक आँख मीच लेने पर लगता जैसे वे घोंसकर आते। उनसे डरती नहीं, उस अर्ध-चेतनावस्था में वह उन्हें देख पाती कि वे अपनी इच्छा बखान रहे हैं कि उन्हें क्या चाहिए, कोई उन्हें देखकर बाहर कहता—ये खोये नहीं, कभी ये भी थे, अब भी उनकी स्मृति है।

उस स्मृति में साधारण जीवन-यापन ही अधिकतर लोगों का इतिहास है। चमक-दमक नहीं। उनका वही चैन से घर-बारी जीवन। स्त्रियों का खाना-पकाना, पान

लगाना, बच्चे पालना, घर सँभालना, इन्हीं के बीच यदा-कदा कोई एक इधर तो कोई उधर। वह साधारण न होता। घर टूट गया है, संस्कार नहीं टूटे। उसी संस्कार के बीच उसे भी दिन बिताने होंगे। पुरानी प्रथा का खिलौना बनकर। वैसे ही वह भी नाक-कान छिदवाकर चित्र-विचित्र गुदने गुदवाकर निर्जीव अलंकारों का बोझ झन-झनाती हाथ-भर लम्बा घूँघट खींचे, इधर-उधर सिर हिलाती-डुलाती पराये घर जायेगी, पराये घर के अधिकारी का अनुसरण करती चली जायेगी वह सारी जिन्दगी। क्योंकि यह समाज यही चाहता है। पर समाज कौन है? क्या मिला है युग-युग के मुखौटापन से किसी को? अत्याचारी भी भुला दिया गया है, फिर मन्त्र भी। शान्ति से जीवन बिताया है उन्होंने जो त्यागी, परोपकारी, निर्मलमना थे। जीवन का स्वाद उन्होंने ही पाया है। और लोग चाहे कितने ही नामवाले क्यों न हों, जीवन में वे भी आँख-कान मूँदकर ही चले हैं। जीवन नहीं जीया। धन जोड़ते-जोड़ते 'यक्ष' हो गये हैं, धन को बाँटकर अभावग्रस्त लोगों को हँसा-हँसाकर धन्य नहीं हो सके।

उसके सपने में मानो अतीत की कोई युवती परदादी उसे हँसते-हँसते समझा रही है। कितना सुन्दर उसका रूप है, कितना उदार निर्भीक उसका चेहरा, मानो उसके अत्यन्त प्रिय पलंग के पाये पर उतारे गये चित्र उसी की प्रतिकृति हों। हँसते-हँसते मानो वह कह रही है, "तेरी परम्परा में एक जगह कभी मैं भी थी। तेरी परम्परा में केवल ऐसे लोग ही न थे, जो घूँघट खींचे घूँ-घाँ करतीं। हम स्वाधीन भाव से सोचा करतीं, सोच-विचारकर कार्य करतीं। हमने तो यह सीखा था कि आदमी अगर किसी के काम न आ सका तो उसका जीवन व्यर्थ है। अधिक कहने, बात माननेवाला होने पर आदमी कठपुतली बन जाता है।

मन ही मन वह उपदेशों को निगलती जा रही है। अँधेरे से ढँककर माटी आशा और मुक्ति का सपना देख रही है। उसका नया व्यक्तित्व फूट रहा है।

ऐसे न था उस जमाने का समाज। छवि घनी नींद में सोयी सपना देख रही थी। ऐसा न था कि हर बात में माँ के आँचल में बँधी रहे, हर बात में रोक-टोक, डर-भय, बहलाने के लिए हर बात में राम का नाम लो, काम करने के लिए नहीं।

घोड़े पर चढ़ी सुन्दर गहने पहने बच्चों-भाण्डा के खेल खेला करतीं वे परदादियाँ। स्वाधीन होकर घूमा-फिरा करतीं। पुरुषों के साथ उनका आसन समान था। परिश्रमी थीं, विदुषी थीं, कलाविद् थीं। उनकी विशेषता थी उनके सद्विचारों को लेकर। उन्हीं के बल पर वे समाज को प्रभावित कर पाती थीं, तभी उस समाज में स्वार्थपरता कम हो गयी थी। लोग पहले दूसरों की बात सोचते, फिर अपनी। समाज चैन से था। वे भी रहती थीं, चलती-फिरती थीं इसी माटी पर। कैसा समाज गढ़ा जाये कि कोई किसी से ईर्ष्या किये बिना सुख से रहे, कैसा जीवन जीया जाये कि दुःख पास न आ सके। इस बारे में चर्चा करती थीं, यहीं बैठ, इसी गाँव में, इसी घर में।

उसके पिता कहते इसी तरह की कहानी। इतिहास।

परन्तु, यह सपना देख रही है। अपनी पहचानी दुनिया से यह भिन्न है। यहाँ गाँव-वालों में छोटे मन की फालतू की अफवाहें नहीं, लाज या भय नहीं, यह मन खोलकर कह सकती है, "मैं इसी आदमी को चाहती हूँ, यह मेरा स्वामी है।"

उसी सपने में रवि की बगल में उसके सहारे-सहारे रास्ते चलने में उसे बिल्कुल संकोच नहीं। वे चोरों की तरह दुबके नहीं जा रहे। वे जा रहे हैं—गाँव के रास्ते पर, नदी के किनारे, लोगों की भीड़ में। बिल्कुल परिचित, बिल्कुल साधारण है यह राह चलना। स्वामी के साथ सहधर्मिणी होकर।

रवि की आँखों से उसकी आँखें मिल जाती हैं। उसके मन की गहराई में वह पढ़ रही है वही बात—जगत् हँसे, तब हम हँसेंगे, उससे पहले नहीं। दुनिया में इतने रंज, इतना अन्याय-अविचार है, उसके लिए हमारे करने लायक कुछ नहीं! सिर्फ पशु की तरह जीवन जीना! और फिर लुढ़क जाना। ना, हम गढ़ेंगे एक ऐसा समाज जहाँ अभाव, विषमता, आलस्य या अन्याय कुछ न होगा। कोई भूखा न होगा। सब सबके होंगे, सब कुछ सामूहिक। ऐसी दुनिया हम गढ़ेंगे, जहाँ सब भाई-भाई हों, पृथ्वी के इस सिरे से उस छोर तक। जब हमीं में से, जहाँ जो रहे चाहे, दोनों की आँखों से टप-टप आँसू झरते होंगे आदमी की दुर्दशा की बात सोचते-सोचते, वही होगा अपना मिलन का माध्यम, वही अपना लक्ष्य, एक सुखी उद्यम, एक आदर्श, एक विश्वास।

अपने बायें हाथ की हथेली दबा रही है वह। उसकी देह के गहरे तक ऊष्माहट फैल जाती है। फैली जा रही है आशा और उत्साह, किसी के मन की अजस्र अनकही बातें इतने में ही मानो झर पड़ती हों किसी दूसरे की स्नायु में।

आँखों के आगे कितने देशों के कितने दृश्य फैल जाते हैं। व्याप्ति पर व्याप्ति। दूर खोयी लकीर की तरह क्षितिज तक चली गयी है माटी। कहीं समतल तो कहीं लहराती। ऊपर आकाश, उसका कोई अन्त नहीं। वह गाँव-गली बाग़-बगीचे देख रही है, फिर देख रही है अँधेरे के अन्दर टिमटिमाते तारों की तरह शहर की अनगिन रोशनियाँ। समय बदल रहा है, स्थान बदल रहा है, और वह देख रही है—दल के दल हँसमुख आदमी, सौ-सौ नहीं, हजार-हजार। वे सब हँसते-हँसते मिल-जुलकर काम कर रहे हैं। फिर मौज-आनन्द मनाते हैं। चारों ओर फ़सल से भरे खेत हैं। हँसमुख लोग और बड़े-बड़े घरों से भरे गाँव, कोसों तक फैले बगीचे। सबको खूब खाने को अन्न। सब एक-दूसरे को चाहते हैं, अशान्ति नहीं, हिंसा नहीं कहीं भी। आकाश में विराट् इन्द्रधनुष तना है, नीचे हरियाले खेत, हरा वन। सारे आकाश में चिड़ियाँ दल की दल उड़ी जा रही हैं, पंख से पंख सटाये। एक के पीछे एक, आकाश भरते हुए चले गये दल के दल हंस, जिस तरह चिलिका की ओर जाड़े के दिनों में आया करते हैं। चिड़ियाँ उड़ी जा रही हैं। बाज़ वगैरह नहीं है। हजारों-हजार मृग कुलाँचे मारते जा रहे हैं खुशी में, वहाँ बाघ-भालू नहीं है। नीचे फसल कितनी सुन्दर है! और कगार पर बाँकी मुड़ती जाती नदी। और इन्द्रनीलम अनन्त आकाश....और उसके तले स्वस्थ-निश्चिन्त

मानव-समाज....जहाँ एक के लिए हैं सब के सब।

फूलझरा गाँव में 'वारहमाणिया' पर जुटा हुआ है सब्बल और फावड़ा लिये एक दल। उस दल में पाँयचे टाँगे, सिर पर पगड़ी लगाये वई मलिक, विधि पाण, धोवेई मिश्र, अर्गति सोंई आदि हैं। चारों ओर साग-सब्जी का खेत, बीच में यह थोड़ी-सी बंजर-भूमि है, खाली पत्थर। जोर-जोर से वई मलिक ने एक जगह सब्बल मारा, पत्थर ने ऊँ की, न चूँ।

"ऐसे नहीं होगा वई, ठीक जगह खोजनी पड़ेगी।" धोवेई मिश्र बोले, "पत्थर कितना ही बड़ा हो चाहे, खोजते-खोजते भेदने की जगह मिल ही जायेगी....वह देखो, कैसे सफ़ेद-हलद होकर मैली दिख रही है यह जगह। मारो चोट।" सब्बल की चोट से भुर-भुराकर पत्थर झर पड़ा। रास्ता खुल गया। ढीला था सो एक पत्थर भी उखड़ गया।

धोवेई मिश्र बोले, "ये जो पत्थर का टुकड़ा निकला, समझ लो कि बस यही विभीषण पत्थर है।"

"विभीषण पत्थर!" विधि ने कहा। सब हँस पड़े।

धोवेई मिश्र ने कहा, "हाँ, मारना इस पत्थर पर चोट! इस पत्थर पर सब्बल को सहारा देकर उठा, हम सब हाथ लगाकर दबाये रहेंगे। देख कैसे हिलता है। किस जमाने से यह पत्थर यहाँ बैठा था। अब हिल रहा है। ठहर-ठहर, तू समूचा उठ जायेगा, धीरज रख, ऐसे क्यों हो रहा है?"

एक विशाल पत्थर उखड़ा। सबने मिल-जुलकर उसे फेंक दिया। फिर उससे अगले पत्थर पर ज़ोर देकर सब्बल को पत्थर पर चाँपकर फिर ज़ोर लगाया, पत्थर हिल गया। धोवेई मिश्र बोले, "देखो, कितना सहज है अपना काम। गाँव का भेदिया मिल गया। उसे ही पकड़ उभारने लगा गाँव का मामलातकार। तभी फिरंगी सरकार ने इस देश-भर में भेदिये रख छोड़े थे।

वई मलिक ने कहा, "अब की जो पत्थर हटाया, उसकी जगह केवल खाद दिया जायेगा, तब जहाँ घास उगती थी वहाँ आलू उपजेंगे, प्याज पैदा होंगे।"

धोवेई मिश्र ने कहा, "देश-भर में वही करना पड़ेगा, आदमी की बुद्धि, विवेक इसी तरह पत्थर बनकर पड़े हैं, उसे सरस करना पड़ेगा, उर्वर बनाना होगा ताकि वहाँ सद्विचार बढ़ सके।

विधि पाण ने कहा, "उस पर भी क्या होगा? पत्थर चट्टान तोड़ने के लिए भी सही मौसम चाहिए। बरसा धूम-धड़ाके की हो चुकी होगी, तभी पत्थर की फाँक ढीली पड़ी मिलेगी, मेघ ढँके होंगे तो ठण्ड के कारण जितना भी पीटो-पछाड़ो, पसीने की बूँद देह से चूने से रही। ऐसा ही होता है पत्थर तोड़ने का मौसम। और वो जो

पसीने-ऊमस भरे दिन होते हैं, चिलचिलाती, जबतक तिलमिलानेवाली दुपहरिया, उनमें कुछ कर सकना क्या सहज है ? कुछ होगा ही नहीं। अभी जैसे दुनिया-भर के बादल घिरे हैं, तभी चट्टानों को तोड़ना भी अपने आप होता जा रहा है। कहने पर लोग सुनते हैं। यह सामलाती ढंग अच्छा लगा तो एक क्या, आस-पास के पन्द्रह गाँवों में यही बात चल पड़ी, सब जगह सामलाती, सब जगह लोगों ने अपनी मिलकियत साम-लात में दे दी, पहले आजतक किसी से सुनी थी ये बात ? पाँच गाँव की ही तो बात—न मिले तो कौरव-पाण्डवों ने महाभारत खड़ा कर दिया, आज कहीं पर बीघे-बीघे की क्यारी के लिए दस-दस बीस-बीस हजार रुपये फूँककर फक्कड़ बन जाते हैं। किसी ने सुना था कि गाँव-भर के लोग भाई-भाई ? ये सब भी तो समय और मौसम की बातें हैं।"

बई मलिक ने कहा, "'भविष्य मालिका' में तो लिखा है कि यह होगा ही, सत्य फिर आयेगा।"

धोबेई मिश्र बोले, "वो देखो, उधर दूसरा दल कैसे आगे बढ़ता चला गया। बाप रे! कमर तक मुड़ जाते हैं, फिर ऊँचा सीधा उठाकर झुकते हैं और धमा-धम फावड़े की चोटें कर रहे हैं, कुदाल कितने गहरे भेदती होगी। देखो, हमी इधर पिछड़ गये—"

चल पड़ा फिर काम। पत्थर उखाड़ना। माटी ढीली करना। दल के दल जगह-जगह जुटे हुए हैं लौ लगाये। थकावट लगी तो बीच-बीच में थमकर कुछ बात-चीत, वरना काम सम्हाल लेते हैं। धोबेई मिश्र समझाते हैं देश-विदेश की बातें। बोले, "बिशि ने जो सही मौसमवाली बात कही, वह बहुत कुछ सच ही है। धरती को क्या हो गया है, देखो, कि सारे देश के लोग संघ बनाना चाह रहे हैं। रूसवालों ने हाथ के काम को आज बड़ा मान रखा है, वे लोग अपनी देह से भरपूर मेहनत करते हैं, मेहनत के माध्यम ही से वे सबको भाई-भाई बना रहे हैं—हालाँकि 'भगवान् है' वे इस बात को नहीं मानते। चीन की ओर देखो, वहाँ पहले कितने धनी थे, फिर कितने ऐसे गरीब थे कि खाने को नहीं था। अब सब लगभग समान होने को आये। सब मेहनत करने लगे हैं। अपने यहाँ देखो, भगवान् का नाम लिये बिना समानता नहीं आती है—यहाँ के लोग, हजार-हजार बरस हुए, भगवान् के माध्यम से ही मानते आये है कि सब आदमी समान हैं।"

बिशि ने कहा, "सकलदेहे भगवान्।"

धोबेई मिश्र ने कहा, "इस तरह समानता मानकर इस देश के लोग एक हुए थे, संघ गढ़कर सामलाती बने थे। काम की सुविधा की दृष्टि से कोई किसी जगह रहा था, पर बड़ा-छोटा न था। तब सबके पेट भरने के लिए पत्तल भरी थी, दृष्टि शुभ थी। लोग सुख से रहते थे। बाद में जैसे बिशि ने कहा, मौसम बदल गया, स्वार्थ बढ गया, तेरी-मेरी छल-बल बढा, लोग अपने-अपने बीच कलह करने में रहे, घर के कलह से गाँव का कलह, गाँव के कलह से लड़ाई, फिर उसी रास्ते से होकर विदेशों से अरणे शत्रु

घुस आये। वो देखो, शम्भु की तरह सब्बल कितनी जल्दी घुसता है, और गया इतना बड़ा पत्थर, वो देखो उखड़ गया।"

बई मलिक ने कहा, "रवि भाई कहता था कि बुद्ध भगवान् ने जन्म लेकर फिर आदमियों को एक किया था, फिर चारों ओर बढ़ गया था गाँव का सामलात, आदमियों का संघ।" बई मलिक रवि को 'रवि भाई' कहने लगा है, सहज ही यहाँ के लोगों ने अपना लिया है, 'भाई' कहना, 'दीदी' कहना।

बिशि ने कहा, "प्रबुद्ध बुद्ध अवतार।"

धोबेई मिश्र ने हाथ रोके बिना ही कहा, "सच बात है—बुद्धदेव थे राजपुत्र। सब छोड़-छाड़कर बाबाजी बन खोजते-फिरे कि क्या करने से आदमी कष्ट नहीं भोगेगा, सुख से रहेगा। मन्त्र-तन्त्र नहीं, कोई जादू-टोना नहीं, सामान्य आदमी अपनी साधारण बुद्धि से जो सोचता, बुद्धदेव ने वही बात कही। कहा कि सत्य बोलो, प्राणियों की हिंसा न करो, किसी को कष्ट न दो, भाई-भाई होकर चलो, सब मानव समान हैं, सबके प्रति दया रखो, प्रेम करो, चोरी-अन्याय नहीं, बुरे रास्ते न चलो, बुरी बात न कहो, ठगकर, धोखा देकर न खाओ, परिश्रम कर पहले औरों को खिला फिर खुद खाओ। कहा, लोभ न करो, मन में स्वार्थ की आशा रखकर कार्य न करो। जितनी आशा रखोगे, लोभ रखोगे, उतना छटपटाओगे, उसे काट दो, फिर दुःख नहीं रहेगा।"

बिशि ने कहा, "लोगों ने उनकी बात सुनी। दुनिया के लोगों को उन्होंने कितने प्रकार से समझाया। बगीचे में सभा होगी, वे समझायेंगे—यह जानकर कैसे किलकिलाते लोग आकर जुटते बगीचे में। एक जगह खाते-पीते, ओस में सोये रहते, दिन-दिन क्या सप्ताह-सप्ताह-भर। और फिर एक दिन देखते, महापुरुष चले आ रहे हैं। साथ में किस-किस देश के कौन-कौन से महात्मा। आदमी चल रहे हैं हजार-हजार। सारा बगीचा सचमुच जैसे महापुरुषों के पुण्य से महक उठता। चुपचाप बैठ जाते छाया तले, उनके सिर पर से थाली फिरा लो चाहे। आगे वेदी होती, वेदी पर खड़े हो जाते महापुरुष। कितने लम्बे दिखते, लोग बातों ही बातों में कहते भी, 'नारियल महापुरुष।' फिर चलती प्रार्थना, प्रार्थना की हिलोर फैल जाती। वही होता सच, बाकी सब मिथ्या। मानव उसी में मज्जित हो जाता।"

अवाक् धोबेई मिश्र उसे देख रहे हैं, सब देख रहे हैं, किसी का हाथ नहीं हिलता। बिशि पाण मानो दिव्यदृष्टि के बल पर अतीत को देख रहा है। लम्बा-गोरा, चिकने बाल, हाथ से काते सूत से बनी मोटी खद्दर की छोटी-सी धोती बाँधे हैं, कोई हरकत नहीं, खड़ा है एक जगह पर, उसकी गोल-गोल बड़ी-बड़ी आँखें मानो फैलकर खुली हैं। उनपर एक नये प्रकार का प्रकाश फैल रहा है। धोबेई मिश्र ने गम्भीर होकर कहा, "तुम उस सभा में थे बिशि भाई, उसे तुमने जरूर देखा है।"

बिशि कहता जा रहा है, "एक बार क्या, अनेकों बार देखने की तरह लगता है। सबके ठाकुरजी बनकर आये थे। धनी, गरीब, सबके, उनके पास भेद-भाव न था।

भेद-भाव तोड़ने के लिए ही तो वे अवतार बनकर आये थे। वे ही केवल समझते थे—अछूतों का दुःख, जात-पाँत, छुआ-छूत का भेद-भाव उठाकर उन्होंने सबको एक जाति बनाया था। तभी तो वे दुनिया में सबसे बड़े हैं। उनकी हँसी मुरझाती नहीं, उनकी भंगिमा विभंग नहीं होती।"

धोबेई मिश्र ने गद्गद होकर कहा, "बिसि भाई, तेरा पुण्य-बल अधिक है। तू देख पाता है, हमारा वैसा भाग्य नहीं। पर हमारे लिए गुहार कर भाई, जगत्-भर के लिए कह। कह वैसे ही जैसे उस दिन उनकी पुकार कानों में पड़ते ही जगत्-भर के लोग अचेत हालत से चेत में आकर उठ बैठे थे। अब वैसे ही उठें, जगत् उज्ज्वल हो।"

दिख रहा है अतीत मानो हाथ बढ़ा रहा है वर्तमान की ओर। आदमी चल रहे हैं अनगिन, उनके आगे-आगे मानो वह एक है। वे सब निरीह लोग। सभ्य आदमी। सत्य-प्रीति और शान्ति के उपासक हैं। शून्य में दृश्य भर गया। कितने लोग, कितने जनपद, कितने राजपथ। सौम्य शान्तमूर्ति मानव। वे लोग अनुशीलन कर रहे थे जीवन को समझ-बूझकर उपभोग करने का। बुद्धि-विचार से इस संसार के दुःख के कारण का अनुसन्धान कर दुःख को जीर्ण करने का रास्ता लोगों को बताने का। देह के रोग की चिकित्सा करने, जन्तुओं के लिए आदमियों के लिए आरोग्य भवन और भिषक् वर्ग, मन का रोग ठीक करने के लिए संघाराम। वहाँ भिक्षु-भिक्षुणियाँ अध्यापक-अध्यापिका, सब अर्हत।

धोबेई मिश्र कह रहे थे—"और देखो बिसि भाई, चारों ओर जब पृथ्वी मुक्त, शान्त, प्रबुद्ध थी, तभी आकाश की लकीर तक आग का खेल फैलाते, काटते-जलाते, मार-काट मचाते चले आये टिड्डीदल की तरह शत्रु सैन्य लिये रक्त मुँहवाले विजेता गण। तपस्या-भूमि पर राक्षस चरते फिर रहे थे। इतना अगर देख पाते हो तो देखो भाई, कलिंग का वह स्मरणीय दिन, मानो समुद्र ही बढ़ आया साल के वन को खाने के लिए। इधर का एक उधर के सौ, फिर भी वे पीछे नहीं हटे। अपनी धरती माटी के लिए लड़ते-लड़ते सो गये हजारों-हजार। जल उठे चारों ओर, पहाड़ की तरह ढेर लगा दिया आदमी के मुण्डों का। आदमियों के रक्त की नदी बह चली। फिर देखा, इतनी विभीषिका में भी संघाराम से निर्भीक भाव से चले आ रहे थे अर्हत—दल के दल।

उसी मरण-भूमि पर खड़े होकर प्रार्थना की। संघ की तरह गम्भीर मुँह से कहा, तुम मरे नहीं, तुम धन्य हो गये। तुमने अपना कर्तव्य किया है और देह छोड़ गये हो, तुम्हारी आत्मा मरी नहीं, तुम हारे नहीं, तुम जीते हो।"

और स्वतः शिथिल हो लड़खड़ा गये समुद्र की तरह असंख्य हाथों से शस्त्र गिर पड़े, लज्जा से नीचे झुक गये उनके चेहरे। इधर-उधर यहाँ-वहाँ खड़े होकर देखा, कितने नर-मुण्डों का मन्दिर खड़ा था—नीचे चौड़ा, ऊपर संकरा। जैसे सारे मुण्ड आँख मींचे प्रार्थना सुन रहे हों—उसी भंगिमा में पड़े थे। सच, जैसे गमन का भाव फैल गया उन चेहरों पर प्रार्थना के शब्दों में। चल पड़ी प्रार्थना।"

"सुनो भिक्षु ! मृत्यु भी ससीम है, मृत्यु के भी आँख है·····।"

ऊपर देखा, पागल की तरह दौड़ा आ रहा है कोई। अपनी राजपोशाक उतारता-फेंकता। फेंक रहा है अपना राजमुकुट, अपना खाण्डा, अपने अधिकार के सारे चिह्न-प्रतीक। प्रार्थना मण्डली के आगे लम्बा पसरकर भो-भो रो उठता है। कह रहा है कि मुझे क्षमा करो, मुझे क्षमा करो। मैं ही हूँ वह पापिष्ठ अशोक। मैं ही उतनी नर-हत्या के लिए, विभीषिका के लिए दायी हूँ। कोई उसकी बात सुन नहीं रहा। चल रहा है प्रार्थना का संगीत। धीरे-धीरे वह भी शान्त होता जा रहा है सिर झुकाये आगे खड़ा है। धीरे-धीरे उसके गले से भी आ रहा है प्रार्थना का संगीत। यह मानो कोई और ही है। यह निष्ठुर नहीं, हृदयवान् है, इसका स्वर कर्कश नहीं मधुर है। यह विजेता नहीं, विजित है। धीरे-धीरे ढाल-तलवार वर्म-शिरस्त्राण दूर फेंक उस प्रार्थना में मिल जाता है असख्य सेना का पारावार। मरण का रूप छोड़ वे भृत्य बन जाते है जीवन कार्य में। शान्ति सेना, जैसे कि वहाँ समग्र मानव-जाति जमा हो गयी है, सबके हृदय से निकल रही है एक आकुल प्रार्थना—"हे बुद्ध, शान्ति आये ! हिंसा का लोप हो ! मृत्यु मुरझा रही है, लाल-लाल कितना बड़ा सूरज उगा है।"

किस पुराने जमाने से यह नीम का पेड़ है। उसके तने में से आधा तो दीमक चाट गयी है। खोखर, और माटी, उधर जो दूसरा हिस्सा खड़ा है, सिर्फ़ उसकी ही चौड़ाई चार हाथ होगी। ऊपर पुरानी डालें सब गयी—एक ओर हाथ बढ़ाये छाता दिखाने की तरह, पतली डाल पसर गयी है, पेड़ की एक मात्र शाखा, उस पर अनेकों छोटी-छोटी डालियाँ, अनेकों लाल-हरे घने पत्ते।

उसी के तले छाया में है ग्यारह लोग। उनमें दोवेई मिश्र बातें कह रहे हैं, और बाकी लोग चुप-चाप उधर देखते बैठे है। धूप आ गयी सिर पर, किसी का उधर ध्यान नहीं। वे उन्हीं बातों में डूबे है। आगे वही पथरीला-कंकरीला कटीला वन, जिसे खोद-उलीच कर कंकड़-पत्थर उठा रहे थे। तनिक हटकर अमराई, यह जगह बाहर है। जगह-जगह झुरमुटों के नीचे से हाथ भर लम्बी-चौड़ी पाँच-छह अंगुल मोटी बड़ी-बड़ी ईंटें यहाँ से निकलती, एक-एक नहीं; मानो ईंटों की कोई खान है। कोई कहता, पहले यहाँ किसी राजा का महल था, ढह गया है। फिर कोई कहता कि यहाँ कोई बड़ा गढ था।

नीची जगह, वहाँ केवल बेरों की झाड़ियाँ, खिरनियाँ भरी है। उसके चारों ओर ऊँचा टीला-सा होकर एक मेड़ के चिह्न हैं। उसके ऊपर चारो ओर जगह-जगह बघनखी, बेंत के झुरमुट, छोटे-छोट बबूल। उसी नीची जगह को दिखाकर कहते कि उस जमाने में कोई पद्म पोखरी थी, उसके बीच दीप-स्तम्भ था।

और कहते है, यहाँ किसी टीले तले पुराने खाद हुए चावल निकले, काले स्याह

कोयलों की तरह। ढलती चली गयी है यह जगह धान के खेतों की ओर, धान की जमीन लम्बी धार को तरह फैली है। धान की जमीन के उधर, दिखता है दो माव चौड़ाई में बालू, धान की जमीन के किनारे-किनारे वह बालू भी फैल गयी है दूर तक। कहा जाता है कि खेत और बालू मिलकर कोई पुली हुई नदी है।

वहां की कई बातें लोग कहा करते है। कहते है, वहां सोने का पद्म है, सोने का खाण्डा है, सोना तो बस यहाँ-वहाँ इतना गड़ा पड़ा है कि कितने ही लोगों ने चुनकर घर भर लिये है। दिखाते दाहिनी ओर तनिक नीचे जहां तीन आम के पेड़ एक साथ हैं, उनके नीचे जो धान का खेत है, उसी को; वह जो खुरदरा पत्थर लम्बा होकर पसरा पड़ा है उससे दो हाथ छोड़कर, खस के झुरमुटे के इधर। कहते हैं हल चलाते-चलाते फाल से टकराकर वहीं एक बार सोने का मुकुट निकला था, उसमें क्या कुछ खुदा था, कोई पढ़ नहीं सका, उसे काटकर तोड़-फोड़कर, टुकड़ा-टुकड़ा कर सब ले गये। और कई लोगो का कहना है कि कितना सोना 'यक्ष' हो गया है। रात मे रोशनी कर वे लोग इधर-उधर सारे कांटेदार वन में आना-जाना करते रहते है, एक लठ मारने पर यक्ष मरकर सोना बनकर वहीं ढेर हो जाता, पर जो ऐसा करता उसका वंश निपात हो जाता, अत. 'यक्ष' के शिकार करने को किसी का मन नहीं करता। कहने-सुनने की तो कई बातें है, किसने क्या सुना, किसने क्या देखा, इसी तरह की नाना बातें। झांझ-मृदंग सुनने से बीरी चकुली (उड़द की पीठी) तलने की महक तक। कभी केवड़े के झुरमुट के नीचे बच्चे की रुलाई सुनाई पड़ती, आधी रात गये कभी किसी का बिलखना सुनाई पड़ता, इसी तरह की कितनी कहानियाँ हैं—पर वे सब रात की बातें है—और विश्वास की।

ये जो मोर्चा खाये सांवई रंग का मोटा-सोटा नेवला कितनी बार आना-जाना कर चुका है इस रास्ते, इधर-उधर अपनी चंचल दृष्टि डालता झाड़ी में घुस फिर निकल आता है, फिर घुस जाता है, वह कभी भी 'यक्ष' नहीं हो सकता। वह नेवला ही है, चें-चें करते ये जो कजलौटे उड़ रहे है झुण्ड के झुण्ड वहाँ, कीड़े को खाने के लिए, वे सिर्फ कजलौटे ही है।

उसका सौन्दर्य है वही बेरों की झाड़ियों के गोल-गोल झुरमुट, पास-पास, उनमें गुच्छे के गुच्छे सफेद-सफेद फूल। मोम लगाने की तरह चक-चक करते मोटे-मोटे छोटे-छोटे पत्तों की सघनता, परत के परत बेशुमार गुच्छे के गुच्छे गाढ़े हो सिरे ललचाते पड़ते जा रहे हैं। दूधिया, कड़े सख्त बेर गुच्छे के गुच्छे, चिकने गोल नन्हे-नन्हे कुम्भ की तरह, तनिक लम्बे होकर लटके हैं, और उसी तरह हल्के हरे-हरे झाड़-झंखाड़, उनके नाना आकृति के पत्ते और पेड़। वहाँ विच्छो के पत्ते भी गहरे सब्ज रस से भरकर सुन्दर दिख रहे है, उनके आगे कितने सुन्दर सुण्ड, जगह-जगह कितने सुन्दर तोतई पत्ते, चौड़े-चौड़े, लम्बे-लम्बे, दूसरों पर मानो बिछे हुए हैं, पानी पर तैरते-से। बरसा में हलकी-घनी भरी-भरी घास बढ़ गयी है। धरती पर जाति-भाँति के नन्हे-नन्हे फूल, रंग-रंग के, लाल-बैंजनी, गाढ़े नीले, सफेद, मानो पन्नों काटकर सजा दी गयी है, घास-

पास, देखते ही आँखों में आ पड़ेगी, वरना पैरों तले रह जायेंगे सैकड़ों। वे ही कतार की कतार में नन्ही-नन्ही लतिकाएँ चल रही हैं, जैसे कि कोणार्क के तोरणद्वार पर सुई के काम की तरह शिल्प हो। माप-नूपकर उसे भंगिमा दी है, छन्द से मोडा है। रंगों के तले उस चित्र की पृष्ठभूमि है माटी। खूब हलकी, सूक्ष्म, मिले-जुले उसके अवर्णनीय रंग, कर्कश नहीं कोमल, बिलकुल अपनी ही, एकदम सहज जानी-पहचानी बातें याद दिला देतीं, रोज की देखी दुनिया के रोजमर्रे की घर-गिरस्ती की बातें, जच्चाघर से लेकर मशान तक की।

वहाँ वीरानी का भी अपना एक प्रकार का सौन्दर्य है, लोकालय से दूर, अयत्न से रखे-पड़े रहने पर भी इस दृश्य की अपनी स्वाधीन-स्वतन्त्र विशिष्टता है।

रात में बरसा की धार से बाम्बी के सिरे का एक भाग ढह गया था। फिर दीमक लग पड़ी है उसे गढ़कर तैयार करने को, और थोड़ी देर में वह कमी पूरी कर नया रूप लिये खड़ी हो जायेगी, भुला दी जायेगी वह बात कि कल जो था, सो आज नहीं।

उसी के नीचे-नीचे अतीत का इतिहास सचमुच जैसे अपनी गहरी नींद में भूला हुआ सोया पड़ा है। कोई गढ, कोई राजा, पीढ़ी दर पीढ़ी सुख-दुख की घर-गृहस्थीवाला कोई नगर, कोई जनपद, पराये देश या पराये लोगों पर अपनी कड़ी नज़र अपना बड़प्पन और-दबाव देकर लाद देने को कितना कुछ करते जिसे लोग कहते युद्ध-अभियान। कितने नृशंस बर्बर हत्याकाण्ड, जिसे कहते रण की निपुणता। कितने अन्ध आस्फालन, जिसे कहते घोषणा। कितने बड़ाई के बोल, जिसे नाम देते वीरत्व। याद ही याद में झनझना उठती बैलों की घण्टी की तरह बन्दियों की मोटी जंजीरें, उठती विकल चीख़ की कान फोड़ती झड़ी, श्रम और त्याग से जीवन-भर की चेष्टा द्वारा सहेजी रखी सम्पदा या कीर्ति निर्दयी अविचारी नृशंस हत्याकारी गुण्डों के पैरों तले रौंदी जाकर लुप्त हो जाती। जीवन के लोभ से कवि और पण्डित होते गुण्डों के प्रचारक। उनके भाट उनकी अपकीर्ति को, असभ्य बर्बर लज्जाजनक कहानी को काव्य द्वारा अथवा शिलालेख पर वीरत्व की प्रशस्ति बनाकर रख जाते। यहाँ भी पता नहीं वैसा ही हुआ होगा, नर-मुण्ड का शिकारी आदिम असभ्य मानव की परम्परा में—वही युद्ध, देश-जय, लूट, अत्याचार, रक्तपात की पुरानी कहानी, मार-काट, हिंसा और कामना का ताण्डव हुआ होगा।

फिर असीम त्याग का, असीम सहिष्णुता का, असीम साहसिकता का, नैतिकता का, पराये दुख में कातर हो परोपकार के लिए अपना जीवनदान देने का इतिहास भी होगा—यहाँ बार-बार।

और वह मौन कहानी, जो आदमी के गहन मन में भावना बनकर उगती है, भावना बनकर अस्त होती है, खूब सूक्ष्म स्नायुओं में सूक्ष्मतर भावप्रवाह बनकर पिण्ड के ब्रह्माण्ड में निमेष-भर के लिए फैल जाती है, फिर पिण्ड के बाहर निमेष-भर के लिए जाकर घूम आती है, परन्तु स्थूलतः घटना नहीं घटती, नीरवता में कभी खो

जाती, कभी एक क्षीण दीर्घ श्वास उठाकर अन्तर्हित हो जाती । लेखा-जोखा करना भी मुश्किल । अनदेखी-अनसुनी कहानियों का, वे भी यहीं कितनी उलझ होकर विलीन हो गयी होंगी ।

सब पर विस्मृति की परत की परत । मोटे कम्बल-जैसा ढक गया है समय-समय के साथ धूल-माटी, जन्म, ध्वंस, पुनर्जन्म, सोये इतिहास पर, सोये गढ़ पर बेर फैलकर रुपहले सफेद फूल खिला रहा है, सजाये हैं नन्हे-नन्हे कुम्भ की तरह के बेरों के गुच्छे के गुच्छे, वही जिसके वृन्त में काँटे हैं, अन्दर है सफेद दूध, यह काँटे बाहर वाले हैं, फिर क्षीररस भरा कुम्भ भी ।

उसी घने-घने परदे के पीछे किसी करुण सौदागर ने फिर सजाकर अपना लिया था जीवन की कारीगरी को । अन्त में स्वयं रो-धोकर, अनुताप कर पाया था पुनर्जन्म । चण्डाशोक अस्त होकर उदय हुए थे—धर्माशोक ।

"कौन जाने, हो सकता है, इसी माटी में कहीं यह पोखरी दबी पड़ी है, नहीं हो गयी है, धान के खेत और बालूचर, किसे पता, कहीं हो ।" पोवेई मिश्र कहते जा रहे थे, "तब सम्भव हो सका था, दो ढाई हजार बरस पहले, अब आज भी सम्भव होगा । वही आकाश है, वही सूरज है, वही पृथ्वी है, फिर होगा वही, अवश्य स्वयं, हिंसा और युद्ध की आग चिरकाल के लिए बुझ जायेगी इस पृथ्वी से ।"

बिशि पाण ने कहा, "यह माटी की मुट्ठी, पता नहीं कितनी पुरानी है ! कितने जमाने की है !"

पोवेई मिश्र ने कहा, "ठीक बात है ।"

बिशि ने कहा, "यह किसी की नहीं ! सबको पोसती-पालती है, पर किसी एक की नहीं । कहते भी तो हैं कि 'बेंकोलि साहू दण्डा, जे कहिबो मोर बोलि ता बडस लण्डा' (बेकुली साहू का रास्ता, जो कहे 'मेरा' उसका बंश डूबा ।) ऐसे ही पड़ा होगा, लोग आकर नाच-कूदकर चले जायेंगे !"

बई ने कहा, "तो क्या लोभ को छोड़ देंगे ? अपनी देह की जरा-सी मैल माँगने पर तो देते नहीं ।"

साधु जेना सिर नीचा किये पान लगाने में लीन था । केवल अपने लिए ही नहीं, एक साथ दस-बारह पान । सबके हाथों में एक-एक पान बढ़ाकर अन्त में एक खुद भी खाया । बिशि ने कहा, "तेरी पान की डिबिया खाली हुई ।"

साधु ने कहा, "फिर आयेगा, अभी सबका मुँह लाल तो हो पहले ।"

बई ने कहा, "अच्छा जायकेदार पान लगानेवाला हाथ है तुम्हारा तो साधु भाई, पर देखो गुण्डी (तम्बाखू) कुछ कम रह गयी, थोड़ी-सी बढ़ाना ।"

बटुवा खोलकर थोड़ी-सी गुण्डी बढ़ाकर साधु जेना ने कहा, "देखो भई, जरा सँभलकर, बहुत कड़ी है ।"

चर्चा में भाग लेते हुए साधु जेना ने कहा, "कितने हजार-हजार, लाख-लाख

ठाकुरजी के मन्दिर और देवल इस माटी तले दबे हैं, किसने हिसाब लगाया ? यह सारा देश ही वैसा है। माटी खा-खाकर प्रतिमाएँ पड़ी हैं, किसी पहाड़ पर, किसी खेत में, किसी रास्ते पर। चिकना काला पत्थर, सचमुच जैसे मक्खन लिपा हुआ हो। चेहरे पर, आँखों में कैसा भाव है ! पत्थर को पालिश कर ऊँचे-नीचे कर कैसी कला भरी है किसी कारीगर ने, कि इतने युग बीत गये, उसके चेहरे से हँसी धुली नहीं। एक-एक पत्थर पर इतना बारीक सूई का काम, इतनी कलाकारी से भरा काम—लता, पत्र, आँख, बाल, नख-दाँत। कोई पत्थर उजाड़ में पड़ा है तो कोई किसी के गुहाल में बिछा है, फ़र्श बन गया, किसी का चबूतरा बन गया। सचमुच जैसे वह भटक रहा है। पर वह क्यों गढ़ा गया था ? कितना समय, कितना पैसा खर्च हुआ होगा उसे गढ़ने में ? छोड़ो, उसका जुग गयो। मेरे बचपन में मैंने गाँव में देखा है पत्थर की औरत का धड़ पड़ा है, गरदन नहीं और कमर से नीचे का नहीं, बस आबू की तरह उठे दो थन, उन-पर बारीक-बारीक कितना खुदाई का काम हुआ था। हाथ से छूने पर कितनी चिकनी, पर वो तो हुई त्रिभंग पत्थर की मूर्ति, देवी या मानवी जानने की क्या जरूरत। पर बचपन में देखा, रास्ते पर पड़ी थी। लोग उसके थन पर घिस-घिसकर कटारी पजाते !"

"थन पर कटार, अच्छा योगायोग मिला।" विधि पाण ने कहा।

"अरे भाई, वही तो मैं सोच रहा था। सोच क्या रहा था जानते हो, सचमुच का यह आदमी होता। आदमी के धड़ की तरह दिखता है कभी-कभी, सचमुच अगर आदमी होता तो इसके थन पर भी ये लोग कटारी पजाते !"

सब हो-हो कर हँस पड़े।

"सोचता था, आदमी न सही पत्थर हुआ, देखने पर तो आदमी की ही याद आती है, जिन थनों के प्रति आदमी में जनम से बड़े होने तक इतना चाव है उनपर कटार पजाये बिना क्या कटार में धार नहीं होगी। कभी-कभी देखकर मैं सोचता, और सिहर उठता था। मुझे लगता था, ऐसे ही, आदमी के मरने पर जब उसकी लाश को खींच-खाँचकर गिद्ध-सियार-कुत्ते नोचते होंगे तो क्या वह जानता होगा ! आबू बने कटार घिसे वे थन जब याद आ जाते तो मैं कहता, आदमी का जीवन ऐसा ही होता है, संसार ऐसा ही है, घर-गिरस्ती यही है, ओह !"

बई ने कहा, "नहीं, कटार कहीं और घिस-घिसकर पजाते; साधु भाई, तो मन ऐसा न होता, बस वे दोनों थन हैं न, इसीलिए कसक होती है। माँ से दूध पीया था ना, देह कैसे सहे ?"

साधु जेना ने कहा, "तुम सब हँसी में उड़ा देते हो, बताओ तो देखें, उस मूर्ति के क्या कभी दिन न थे, उसे देखने क्या कभी लोग जमा नहीं होते थे ? अगर वह देवी होगी तो कितनी बलियाँ पड़ी होंगी, कितने लोगों ने सिर नवाया होगा, कितनों ने मनौतियाँ मानी होंगी। पूजा-ओझा पर्व-त्योहार कितना कुछ होता रहा होगा ! सब गया, उसका योग पड़ा कटार घिसने का !"

मई ने कहा, "फिर, उगपर, और कहीं नहीं, छाती पर—"

माधु जेना ने कहा, "कहा भी तो करते हैं कि आलू खोदते-खोदते महादेव निकले। बात सही है, ऐसा भी हुआ करता है। खोदने की क्या जरूरत, छूटे ही यों भी तो कितने महादेव हैं। वन-निर्जन में बिखरे पड़े हैं जगह-जगह, बीच में टूटे मन्दिर, या कोई ठीक-ठाक हालत में, जहाँ कभी-कभार पूजा हुई तो हुई, नहीं तो नहीं। बड़े-बड़े लिंग, कुण्ड नहीं पायेगा, वह शक्ति तो साक्षात् बलाई की तरह, सिर्फ जन्तु-जानवरों की जगह, आदमी के पाँव कभी पड़ते नहीं। बताओ तो देखें, देवता गढ़ने के लिए कितने कारीगर लगे होंगे, फिर मन्दिर खड़ा करने में कितना धन खरच हुआ होगा! ठाकुरजी की प्रतिष्ठा पर कितना महोत्सव मनाया गया होगा। कितनी पूजा-अर्चना, कितना कुछ हुआ होगा! कितने युगों तक लोगों ने उन्हीं देवों का नाम लेकर नियम-शपथें ली होंगी, कि इस जन्म में सुख-शान्ति-बड़प्पन मिले, अगले जन्म में स्वर्ग मिले। गया किधर वो जमाना? इतना सारा धन-रत्न खरचकर जो इन्हें गढ़ गये वही पुरुष-भर ऊँचाई के वंशीधारी कृष्ण, या चतुर्भुज माधव, या दुर्गा या शिवलिंग या बुद्ध या हनुमान् या कुछ और—वो पत्थर की कारीगरी जिसे आज का मानव कर ही नहीं पाता—वही बेंत लिपटी काँटे-झाड़ी के बीच तो वही नदी के कगार पर—तो वही रेत के तले फेंककर वे सारे लोग कहाँ चले गये! वे मन्दिर—वह पूजा—सब कहाँ गया!"

विशि पाण ने कहा, "बताऊँ, एक बार क्या हुआ। लोग कहते, वहाँ तिमुहानी थी, अब तो केवल एक नदी है, और भी कोई धार थी सो मिट गयी, बस बालू की दूह है, उसपर केवड़े का वन। केवड़े के झुरमुट के पास बाम्बी की तरह माटी की ढेर थी। जैसे कोई बड़ा पुराना केवड़े का पिण्ड हो। एक बार अच्छी तरह बरसात बरसा हुई, उस केवड़े के नीचे से पत्थर का मुँह निकला। चारों तरफ हल्ला हो गया। लोगों ने आ-आकर ठीक से माटी हटा दी। निकले एक चतुर्भुज ब्रह्मा, एक कन्धे पर चारों दिशाओं की मुँह किये चार सिर, कमर तक ऊँचे, ध्यान में बैठे हैं, नीचे पद्म का आसन। सचमुच जैसे मन्त्र बोलते-बोलते ब्रह्मा पत्थर हो गये हैं। हमें बुला ले गये थे ढोल बजाने। कितना ढोल सुना होगा उन देवता ने। उनका ध्यान बिलकुल नहीं टूटा, एक जगह पुरुष-भर गहराई तक एक पत्थर की चट्टान थी। कहते हैं, वह महादेव के देउल के बेड़े के अन्दर का भाग था, बीच में महादेव भी होंगे, उन्हीं के नाम पर उस गाँव का नाम रामेश्वर है। तिमुहानी के ठाकुरजी। उस जमाने में पुकारने पर 'ओ' कर उत्तर देते थे। और अब बालू के अन्दर समाये हैं।"

धोबेई मिश्र ने सिर को एक ओर ढुलकाया, आँखें सँकरी कीं, मानो वे शून्य में दिव्य दृष्टि लगाये दूर देख रहे हों। उनका गोरा गोल चेहरा, घने सिर के बाल और दाढ़ी मिलकर लगता था जैसे सपने में हों, फूल खिलने की तरह थमे हुए मानो वह भी केवल माया है, आदमी का चेहरा नहीं, देखते ही देखते बुझ जायेगा।

गहरी साँस छोड़कर कहा, "धूल से भी घना होकर समय अपनी परत पर

परत डालता जा रहा है, सब कुछ को पोते जा रहा है। खोजने पर नाम तक मिलेगा नहीं, रूप फिर कहाँ से मिलेगा ?

समुद्र-बालू में सीपियाँ दबी पड़ी हैं, कौन खोजता है ? कौन पायेगा ? कौन बतायेगा वो हिसाब कि यह किसकी कौन-सी है ?

चिलिका में चिड़ियाँ देखी हैं ? 'नलवन' के टीले पर ? पानी और आकाश सारा मानो चिड़ियाँ हो जाता है। नीचे से ऊपर तक परत की परत, दूर-पास, सब जगह। किसे कोई क्या पहचानेगा ? कौन-सी कहाँ है ?

आकाश में किसने पंख फड़फड़ाये, कौन चिड़िया किधर से कब आयी, किधर वह चली गयी। फिर आकाश धुल-पुँछ गया है, नयी चिड़ियों के लिए। कौन-सी खो जाती है निमिष-भर के अन्दर। किसी के नाम के लुप्त होने में कुछ हजार बरस लगते हैं। राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, चैतन्य को हम अबतक नहीं भुला सके हैं, महात्मा गान्धी की पूजा करना शुरू किया है हमने उनके तिरोधान के कुछ ही बरस के बाद। परन्तु युग-युग में भगवान् ने दुष्कृतों का ध्वंस कर धर्म-स्थापना के लिए इतने अवतार धारण किये, फिर सारी दुनिया में अगणित लोगों के हृदयों में सद्विचार भरे, कण्ठों पर सरस्वती बिठायी, कहाँ गये वे सारे अवतार या वे सारे महापुरुष ? उनके नाम भी किसी ने याद नहीं रखे !

परन्तु नाम चाहे याद न रहे हों, सत्य को तो भुलाया नहीं जा सकता। युग-युग में महापुरुषों ने सत्य को प्रकटित किया है। वे सत्य कैसे किधर से आये ? क्या किसी की मनगढन्त बात है ? सो नहीं। युग पर युग बीत गये, दल के दल लोग जीवन बिता गये ! कितनी ज्वाला, कितना ताप, कितना संहार, कितनी दुर्दशा के बीच दिन बिताकर वे लोग जो प्रमाणित कर गये, उनकी अभिज्ञता, उनकी अनुभूति से जो निकला, सारे देशों का, फिर सर्वकालिक उसी पर विचार कर, उसे मानकर महापुरुषों ने सत्य का अनुसन्धान किया और उस सत्य को दुनिया को दे गये। देवता भुला दिये गये होंगे, महापुरुष भुला दिये गये होंगे, पर वह सत्य भुलाया नहीं जा सकेगा। आदमी उस सत्य का पालन न कर सकने पर भी स्वीकार तो करेगा कि यह सत्य है, अपने जीवन को उन्नत करने के लिए आँखों के आगे रख-मानकर चलने के लिए उन सत्यों की आवश्यकता है। इतना तो वह मानता होगा, स्वीकार करता होगा। सब एक परमेश्वर की सन्तान हैं—यह उसी तरह का एक सत्य है। सारे घटों में परमात्मा है, कोई छोटा नहीं—ये भी उसी प्रकार का एक और सत्य है। दुख या सुख की चेतना देनेवाला यन्त्र यह मन है, मन को ठिकाने पर रखे बिना शान्ति नहीं। यह भी उसी तरह है। दूसरों को रुलाने पर, वह चाहे जितना बड़ा आदमी हो या राज्य हो, एक दिन स्वयं गिर पड़ेगा—यह भी एक सत्य है। सारे अनर्थों का मूल स्वार्थपरता है, सारी अशान्ति की जड़ हिंसा है, सारे पापों की जड़ झूठ है। ये सब भी उसी प्रकार के एक-एक सत्य हैं। सारे आदमी भाई-भाई हैं, इस संसार में सबका अधिकार है, यह भी एक सत्य है।"

सब चुप थे। साधु जेना ने कहा, "मैं भी एक सत्य के बारे में कहूँगा। खेत में दिये जानेवाले जितने खाद हैं, उनमें सबसे अधिक गुणकारी खाद कौन-सी है?"

किसी ने कुछ, किसी ने कुछ कहा। साधु जेना ने कहा, "बात जमी नहीं। जिसका बल सबसे अधिक है उस खाद का नाम है आदमी का पसीना।"

सबने हँसते-हँसते कुदाल-गैंती उठायी और काम पर उतर पड़े।

सुबह छवि ने आँखें खोली। पानी मूसलाधार बरस रहा है, निरन्तर झड़ी लगी हुई थी, मानो ऐसे ही था सदा से, जब से यह पृथ्वी बनी, इस सृष्टि के साथ-साथ वह खुद भी पैदा हुई है, वह और छवि, तभी से।

परन्तु अलगनी से अँगोछा खींचकर बदलते समय बादलों की भाप से भीगी खटवासी वह मैली धोती देह को सुहाती ही नहीं। वह मानो अपने भीतर की ऊष्मा जैसे स्वयं अनुभव कर रही है। लगता है बाहर मेघ है, परन्तु अन्दर है तेज कल्पना और सपनों के अन्दर का तेज। देह की ऊष्मा सब उसी एक केन्द्र से निकल रही है, कहीं अपने अन्दर किसी गहन में उसका घर है। बरसा की तरह वह भी जल रही है निरन्तर, रक्त के कणों में, भावना के छोटे-छोटे बिन्दुओं में, दृष्टि के निक्षेप में, चलते-फिरते, उसी जीवन की ऊष्मा।

शीत बरसा में मानो दुगुनी होकर निकलती।

टूटे घरों में, टीले और ढूहों पर, फूटे झोपड़ों की खुली बाड़ी पर मूसलाधार गिर रही है बरसा। बस चारों ओर पसरा पड़ा है। परन्तु कभी इतने घर-बार थे, सो उसे याद नहीं पड़ते, मानो उन आँखों को कभी खाली दिखा ही न हो। सहज बनकर वह परिस्थिति उसकी चेतना में मिल गयी है—जैसे यह घर, जैसे पिता, जैसे माँ।

वहाँ बरसा ढेर हो पड़ रही है, देखते-देखते मन के अनजाने ही मन में कौंधा जाता है सर्जन का मोह, आवेग, अलस लास्य भी, वही जिसके तले छुपी है उसके मन के गहरे नीचे कोई प्रतीक्षा। अन्यमनस्क हो जाती है छवि। मुँह तनिक मुसकराहट में अधखुला-सा दिख रहा है। आँखें बाहर की ओर होते हुए भी दृष्टि अन्दर की ओर टेढ़ी चली गयी है।

वाह! कितना सुन्दर! कितना सुन्दर! इस तरह कि मन के अन्दर पुकार मची है। बरसा की पैनी धार के सिरे से हुलसती देह को तीक्ष्ण स्पर्श से फोड़-फोड़कर दागने की तरह। एक बार नहीं, अनेक बार। इस अनुभूति ने कितनी बार उसकी देह को वेधकर छापा मारा था—याद नहीं। हो सकता है, एक नहीं कई बार। उसी को याद करते समय मन में जाग उठा है विपुल शक्ति का वेग। वह गढ़ता है, रौंदता जाता है, पराजय मानता नहीं। वह भी किसी घरौंदे के खेल के समय किस धुन में खोज

पाया था, जब सोचा था, मेरा चेहरा उतर जायेगा तो जगत् मुरझा जायेगा, मेरे हँसते सबके चेहरे खिल उठेंगे, बाड़ी में, घास में फूल खिलेंगे।

इसी बरसा के ऊहापोह के बीच सचमुच जैसे अपने अन्दर नये प्रकार से सज-धजकर नया रूप प्रकाश पाता है। कान लगे हैं दूर की आवाज पकड़ने को, उसी आनेवाली पगध्वनि के लिए। आये चाहे न आये, उसे परवाह नहीं, वह मात्र आग्रही है—उस पगध्वनि के संगीत को सुनने के लिए।

सहजन के पेड़ के पास उधर से अचानक निकले गुरु और गुरु की माँ। मैले कपड़े पहने, झुके-झुके आ रहे हैं। गुरु की माँ की पीठ पर बड़ी-सी फटी धोती।

"काकी, किधर चली ? नदी की ओर नहीं चलना ?"

"चल-चल ! बरसा से क्या डरना ? ये तो दिन-भर लगी ही रहेगी।"

"हाँ—कौन-सी कोस-दो कोस है, छाजे तले तो पानी, पैरों तले तो गंगा पधारी है, और क्या ?" छवि की माँ ने हँसते-हँसते कहा।

"छवि जीजी," गुरु बुलाता है।

"तू किधर निकला, नन्हा-सा तो छोकरा, आ, चल आ ऊपर।"

"हमें छोड़ देने पर ये घर-द्वार की चीजें सलामत रहेंगी।"

"अच्छा, अच्छा, चल, मैं आ रही हूँ—"

अब की बरसा में देह सिहर उठी। आवेग नहीं, उच्छ्वास नहीं, स्वर्ग की धारा नहीं, बस केवल बरसा। "माई रे, कितने दिन लगी रहेगी, पता नहीं? आदमी तो परेशान हो जायेगा।" छवि की माँ ने कहा, "उसकी बात क्या कहती हो ? अरी, आज तो घर में जलावन भी कुछ नहीं। तुमसे एक टोकरी कण्डे लिये बिना नहीं चलेगा। छान के सिरे पर से टूट गयी थी, उसे जलाते-जलाते सारी खत्म हो गयी, काठ को काट-छोलकर सुखाया था जो, पर वह तो भीगा-गीला है। और क्या हो ?"

पच-पच चिप-चिप बरसा का मौसम। छवि को लगा, घुल-मिलकर चारों ओर जैसे एक गँदला नाला। फिर सँहुड़ा के पेड़ से एक दातून तोड़ना, फिर केवड़े की वनी के उधर बैठ जाना, फिर हरि साहू की दुकानवाला ढलान पार कर रास्ता छोड़ तटबन्ध के नीचे की ओर आकर वहाँ डुबकी लगाना, और तब थरथराते आधे दौड़ते हुए घर की ओर मुँह किये लौटना—रोज की तरह आज भी वैसा ही।

वे लोग चल पड़ीं।

"हे महाप्रभु !" छवि ने कहा, "नदी कहाँ थी, "और अब आकर कहाँ तटबन्ध के सहारे आ पहुँची !"

"अरी हाँ, हाँ !" गुरु की माँ ने कहा, "माई रे, ऐसे बढ़ती रही तो गाँव-गली सब ग्रस जायेगी !"

"चलो, जल्दी काम खतम कर लो," छवि की माँ ने चेहरा तमतमाकर कहा, मानो कोई विपद् आसन्न हो, जल्दी काम किये से ही उससे रक्षा मिलेगी।

"वो देख, कितना बड़ा पेड़ बहता जा रहा है," छवि ने हाथ से दिखाया।

"अच्छा, अच्छा, चिड़िया की तरह बाद में चीं-चपड़ करना, नादान लड़की! आ, नहला दूँ।" उसकी माँ ने धमकाया।

"वह देख, नाव! एक, दो, तीन—"

"हाँ, नाव!" छवि ने अध-नहाये ही देखा। गम्भीर होकर बहती चली जा रही हैं, कितनी दूर। पतवार से खे रहे हैं।

"क्यों री, बदन पोंछा नहीं, क्या खड़ी-खड़ी नाव देख रही है। नया पानी है, देह पर असर करेगा। जल्दी कर।" माँ जोर से कह रही है।

पैर में कुछ फँस गया है। छवि एक बार गले तक बैठ गयी। डर लग रहा था। डर बढ़ गया, वैसे ही गीली-भीगी सर-सर कर किनारे की ओर दौड़ गयी। पीछे देखा। ये माटी-गोबर में घुला पानी, उसमें झाग तैर रहे हैं। कितने तरह की लकड़ियाँ। सूखे फल बहे जा रहे हैं। शायद मगर छुपा हो। कहते-कहते डरी लगा, दूर कुछ तैरता दिख रहा है। लकीर की तरह सीधे, तीन।

"अरी, देख तो माँ, घड़ियाल या आदमखोर मगर—क्या है?"

"कहाँ? कहाँ?" सब हड़बड़ाकर पूछ रही थीं।

"वो उधर—वहाँ—"

"मगर ही होगा।"

"अब कभी नहीं माँ, बरन् कुएँ पर पानी निकालकर . ."

ऊपर आने तक लग रहा है जैसे नदी उठा रही है। छवि ने मगर की ओर देखा, नदी ही नदी में बहता जा रहा है। वह क्या जानता होगा हमारी बात! छवि मन में सोच रही थी। फिर घर लौटते समय मन में टटोल रही थी और कई बातें। ये गुड़ की माँ, सारी बात कहेगी पर अपना दुख कभी जीभ पर नहीं लायेगी, अन्तर से कितनी चपटी है। वह सोचती होगी सत्यवान की बात! दो महीने हुए, आये नहीं या रुपये भेजे नहीं। घर पर कितना कुछ अभाव है! और शिखरा की माँ, मरते-मरते बची है बुढ़िया, भूख से छटपटाती है। इस झड़-बरसा में कौन जाता होगा या कौन कुछ देता होगा? सपनी की माँ को कहीं बुखार हुआ था। रघुवा की माँ पाँच दिन नीचे आयी थी, चेहरे पर सफ़ेदी छा गयी थी, कहा था, "मैं तो भूख सह भी लेती, पर रघुवा के लिए तो दो मुट्ठी चिवड़ा—" उसने कटोरा-भर उछाल दिये थे, पाँच दिन हो गये और अब? वैसी ही हालत बाउरी बस्ती में, कितने दुखी-रंकों के घर में। झड़ी के दिनों में, बस-बस। और याद आया कि आरत अमीन के टोले में क़तार की क़तार धान के कोठे, भण्डार-घर में टोकरी-टोकरी-भर महीन चिवड़ा। वैसे ही नीलूदास के घर पर भी, और भी कई जगह। और उसके साथ गाँव की जितनी बहू-बेटियाँ घूमती—केला की स्त्री, दासो की भौजी, वलो, मल्ली, चाँद और जो लोग कभी उसके पास भी नहीं फटकती थीं। घूमना तो पड़ेगा। कोई कह रहा था कि धनुवा

केवट की रसोई की भीत धड़ाम् से गिर पड़ी, बस जरा-सा और होता तो—। फि
हुई सेठी धोबी के नये घर के कमरे की भी। कितनी भीतें ढही होंगी, कितने घरों मे
चूल्हों में पानी भर गया होगा। और वह सोच रही है अपने घर की बात।

"वे क्या कहते!" उसके मन ने स्वयं कहा। फिर कानों के सिरे तप गये
ऊपरी मन से मानो कहकर उड़ाने की चेष्टा की—किसका कौन है?

और छवि की माँ किस क्षण मन की ओट से देख गयी थी, अपनी बेटी के नदी
की बाढ़-जैसी देह को। वही जिसे स्वयं से अलग कर देखने को कभी आँखें मानतीं
नहीं। मन में एक हाहाकार भर गया था। हथेली जोड़ दिखावट में अनजान की तरह
यों ही माथे से लगाकर, लेकिन अन्तर में खुद के पास वह स्वयं कहने लगी, "हे
ठाकुरजी, हे परम ब्रह्म—।" ये शब्द उसके अपारगत मन में हाँय-फाँय करते टकरा
रहे थे, किसी दीवार के छेद से बरसाती पानी मिली भीगी हवा की तरह।

और उसी दिन खाना-पीना करते न करते जब सिन्धु चौधरी पालथी मा
भागवत खोल रहे हैं, छवि की माँ तैयार हो रही है—फिर एक बार उन्हें कोचने के
लिए कि छवि के ब्याह के बारे में कुछ सोच-विचार करें। तभी थिर भाव से आक
छवि ने बताया कि वह गाँव में जायेगी, कितने घरों में कितने लोग भूखे-प्यासे बैठे हैं
बिना गये नहीं चलेगा।

"कौन तेरी प्रतीक्षा में ही बैठा है कि तेरे तुरन्त गये बिना नहीं चलेगा, बेटी
तुझे हो क्या रहा है!"

"नहीं, माँ, तुझे सौगन्ध है। अभी आयी, तनिक देख आती, बस शिखर
की माँ—"

"पगलामी करना पीछे, थिर होकर रह।"

"नहीं, नहीं—" वह मिन्नत कर रही है।

"क्या कहती है तू? किधर जायेगी?" सिन्धु चौधरी ने पूछा।

"कुछ नहीं, बस यों ही—" छवि हँसती है।

माँ ने बताया, "वो, वो, जो इन्होंने दल बनाया है, माई रे, दुनिया को उल
डालेंगी, जी किया तो और—"

सिन्धु चौधरी स्नेह से हँस पड़े। कहा, "फिर स्कूल-घर में अघोरी-दुवारी क
भोज कब कर रही हो? अब की वहाँ करना पड़ेगा, याद रखना।"

छवि ने कहा, "करेंगे, नहीं तो आपको बुलायेंगे।"

सिन्धु चौधरी ने कहा, "इतनी ही उम्र में इतना सहेलीपन, भोज, घूमन
फिरना—इस अधमरे गाँव को बस यही जिलाये है। किस जोग में केला की पत्नी क
भूत लगा, मैं तो देखता हूँ, उसी दिन से नयी हवा चल गयी है।"

छवि की माँ ने कहा, "बस वह भूत उतर आया है आपकी इस गुणवती बेटी
पर—"

"छि:-छि:, तुम्हारी जबान से क्या निकल रहा है—?"

"नहीं तो बाबु-लोगों की तरह इस बरसा के मौसम में वह बाहर निकलने का नाम लेती ? कौन-सा गुड़ खाये जा रही हूँ चोटियाँ जो इतनी उतावली मचाये है !"

छवि ने पूछा, "अपने घर में कुछ फटा-पुराना हो तो, दोगी माँ, कुछ ?"

"हाँ, लो, यह भी एक हुई ! उस दिन निमरा की माँ के लिए ले गयी अच्छी-सी चादर, और फिर रात-भर में बाँटने की खातिर किसके घर से इतना उजाला आ रहा है, अपने पास तो सब फटा-चीरा ही है।"

सिन्धु उसी तरह हँस रहे थे। छवि ने कहा, "नहीं, दे, दे, देगाती नहीं, कितनी ठिठुरन है। किसी के तो काम आयेगी ही। मेरी साड़ी, दो जगह से फट चुकी है—"

"सिर में फिर कीड़े काटने लगे। अच्छा दे, तेरा मन जैसे करे। तेरी चीज है, तू दे दे, मुझसे फिर क्यों पूछती है ?"

"और एक मोगई (छोटी-सी बाँस की टोकरी) चिवड़ों की—"

"क्या पैदा करूँ ?"

"हाण्डी में रखे हैं, दे, दे—"

"सब तो दे देगी, फिर तेरे लिए—?"

"दे-दे—"

सिन्धु चौधरी हँस रहे थे। उनकी आँखें चमक रही-सी दिख रही थीं।

गाँव के डाक्टर अगणिराय कुछ सोचते हुए नदी के किनारे हरि साहू की दुकान की ओर चले जा रहे हैं। पिवका खतम हो चुका है।

सिर पर एक पुराना चिप्पी लगा छाता, कब खरीदा गया होगा, उसकी तारीख बता देंगे। तारीख, घटना और रुपये-पैसे उनको कण्ठस्थ हैं। नरसिंग अहीर का मुकदमा, विषय—आम का पेड़, उसी से यह छाता।

नरसिंग मर चुका। आमका पेड़ मर चुका है। छाते को गये फागुन में छब्बीस बरस पूरे हुए हैं, सत्ताईसवाँ चला। कपड़े की बदलाई पाँच बार हो चुकी है। उसपर चार चौकोर पट्टी पर पट्टी, बगल में फिर पट्टी।

घड़घड़ाकर बादल पुकार रहे हैं। थोड़ी-बहुत झिरमिर-झिरमिर बरसा हो रही है। देह पर पुराना कचहरिया कोट जरूर डाले हैं, पर नंगे पैरों से ठण्ड देह में घुस जाती है, और हवा से सीधी उस कोट के रास्ते, आँखों से दिखे नहीं ऐसे ज़रा-ज़रा से कीड़ों ने बारीक-बारीक छेद कर दिये हैं, ताकि खोल के अन्दर हवा का हालचाल मालूम होता रहे।

कोट की भी तारीख है, हिसाब है। वही आव टाउटरगिरी का समय। शहर में, कचहरी के रास्ते पर ऐसे कितने ही कोट लिये कोई पश्चिमी बेपारी आवाज़ लगा रहा था। किसी ने नाप देकर कमी करवाया होगा। क्या हुआ—उसे कुछ पता नहीं। कोट मिल गया। और वह फिर बना इस देह का खोल।

कुछ दिन तक तो देह उसमें कसमसाती रही थी, बाद में अपना लिया था। फिर कोट ढीला हो कितना मुड़-तुड़ गया। फिर भी वह एक ही है, दो नहीं। अनलौटे रथ की तरह उमर चली गयी है।

अच्छे-बुरे-दिनों में कभी-कभी सोचने को जी करता। ठाकुरजी के आगे सिर नवाते समय मन में सचमुच एक प्रकार की भावना आती। निःसहायता, एक अनजान भय, एक आकुल आश्रय। सब मिल-जुलकर धड़कती छाती में एक मुग्ध अभिव्यक्ति। आँख खोलने पर सब गायब हो जाता। फिर बुद्धि फैलती, आँखें घूमती।

धड़धड़ाते मेघ पुकार रहे हैं। कुछ-कुछ रिमझिम बरसा हो रही है। चिकना काला आकाश झुक आया है। मसहरी के कपड़े की जाल फड़कने की तरह हलकी बरसा की बौछार दूर-दूर भँवर खाती चली जाती है, फिर पास आ जाती है। दाहिनी ओर नदी उच्छरित हो रही है। पानी तटबन्ध तक उठ आया है। उसे देखने पर भी कितने साल, कितनी तारीखें याद आ जाती, कहाँ कितनी खाई टूटी थी, गाँव बहे थे।

फिर भी कानून के फैसले की तरह यह नदी भी है, नदी का तटबन्ध भी है, गाँव भी है।

और हैं वे—अगणिराय!

लग रहा है जैसे उनका मन उन्हें भीतर ही भीतर दोष दे रहा है। फिर ऊपरी मन को कड़ा कर उसे उड़ा देने की चेष्टा की। सोचा, पहले तो ऐसा नहीं होता था। ज़रूर यह उमर की दुर्बलता है, उमर बढ़ने पर, बल हटने पर आदमी बुद्धि का बल छोड़कर विश्वास पर भरोसा कर बैकुण्ठ खोजता है!

फिर कैसी यह बेसुरी युक्ति याद आयी? उन्हें स्वयं पर आश्चर्य हुआ। उन्होंने स्वयं भी बैकुण्ठ खोजा है। दोनों समय आँख मूँद घर में बैठकर वे माला फेरते, ठाकुरजी से भोजन माँगते, बैकुण्ठ भी माँगते।

सोचते-सोचते उड़द के चिल्ले याद आ गये। कल रात बने थे, अच्छे खटवाले चिल्ले, मिरच भी थी। एक से दो, दो से फिर तीन, माधिया की माँ ने ज़ोर दे-देकर खिला दिये। तब से पेट गड़बड़ा गया है। थपथपाकर देखा अब भी पेट में वायु भरी है। फिर मानो पूरे बल के साथ आत्मविश्वास लौट आया। वे खुश हो गये, क्योंकि फल का कारण पा गये हैं। पेट में वायु होने पर मन में इसी तरह की नरम पिलपिली पुच-पुची भावनाएँ आती हैं, कलेजा दबता-दबता-सा लगता है। सचमुच जैसे कोई अपराध किया हो—ऐसा लगा करता है। इस संसार में जीना होगा। 'पेट पोस (पालना), नहीं कोई दोष।' पेट पालने के लिए जिसका जो काम है, वह वैसा ही करेगा। उन्होंने भी

किया है। अपना उपाय और बुद्धि खर्च किया है।

सिर्फ पेट चलाने के लिए ही तो नहीं, बुद्धि लगा-लगाकर उनकी मानवता खिल रही है, चमक रही है। उन्हें आनन्द मिला है। सँपेरे की तरह इतने लोगों को खींचना, आदमियों को भेड़ा बना देना, फिर डायन बनकर लगना, और ओझा बनकर झाड़ना, गाँव-गली में चुप-चाप झगड़ा लगाना, दल के दल लोगों को नचाना, उठाना, पटकना, लोगों के दाँत किटकिटाकर आँखें निकालकर मारा-पीटी करते समय खुद थिर हो बैठे-बैठे देखना, उपदेश देना, अमल करना। मुकदमा लगने पर निचले कोर्ट से लेकर ऊपरवाले कोर्ट तक उलट-पलट होने तक सिर्फ पेट भरना ही नहीं हुआ बल्कि इसमें भी मन को बड़ी मौज उन्हें मिली है। इसमें भी एक जिंदादिली की पुकार सुन व्यग्र हो उन्होंने अपनी बुद्धि और कौशल का प्रमाण दिया है। तब यह पेशा जीवन का खेल बना है।

दूर से मचमच-चपचप की आवाज आयी। देखा तो एक दल गाँव के लोग दौड़े आ रहे हैं, कुदाल लिये हैं। कानों के सिरे झन्-झन् होने लगे। शायद यहाँ कोई काम मिल जाये। अगणिराय ने पूछा, "क्यों रे, क्यों, चन्दर, ऐसे भागे-भागे किधर ?" चाल को कुछ रोककर चन्द्रमणि पधान ने बताया, "जोगी बस्ती में पानी घुस गया है, खेत का पानी चढ़ आया है, हाय-तौबा मची है।"

"मारे गये, उसमें फिर तुम्हारा पेट क्यों दुखा ? जोगी बस्ती की खबर जोगी बस्तीवाले समझेंगे, क्यों, परले साल याद है, उन्होंने तो केवटों की तरफ चन्दा दिया, तुम्हें तो दिया नहीं। फिर तुम क्यों भागे जा रहे हो ?"

"अच्छा-अच्छा, चलो-चलो, क्या मिलेगा इनकी बातों से ?"

दल चला गया। अगणिराय ने चेहरा बिदका लिया। सोचा, यह भी एक हवा चली है। लोग सब अकृतज्ञ। निपट उल्लू हैं। बाप-दादों का इतिहास भी भूल गये। किसने-किसके बाप के जमाने में किसे किस प्रकार हैरान किया था, कब किसने किसका कैसा अपकार किया था—सब भूनकर खा गये याददाश्त में-से। बस, सारा गाँव जुटा है भाईचारा जोड़ने-लगाने, छछून्दर के सिर में चमेली का तेल ! करो बेटो नया गुट, नया सामलात। केवल यह रहा तब ही जानो !

हुँ, औरतें भी बहुत जुट पड़ी हैं !

आये बड़े करनेवाले ! आदमी का मन बदल देंगे ! दो टाँगवालों को चार टाँग का कर देंगे ? व्यर्थ ही अपना धन्धा-फन्दा छोड़कर दूसरों के पीछे कूदते फिरता है ! समय बरबाद करता है।

अगणिराय के चेहरे पर एक विकृत हँसी खिल गयी।

मजा पायेंगे, पायेंगे—तब आकर फिर अक्कल ठिकाने होगी।

अगणिराय ने इसी तरह सोच, बात को आयी-गयी कर दी। फिर स्वयं देखा, अपनी बुद्धि-विचार लगाकर। मन में चली एक और बैलगाड़ी की तरह घड़-घड़ घड़-घड़।

....है ऐसा कोई जो कहेगा कि उसमें कभी ऐसा चाव पैदा हुआ ? कभी नहीं। चिकनी-चुपड़ी बातें सुन चिकना चेहरा-मोहरा देख वे कभी भुलावे में नहीं पड़े। माधिया का कभी भूलकर भी लाड़-चाव नहीं किया। अब भी 'माधिया—' की एक आवाज लगायी कि वह जहाँ भी हो, एड़ी से चोटी तक एकदम थर्रा उठेगा थर-थर।

रूखा-सूखा खाना, सीधे-सादे चलना, बस काम से काम। रस नहीं रहेगा। गीता में यही बात तो कही गयी है। किसी के प्रति आकर्षण नहीं, उपरोध नहीं। कोई कुछ कर देगा ऐसी आशा रखना नहीं। जो करना, सब अपने हाथों। अतः जो कर्तव्य हो, सो करते जाना चाहिए।

कर्तव्य का निर्णय कौन करेगा ? अपनी बुद्धि, शौक—चाव नहीं।

पहला कर्तव्य—अपने चलने-जीने के लिए, भविष्य में बुढ़ापे में अपने बचाव के लिए, पैसे कमाकर जुटाना। रास्ता बतायेगी बुद्धि। समय पड़ेगा तो छोड़ेगी नहीं, समय गया तो फिर मिलेगी नहीं।

सोचते-सोचते चलते-चलते अचानक आँखों के सामने करार से ढेर सारा धड़ाम से टूटकर पानी में गिरा। अगणिराय ने देखा, मन के पुराने विचारों का रंग उड़ने से पहले ही लगा जैसे नदी उन्हें ही उद्धत, निष्ठुर भंगिमा से देख रही है। मानो उनकी हड्डियों तक में सिहरन भर गयी है। आ रहा है एक हताशा का भाव; सारे विचार ढहकर विलीन हो रहे हैं। अगणिराय के पैरों की चाल धीमी पड़ गयी है, सिर मोड़कर नदी की ओर देखते-देखते वे तटबन्ध पर सँभल-सँभलकर क़दम बढ़ाने लगे।

नीला-सा, धुआँ-सा, धूसर—घुल-मिलकर एक प्रकार का निष्प्रभ रंग का वातावरण; थोड़ा ऊपर घने मेघों पर दृष्टि अटक रही है। चेहरे के आगे हलकी बौछारों की लगी-सटी, भाग-दौड़, मार-काट लगी हुई है, उसी के अन्दर धुँधलका-सा दिख जाता है, उधर विराट्-विराट् रुई के फाहों की तरह मेघ वाष्प-शून्य होकर बहते-बहते परत-परत एक साथ क्षितिज पैदा कर रहे हैं, कभी क्षितिज अत्यन्त पास होकर नदी के बीच और कभी पीछे हट जाता है, उसी में थोड़ा-थोड़ा अँधियारा होकर पेड़, घर, कगार मिल जाते हैं। फिर वहाँ से इस थोड़े-से परिसर में कूदता-फुदकता बहा जा रहा है गँदले पानी का स्रोत। कहाँ से आता है, कहाँ चला जाता है—कोई हिसाब नहीं, कोई गिनती नहीं। मानो ऐसा ही लगा था सदा—चला आ रहा है, चला जाता है। केवल अस्पष्ट छाया—न रखना, न सहेजना, न पकड़ना, न रोकना, केवल चला जाता है—चला जा रहा है। एक साथ कई-कई लहरें, ढेर का ढेर पानी, तिरछी दृष्टि से देखता हुआ विलीन होता चला जाता है। बीच-बीच में कल-कल ध्वनि, अस्पष्ट भाषा, जिसमें चले जाने का ही भाव-संगीत है, चलते जाने के नशे में पागल संसार-भर का विशाल जुलूस, किनारे की ओर गरदन मोड़कर उद्धत कटाक्षपात किया और फिर शान्त। याद आ जाता है बचपन से अबतक का, चटशाल, खड़ी, पाटी, गाँव का गोठ, टाउटरी वृत्ति। कितने चेहरे, कितनी घर-गिरस्ती, कितनी आशा, इच्छा, प्रतिज्ञा, स्नेह, वैराग्य के भाँति-भाँति के रंगों

में चित्रित हुए हैं, दादे-दादी से लेकर रूखे-सूखे मुवक्किलों तक—सब घुल-मिलकर बहते जा रहे हैं, गँदले पानी में—लहरों पर झूलते-झूलते। कितने खड़े घर बह रहे हैं—नीव, भीत, छान, पास में नारियल अनगिनत। फिर टूट जाता है, मिल जाता है, बुझ जाता है। कितनी बार कौवा काँव-काँव करता है, कौवा उड़ जाता है, खाली आकाश तले सपाट मैदान में घास उगती है। और चलता जा रहा है कगार के सहारे-सहारे नदी का बहाव। सब चला जा रहा है। कगार के सहारे-सहारे कभी-कभी काठ के लक्कड़ की फाँक से लाल आग भभक उठती है, झकोरों से फैलती है, उनपर घनी काली धुँधली हिलती छाती, उसी आग में स्नान कर खिल उठता है एक अँगारे का दृश्य, साफ-साफ खिल रहा है, एक-एक परिचित चेहरा कितना अनजाना बन गया है, पिता, माँ....मित्र....शत्रु....जिनके साथ सम्पर्क ही न था, वैसे कई....बूढ़े....बच्चे....कितने ही। सिर्फ....इस जीवन से नहीं कितने जीवन से देखते आये हैं इसी प्रकार।

इसी तरह इस टेढ़ी नजर से देख कहीं अदृश्य हो जाता है यह जुलूस।

थरथराते लड़खड़ाते कदमों को थामकर खड़े हुए अगणिराय। स्वयं को कोसकर तनिक तैयार-सा कर जमुहाई भरी।

सोचने लगे, फिर वही तहद के खिल्ले की बात। पेट के अन्दर गुटर-गुटर, वायु हिल-डुल रही है। दिमाग में उसी की भाप।

बरसा। काम-धन्धा बन्द। तभी पाँच बातें इधर-उधर की याद आ रही हैं। जागते-जागते अनगिनत दु:स्वप्न।

फिर एक दल एक दूसरे का पीछा करते-से।

एक-दूसरे की बाँह में बाँह डाले मिले-जुले चार-पाँच जन थे।

"किधर चले रे बाबा ?"

बाउरी बस्ती के पास खाई बन गयी है। तटबन्ध पर माटी डाले बिना क्या होगा पता नहीं ?

कोई अपनी प्रशंसा सुनने को रुक नहीं रहा, वे भी चल दिये।

बायीं ओर बाँस के वन के सहारे थोड़ा-सा चौड़ा नाला है। याद आया एक नृशंस हत्याकाण्ड। ऐसी है वह जगह। दाम नायक, तटबन्ध का काम ले कण्ट्राक्टरी कर लखपति बन गया था। सौ-सौ क्या, हजार-हजार कुली, एक साथ तीन ट्रक, एक जीप, एक कार। मकान खड़ा कर लिया। फिर इलाके-भर में जैसे साँड बन गया। नदी का सारा कछार नीलाम ले लिया। एक सौ पचपन लोग थोड़ा-थोड़ा नीलाम पर लेकर गुजर करते थे। फिर उपजा कलह। पाँच बरस तक कई मुकदमे चले। दाम नायक की तरफ रह कितने ही मुकदमों में नाटक के सूत्रधार-से बनकर पाँच बरस अपना पेट भरा। एक-दो बार तो दोनों दलों ने नगाड़े बजाकर, दो दलों में बँटकर बुला-पुकारकर, ईंट-पत्थर फेंक-फेंककर खुल्लमखुल्ला लड़ाई की। बाद में चली लाठियाँ। बड़ा मुकदमा। फिर एक दिन रास्ते में अवसर देखकर मुँह-अँधेरे एक जगह पर दाम नायक को जा दबोचा।

सिर को कूटकर, पानी तले कीचड़ में लाश दबा दी। पुलिस आयी, चली धर-पक
मुक़दमा हुआ। सब खलास हुए। दाम नायक समाप्त हो गया। उमर तीस भी पूर
हुई थी।

जा, जो गया सो गया!

आगे हरि साहू की दुकान है। छाता ताने गदेई लेंका निकलकर आ रहे
टाउटरगिरी में अगणिराय के प्रतिद्वन्द्वी। मोटे-तगड़े, तनिक ठिगने क़द के गोल आद
अगणिराय का चेहरा बिचक गया। मुँह फेरकर छाते को तनिक नीचे झुकाया। चे
देखकर बढ़ने लगे तो हँसते हुए गदेई लेंका ने कहा, "कौन, राय बाबू हैं? किध
शायद पिकेट खतम हो गये लगते हैं, वरना रायबाबू भला निकलते...., महाहिस
आदमी।"

एक बीड़ी उनकी ओर बढ़ाकर लेंका ने कहा, "इसमें से एक हो जाये—"
तले दियासलाई जला हथेलियों के बीच से एक साथ सुलगा उनके मुँह के पास
बढ़ा दी। हँसकर कहा, "और कहिए, आगे क्या विचार है? गाँव के हाल-चाल तो
दिख ही रहे हैं?"

गदेई लेंका ने उन्हें ले जाकर दुकान के पास बरामदे में गोदाम के आगे
किया। हँसकर पूछा, "यह हवा बड़ी विचित्र है। जो कुछ भी करे चाहे, घुल-मि
एक हो जाओ, बस यही सुनेंगे लोगों के विचार।"

अगणिराय ने कहा, "कितने संघ, कितने विचार तो देखे, अब और
बाकी है?"

गदेई लेंका ने कहा, "नहीं, रे बाबू, ये हँसी में उड़ानेवाली बात नहीं। क
झगड़ा न होगा, मुकदमाबाज़ी नहीं होगी, तो फिर होगा क्या? तुम्हारा हमारा
चलेगा कैसे?"

अगणिराय ने कहा, "अकेले हमारा ही या किसी और का भी? शहर-भ
इतने हाकिम, वकील-बैरिस्टर, मुख्तार, पेशकार, हज़ारों-हज़ार हैं। इस दुनिय
कलह-झगड़ा मिट जायेगा। सब बाबाजी होंगे, तो अपने भी बन जायेंगे। समय
अभी नदी देखते न देखते नंगे क्यों हो रहे हो?"

दोनों ने एक-दूसरे की ओर देखा। सचमुच जैसे मन-ही-मन एक समझौत
हो गया था। गदेई लेंका ने आँखें नीची कर लीं।

अगणिराय हरि साहू की दुकान की ओर गया।

उस अँधेरे में से हरि साहू पूरा नहीं दिख रहा। अगणिराय ने आवाज़
साहू जी, हो क्या?"

उधर से आवाज़ आयी, "हाँ, जी!"

अगणिराय ने कहा, "दीया तो जलाओ, यों अँधेरे में क्यों?"

बिजली कौंधी। हरि साहू ने कहा, "वो,-सुनो नदी आवाज़ दे रही है,

भी पता नहीं कितना उँड़ेलेगी, इसका तो मन भरता ही नहीं—"

भीगी ठण्डी हवा के झोंकों की चाँव-चाँव सुनाई पड रही है, चारों ओर सुनसान। मानो कि शिवाले के गर्भगृह में बैठा है हरि साहू। देखते ही देखते ढिबरी जला दी। क़तार के कतार टिन के डब्बे, हाण्डी, टोकरियों भरी विभिन्न चीजें, ठुँसी-ठुँसी रस्सी के झूलते छीकों में लटक रही हैं। भीत पर तिलचटों की धार लगी है। वही हर दिन वाला दृश्य। हरि साहू ने कहा, "बिसात लिये बैठा हूँ, रोज़ की तरह, पर ग्राहक कहाँ? बस समझो, तुम्हारे लिए ही बैठा था, जिसका जो नसीब कहो, क्या लेना है?"

उसके मन में गम्भीर उद्वेग है। मानो वह मन ही मन किसी के आगे फरियाद कर रहा था, बात-चीत में रह गयी है, उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना उसने कहा, "आदमी न रहे तो क्या घटेगा, क्या होगा? सारा पँसारा फालतू है। जैसा मौसम हुआ है, बस विधाता ने साज लिया भैरव-लीला। मुझे तो याद आता है चाइना—"

"चाइना?"

"हाँ, वो चायना या चीणा, ऐसा कुछ है नाम उस देश का। पढा नहीं अखबारों में, कि वहाँ कौन-सी नदी है एक, जिसमें हजार-हजार लोग बह गये। अपने जोगी बस्ती में तो पिछवाड़े पानी की चोट पड़ रही है औ घर-द्वार सब ढहने जा रहे हैं। और वह हजार-हजार लोगों का बह जाना। फिर यह कौन-सी नयी बात हुई! आदमी तो सब। एक-सा कष्ट, एक-सा भय ...।"

अगणिराय ने बाँकी-सी मुसकान बिखेर कर कहा, "अच्छा, देना पिपका चार पैसों का, भय....क्या किसी के कहने-भर से हट जायेगा!"

बाहर से सुनाई दिया औरतों का हो-हल्ला, और कुछ मरदों का भी। एक दल आ पहुँचा। अगणिराय ताकते रहे। छवि आयी है। केला की पत्नी, वही जिसे भूत लगा था, भारत अमीन की लड़की शंखी, सुदर्शन दास की घरवाली, कीर्तन राउत की बहू, पाटुवा बाउरी की स्त्री, कपिल महारणा की स्त्री, घन पइडा की स्त्री, इस तरह आठ-दस का समूह। पीछे-पीछे छह-सातेक पुरुष। उन्हीं के साथ है हरि साहू का बेटा संडू। कोई गमछा डाले चला आ रहा है। नाम को छाता तले सिर घुसाये है। झुण्ड की झुण्ड औरतें, भीगी-गीली होकर आ रही हैं। अगणिराय हटकर खड़े हो गये, यह देखने कि क्या होता है।

किसी के कुछ कहने से पहले ही सण्डू आकर खुद बाप के सामने खड़ा हो गया। सिर मुड़ाये बोला, "बापू, जोगी बस्ती में पानी भर गया है, उनका तो चूल्हा-चाकी बन्द। ये सब उधर ही जा रही हैं, कहती हैं चिवड़ा दो बोरा और चारेक धण्डी गुड़ दिला दो। बाद में फिर चन्दा उगाह कर पैसे चुकाने को बोल रहो हैं।"

अगणिराय ने खिल्ली उड़ाने की तरह कहा, "हो.! चन्दा!—"

हरि साहू ने कहा, "दे-दे।"

अगणिराय ने कहा, धन्य हो दानपन तुम्हारा साहू। चन्दो के पैसे आयेंगे ?"

हरि साहू ने अनसुनी करते हुए कहा, "खैर, और एक बोरा चिवडा उनके लिए रख देना सण्डु, अभी तो शायद इतना ही होगा। तू भी आयेगा तो जा, हो आ उधर। जुट जाना काम में, इस पुश्ते का भरोसा नही है।"

अगणिराय ने कहा, "इसे कहते हैं कि गाँव-भर में है कोई आदमी। हूँ, भेली गुड है कि नही ? मुझे भी थोड़ा चाहिए था, पैसे तो लाया नही, पीछे पहुँचा दूँगा, दे दो एक।"

हरि साहू ने कहा, "गुड़ तो रखा ही है जब आओगे खरीद लेना।"

"क्यों, उधार नहीं ?"

"उधार में कुछ अड़चन है। ले रे, सण्डू गोदाम की चाबी ले—जा-जा।" पास ही सटकर दो गोदाम है। दरवाजे पर भीड जम गयी। अगणिराय चिपटे रहे। गुड की बात कहे बिना टालते रहे।" कितने घरों के लोग उठ आये हैं देखो—"

हरि साहू ने उत्तर देने के बदले पूछा, "और कुछ ? दियासलाई लेनी है ?" तीर की तरह बौछारें आ रही हैं। पेड एक ओर झुककर थर्रा उठते हैं। छाते को झोके पर झोंके उड़ाये लिये जाते हैं। कानों में सॉय-सॉय।

अचानक लगा जैसे वे कितने अकेले हैं, कोई सहायक नही, कोई शाखा नही, दिशा नही, राह नही, केवल बरसात की 'राऊ-राऊ' के बीच दपदप करता आदमी।

—

पुतली ने मुँह खोला था।

सिन्धु चौधरी ने अवाक् हो सुनी थी वे बातें।

पुराण पढ़कर समझाते समय, पढाई के समय, सूत कातते समय, दोनों वेला भोजन करते समय, आनन्दपूर्वक कितनी बातें कही है बेटी के आगे—महामानवीयता की, न्यायनीति की बातें, शास्त्र-पुराण की बातें। कहते-कहते कई बार वे उत्तेजित हो उठते, मुट्ठी बाँधकर हिलाते, मुंह में कौर लेना रोक देते। गमछे से आँख-मुंह पोंछ लेते। तब लगता, वे कल्पना ही कल्पना में बढ-चढ़कर कहाँ तक फैल गये हैं। परिव्याप्त हो गये हैं आकाश में, छाये मेघो की तरह।

परन्तु जिनके आगे इस तरह पल-पल में अवतार दिखाये है, अप्रकट लीला को भाषा में, भंगिमा में प्रकट किया है, वे तो उनकी आँखों के आगे पुतली ही हैं।

अथच गम्भीर बनकर पिता और गुरु के अधिकार की बात कहकर उन्होंने जब-जब बेटो को अनुशासित किया है, समझाया है, उपदेश दिया है, तब-तब सुना है कि पुतली बोल रही है। आंखो में स्थिर गम्भीर दृष्टि, करुणा से छलछलायी, झिल-

मिलाते चेहरे पर अटल प्रतिज्ञा, जीभ पर आदमी की भाषा, उसमें तर्क है, विचार है। छवि कह रही थी, "सब अगर इसी तरह कहेंगे, बापू, तो काम फिर कैसे होगा? बस अपनी सुविधा देख पेट को दो मुट्ठी देकर हम चैन से रहें, बड़ी-बड़ी बातें करें, उधर दुनिया चाहे भस्म हो जाये। यह कोई बहुत अच्छी बात होगी? फिर इतनी बातें समझा क्यों रहे थे? खुद जिस काम को ठीक मानते हो, अब प्रमाणित करो कि वह विश्वास खोखला नहीं है। अकेली मैं ही क्या, कितने लोग जायेंगे, जाना ही पड़ेगा, जो हालत हो गयी, घर पर बैठेगा कौन?"

पत्नी मन में चिन्ता कर रही है। चेहरा तमतमा गया है। कहने लगी, "ये सब कोई बातें हैं? औरत जात, तू कोई मरद बेटा है जो, जहाँ मरज़ी आये, डोलती फिरेगी? आपने ही इसे सिर चढ़ाया है! समझे? सब आप—"

"क्यों मन उदास करती हो माँ? जाने से क्या हो जायेगा? अकेली मैं ही तो नहीं। कितनी और भी तो जा रही—"

"दल बनाया है, सारी बात की तुझे ही फिकर है! अरे, वहाँ क्या हुआ जा रहा है? पानी, कीचड़, बाढ़, बरसा....फिर पानी में कहीं भीग गयी तो बुखार....बारह असुविधा...तिस पर मची है हाय-तोबा! गोल-माल! इतने लोग होंगे। अकेला यह जीव जाये तब ही ब्रह्माण्ड का उद्धार होगा, वरना नहीं? एक छोड़ मेरे कौन-सी दूसरी है? बड़ी बेटी। तुम क्यों मुँह नहीं खोलते, पत्थर की तरह चुप बैठे हो?—"

सचमुच जैसे उनकी जबान पर भाषा ही नहीं। कहाँ? पैर भी तो नहीं उठता? जाऊँगी—जाऊँगी—खुद जाकर काम करूँगी। काम—हाँ उसकी रूपरेखा याद आ जाती। वहीं रुक जाते। पैर उठते ही नहीं।

कितनी बातें कहने को मन करता है, कह नहीं पाते। गले तक आकर बात अटक जाती है। सामने पुतली नहीं, आदमी है। आदमी के सामने स्वयं अवतार बना नहीं जाता। उलटे उसी का नया अवतार आँखों के आगे आ जाता है। कल तक जो था खिलौना—आदमी कब बन गया? कितने दिनों, कितनी रातों का गहरा चिन्तन, कितने विचार, सब मिलकर एक स्रोत, उन्हीं कारणों का फल आज का यह छवि है। किसने दिया इसके चेहरे पर यह रंग? आँखों पर काजल की तरह और फिर काजल की ओर से कोई अनजान ज्योति! यही उज्ज्वल प्रभा जिसके आगे वे स्वयं भी मूक हुए जा रहे हैं! कैसे चुपचाप बदलते-बदलते इस नन्ही गुड़िया का चेहरा सचमुच आदमी का चेहरा बन गया! बात भी ठीक है, उसका जीवन होगा उसका अपना, स्वतन्त्र, सुख-दुख की अधिकारी होगी वह स्वयं। वह अपना संसार बसायेगी, सृष्टि करेगी, पालेगी, बढ़ायेगी, आँसू पोंछेगी, फिर वह अपना पल-पल का अवतार दिखाकर अपने खेल-खिलौने को स्वप्न और आवेग देगी, जीवन्यास देगी। और सोचने पर वे स्वयं—पुराने खोल की तरह, जिसमें किसी जादूगर ने मानो अन्दर के आदमी का हरण कर लिया हो। मुड़ा-तुड़ा खोल लड़खड़ाता दूर होता जा रहा हो, दूर होती जा रही किसी प्रतिध्वनि

की तरह....क्या कहती जा रही है कुछ सुनाई नहीं पड़ता है। जैसे वह विलीन होती जा रही हो।

अचानक भाषा मिल गयी। हथियार खत्म हो जाने पर, असहाय अवस्था देखकर किसी ने दया कर अस्त्र बढ़ा दिया हो। परम आत्मविश्वास पूर्वक कठोर दृष्टि डालकर बोले, "समझी बेटी, जो तू कहती है, सब सच है। पर उसका भी एक समय है—अवसर है। समाज, संस्कार, अपने देश की चली आयी रीति भी तो कुछ कहती है।"

"हाँ, क्या कहती है? तुम ही तो कहते थे, ये इतनी आड़, डर, लाज, ये सब अपनी स्वाभाविक रीति नहीं है, ये भेष अधिक दिन के पुराने नहीं हैं। कल सुबह जब देश पर विपत् आयी थी तब, केवल लाज बचाने के लिए, आत्मरक्षा के लिए अपने देश की बेटियों और बहुओं ने यह छद्मवेश धारण किया था, यह अपना इतिहास नहीं?"

"फ़ालतू बातें छोड़। पहले घर। पहले अपना—अपना क्या है यह भी तुझे समझाऊँ? सबसे बड़ा आदर्श गृहस्थाश्रम। घर-संसार के लिए आदमी जनमा है। घर-संसार, उसका अपने स्तर पर अपना रूप है। पहले सृष्टि, तब फिर घर।" पत्नी की बात को अपने मुँह से बोलने लगे, "बेटी घर पर रहने से ही शोभा पाती है। मरद बेटा कुछ करे, कोई कष्ट सहे, पर बेटी जात को उन सबकी जरूरत क्या है? घर की लड़की घर में ही ठीक है। माँ-बाप ब्याह दें, तब वह होगी घर की गृहिणी, जितने आदर्श सीखे-समझे है, उनसे तुम काम करनेवाले लोगों को शक्ति प्रदान कर सकोगी।"

"सचमुच इसमें विश्वास है तुम्हारा बापू? खुद ठाले बैठे रहकर औरों के लिए बस बातें कहने-भर से जीवन धन्य? सचमुच सोचते हो गृहस्थी का कोई निर्दिष्ट रूप है कि जिसमें इतना किया जा सकता है, इतना नहीं? तुम तो आदर्श गृहस्थ हो, बोलो तुम्हीं? जितना जो सोचा था, अनुभव किया था, सब इसी रास्ते से पा सके, साध सके सभी? काम किसी के आना नहीं, बस सिर्फ़ दूसरे के लिए सहानुभूति दिखाकर रोना। गढ़ने का काम जहाँ चलता हो उधर जाना नहीं, पानी-कीच में उतरना नहीं, बस बैठे-बैठे सोचना कि कैसे क्या करना ठीक रहेगा, क्या होना चाहिए। खुद काम करना नहीं बस बैठे-बैठे हुकम देना। खुद मेला दान देना नहीं और सिर्फ़ कहना कि भई सब सबको पालें-पोसें—तुम सोचते हो, सचमुच सोचते हो कि यह जीवन ऐसा ही होना चाहिए? यही तुम्हारे जैसे आदमी का आदर्शवाद है? उसका बड़प्पन? यही गृहस्थाश्रम की नयी परिभाषा सोचते हो? जबकि आज काम की असली घड़ी आ खड़ी हुई है, घर-द्वार बहे जा रहे हैं। बोलो, बोलते क्यों नहीं? इतने दिन पढ़ाया, जो सिखाया—पोंछना है तो पोंछ डालो सारा। क्या कहते हो, कहो?"

हवा-पानी का गरजता-तरजता तूफ़ान बोल रहा है, बिजली कड़क-कड़ककर चमक रही है, वही बात जो वह कहती जाती है सूने नदी के कछार पर, मैदान पर। हँसने की तरह बाढ़ का पानी कगार को छूकर लाक्-लाक् कर रहा है—अकेला पेड़

मुड़-मुड़कर छटपटा रहा है। छाती तले उनकी के अन्दर समाता रहा है भय, यहाँ भी चल रहा है मोड़ना-मुड़ाना, तोड़ना-फोड़ना। सब उड़ा जा रहा है, दिन-रात, युग, एक-एक कर आदमी की छोटी-मोटी गिरस्ती। कुछ कहना होगा। क्या करें ? कह नहीं पाते, गले में आवाज अटक जाती है।

झट् से दिख जाता है अपना अतीत अपनी ही आँखों के आगे। कितनी आशा-उच्छ्वासों को लेकर शुरू किया था। कहाँ गया ? एक दिन आया था, सारे भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन। घर के दरवाजे तक उसकी लहर कौंध गयी थी, कितने काम करने को मन में उत्तेजना आयी थी। ये करना वो करना। जैसे भी हो, अँगरेजों के शिकंजे से देश को छुड़ायें। देश का काम करें, धन्य हों। सेवा कार्य करें। औरों का दुख मोचन करें। स्वप्न। योजना भी। इतने तीन-पाँच न सोच, सपनों का जाल न बुन, उस लहर में बह गये कितने साथी-दोस्त, जाने-पहचाने लोग—जिस तरह मन्दिर के आगे द्वार पर भीड़ के रेले-पेले में लोग जैसे-तैसे स्रोत की तरह अन्दर बह जाते हैं, उसी तरह। पर वे स्वयं पैर उठाकर जा न सके बल्कि गये नौकरी करने। कितने बाद में जनम लेकर भी लोगों ने कितना आदर पाया। बड़े हुए, कोई जेल गया, कोई मरा।

परन्तु सहजन की डाल पर गिरगिट के सिर हिलाने की तरह ये स्वयं बैठे-बैठे सिर झीकते रहे, इसके-उसके कान में फूँक भरते रहे, स्वयं कभी कुछ किया नहीं।

कितनी तीखी प्यास से छवि की आत्मा प्रतीक्षा कर रही है—प्यासा मुँह खोले देख रही है, अब झूठ कहकर बहलाया नहीं जा सकता। वो देखो कह रही है—

"संसार में गृहिणियों की कमी नहीं है, संख्या की कमी नहीं, दिन व दिन असुर वंश की तरह आदमी का गोठ बढ़ता ही बढ़ता जा रहा है, उतना भर छोड़ दो, बाकी तो सब अभाव ही अभाव है, सुख-शान्ति-स्नेह-ममता तक सबका....मुँह पर बड़ी-बड़ी बातें....काम के समय पूँछ दबाना, घर-संसार, संस्कार, भद्रतापूर्वक चलन, यही कहते हो तुम ? गीता, भागवत, जो कुछ सदा से कहते आये हो—आज उनका यही अर्थ है, यह मुझे समझाने बैठे हो, कहो, बोलते क्यों नहीं ?"

यही नारी। जच्चाघर में दूध पिलाकर, फिर पीठ पर पंख फैलाकर आदमी को आदमी बनाती है, यही तो है वह ! अपनी सृष्टि पर विपद् आयी देखकर फिर उसके रक्षण के लिए बेचैन हो उठी है। सिन्धु चौधरी मोहाविष्ट-से देखते सोच रहे थे। मानो यह छवि नहीं, यह वही है, बिल्कुल परिचित, जिसे उन्होंने ध्यान में देखा है, चेतना में अनुभव किया है। किस अनजान असीम से आयी है एक बड़ी लहर, छवि को उठाकर ऊँचा कर दिया है। क्यों वैसा होगा उनके घर में। क्यों उनकी एकमात्र सन्तान पर उतरेगा महाभाव का देवता !

"छवि, छवि, ये सब क्या कह रही हो ? लड़की ठहरी ! इन सबकी क्या जरूरत ! चुप होकर बैठ, छवि ! घर की शान्ति छोड़ क्यों बरसा में भीगने, कीचड़ में लथपथाने जायेगी ? चैन से घर पर बैठ। शान्ति से रह ! पगली कहीं की !"

"शान्ति या स्वार्थीपन ? मुझे कुछ नही होगा। सब प्रतीक्षा कर रही है। तुम देखना हम किसी को कोई कष्ट न होगा। जाना तो पड़ेगा ही। इतना भाग्य अपना नही। हम सचमुच कोई क्या कुछ कर डालेंगी ? हम इस गाँव के लोग जीवित हैं—इतना ही प्रमाणित करना है। जितना जिससे हो सका। जाना तो पड़ेगा ही। मैं चली।"

"अरी छवि, छवि ! सुन जा ! तू मेरा कहा मान," उसकी माँ आवाज़ दे रही है। "छवि-छवि—" गुरु की माँ पुकार रही है। गुरु बुला रहा है। सिन्धु चौधरी देखते रहे। सब कुछ नाटकीय हो रहा है। छवि की माँ काँप रही है, रो रही है—"एक ही तो लड़की, उसके लिए विधाता ने रखी थी इतनी बुरी घड़ी ! मैं जहर खाऊँ या कहीं रस्सी लगा लूँ या किसी तालाब-पोखरी में कूदूँ—बताओ ! ओह, क्या उपाय करूँ ! तुम बैठे क्या हो जी ? कुछ तो देखो। करो कुछ न कुछ तो। हे विधाता !"

"सुनो, चिन्ता न करो। क्या हुआ जा रहा है ! कितने लोग तो जा रहे हैं। ऐसे समय में तो बाहर की औरतें मदद करने चली आती है, तुम इस तरह क्यों हो रही हो ?"

"नहीं-नही-नही—मुझे मेरी बेटी ला दो।"

"सुनो, धीरज धरो। डरती क्यों हो ? मैं खुद जाता हूँ।" भला रोने से मानेगी वह। तब कहने से कोई फ़ायदा नही। सिन्धु चौधरी ने चरखा सँभाला। दिन बह गये हैं, सुख-दुख ने दुलराया है उनके जीवन को, उन्होंने चरखा पकड़ा है, जिस तरह कि आदमी तावीज बाँधा करता है। चरखे की घर्र-घर्र के साथ भागवत (जगन्नाथ दास रचित) के पद गुनगुनाने लगे—

"गृहरे (में) विपदे सम्पदे। कुल कांचन बन्धु मध्ये ॥
मोहे नोहिब मनच्छन्न। ए सर्व ईश्वर समान ॥
भाव जाणिब शुणि देखि। इन्छारे सकल निरेखि (परख) ॥
ए पुत्र दारा बन्धु संग। ये सने (जैसे) समुद्र तरंग ॥
पथिक येन्हे वृक्ष डाले। श्रमे बसन्ति एकमेले (एक साथ) ॥
श्रम सरिले जेझामते। चलन्ति वृक्ष छाड़ि एथे (इधर-उधर)
येसने प्राणी निद्रागते। सम्पद देखे स्वप्नगते ॥
एहि प्रकारे गृहवास। न कर एथिरे विश्वास ॥"

अचानक लगा जैसे यह भी एक अभिनय है। दृश्य के बीच में कोई भिखारी रंगमंच पर सुन्दर गीत गाकर चला जा रहा है, वैराग्य संगीत। भिखमंगे वे नही हैं। हो सकता है, कामना हो कि इस गीत के लिए उसे कुछ पदक मिलेगा।

मानो पिंजरे में कोई तोता पढ रहा है।

अतिथि....पथिक....कब हुए वे पथिक ? घोर संसारी। कुडमुड़ा रहा है स्नेह का बन्धन। बारम्बार लगता है कि छवि गयी क्यों ? ओह, ये लड़के-लड़कियाँ माँ-बाप के मन की बात कुछ समझते ही नही।

छवि नहीं। उसकी माँ दिखती नहीं। बारम नहीं है, धूप झिलमिला रही है। उत्तर की ओर टूटी छान की फाँक से नदी का मोड़ दिख जाता है, धूप में चमचमा रहा गँदला पानी। दूर का आकाश कत्थैला अवरण का परदा बन गया है, दृष्टि भेदती ही नहीं। उसके नीचे विभिन्न सतहों पर पेड़ों की फुनगियाँ झुकी हुई हैं। फुनगियों पर बच्चों के खिलौने—चरखी की तरह नारियल के सिरे, धूप में घूम रहे हैं। उदास-विषाद में अनमनी स्त्री की तरह ऊपर में छोट पड़े बरगद और पिपल के पेड़ों का ऊपरी आधा भाग। हथेलियों को उठा विनयपूर्वक झुककर धर्म को प्रणाम करने की तरह केले के पेड़ अनेकों-अनेक, बीच-बीच में शून्य। तनिक छोट-छोटकर कहीं अकेले-दुकेले पेड़ का सिरा, मानो अकेला बटोही थककर जगह-जगह सुस्ता रहा है।

चरखा घुमाते-घुमाते मन में अपने अस्तित्व की भावना लौट आती है। और आ रही है आकाश तथा समय के बीच अनुपात की नयी धारणा। ऊपर हवाई जहाज उड़ गया। आवाज से कानों के परदे हिल उठे। चरखा चलाने और ऊपर हवाई जहाज के जाने के बीच से छोटा-बड़ा नहीं जान पाये। महाकाल के अनुपात में सोचने पर कोई कुछ नहीं, केवल बिजली की झलक-भर है, 'ए सर्व बिजली प्रकाश'। वही 'झलक'-भर, वही जीवन, वह एक उच्छ्वास, जिसका जिस रास्ते जाना है, कोई सूत कातता है, कोई खेत खोदता है, कोई जहाज चलाता है। इसी के भीतर है जीवन, सत्य, सुन्दर, सनातन, होने और न होने को, मरे और जीने को एक साथ गूँथे है। मरुभूमि की बालू में सहेज रखे है कोमल हरे पत्ते गढ़ने के लिए प्रवणता, अँधेरी रात में जुटाया है आगामी सूर्योदय का अविसम्भावित्व। वही है वह, प्राण, ब्रह्म। बाबाजी ने कहा था, "धान में चावल का दाना है, इन चर्म नेत्रों को केवल धान दिखता है, चावल नहीं। चावल को देखने पर ही तुम्हारा अभाव मिटेगा।"

कैसे किधर से आकर वे बाबाजी याद आ गये, बेणुपाडा मठ के बाबाजी। माथे पर दो हाथ ऊँची टोपी, पालागायकों की तरह छोट का पैजामा पहने, फूलों के हार से लदे-भरे, मृदंग के ताल-ताल पर नाचते। याद आया बेणुपाडा का मठ, सैकड़ों बरस पुरानी काठी, पुरानी ताड़पत्र की पोथियाँ, पुरानी माटी की गद्दी, भाईदास की, कृष्णदास की, आर्तदास की, पास-पास लगी कवि-साधकों की समाधियाँ। याद आता है उनका वह पुराना भजन—

"चेति चाहुँ किना हो ज्ञानी। तू ज्ञान लोचन बाये।
चर्म नयन कु रूप न दिशइ। खेलुछि नयन आगे।"
अकार मकार सकार परे। अणाकार परे हेउ,
तथि परे जेउँ परम बीज। आउ तथि परे खोज।
सेपरे शिरे अजपा परे तथि परे शून्य विधि,
शून्य पुरुषंकु पारिले हेजि, प्रकृतिमानंकु छेदि।"

वे लोग तो लययोग लगाकर देखा करते थे वह रूप, प्रकृतियों का छेदन किया

था। उन्होंने ही इस जीवन को पहचाना था। कल्पना में तैर उठे उनके कल्पित रूप। समुद्र की गरज सुनाई दे रही है। नदी के उस ओर लहर-लहर लहराते बालू के ढूह दिख रहे हैं। आँखें जहाँ तक जा पाती है, केवल खुला आकाश। उधर ही मुँह किये ताड़पत्रों पर लेखनी चलाये जा रहे हैं सिद्ध साधक—"वदयन्ति ग्रन्थकार श्री सारोलदास कवि"। और दिखाई पड़ रही है पुरी स्वर्गद्वार पर श्मशान के उस ओर बालू के टीले पर माटी में पुत जाने की तरह मानव-हाथों से गढ़ी एक गुफा, चूना-बालू से बनी छत्ते की तरह उसकी छत। बाहर देखने पर सामने दिखता होगा नित्य आदमियों का शव-दाह का दृश्य, दाहिनी ओर महासमुद्र, बायीं ओर दिखता होगा श्रीमन्दिर पर नील चक्र, उसी गुफा में योगासन पर बैठे होंगे सिद्ध जगन्नाथ दास। कितने सिद्ध-साधक इस माया सृष्टि का तलातल देखकर चले गये हैं। वे कह गये हैं मिथ्या, निष्ठुरता, हिंसा, स्वार्थ—ये सब मिलकर बनाते हैं वह पाटी, जिसमें से चावल दिखता नहीं, केवल नजर आता है धान। दर्पण में देखने पर उलटकर अपना चेहरा दिखता है।

चल रहा है घर्र-घर्र चरखा। फिर बढ़ जाती है उत्तेजना, खूब तर मन की चिन्ता के साथ मानो चरखा ताल बनाये रखना चाहता है, पर सकता नहीं। उलटे आ रही है चिन्ता—यह क्या किया उसने, लड़की है!

पुकारा—"छवि!"

कोई नहीं। बाहर पतली धूप, छाती में छन् से कर देती है। अटपटा-अटपटा-सा लगता है, कहीं उन्होंने कोई भूल कर दी है! भूल—भूल, अड़चन और गोलमाल होता-सा सब!

तीन बच्चे एक-दूसरे के गलबहियाँ डाले एक ढूह पर खड़े थे, आँख-मुँह पर हँसी उच्छलित हो रही थी। ऊपर आकाश, सामने घर।

चिकना नीला स्याह घने काँच की तरह मेघ, रुँधा थमा हुआ आकाश—किधर से आया है, दूर वहाँ तक फैला है। उसी में से जरा-सा उनकी पीठ पीछे टिका हुआ था। सचमुच जैसे माया आंजन लगा कुहुक दर्पण हो, वहाँ कब किस सतह पर कौन-सी छवि उगकर फिर विलीन हो जाती है। कुछ चिपका नहीं रहता।

उस अनन्त विराट् चित्रपट पर, जहाँ युग-युग के कितने ही आँखों को दिखाई पड़ जायें इस तरह के चित्र खिलकर फिर निश्चिह्न हुए थे, कितने वज्र, तूफान, कितने प्रलयंकर ध्वंस, कितने महाभारत युद्धों के चित्र कितने ही विराट् टूटने-गढ़ने के अनामधेय इतिहास।

फूलदारा गाँव में आषाढ़ के अन्त में वही एक अख्यात कलौंसो अपराह्न। साफ होकर खिल रहे थे तीन शिशुओं के चेहरे, दो-ढाई बरस के होंगे, एक-दूसरे की

कमर में हाथ डाले नंगे, तीनों लड़के, दो तो काले-काले, बगल में एक गोरे बदनवाला। वर्ण यहाँ प्रधान न था, प्रधान थी—उन तीनों शिशुओं की कान्ति, युग-युग से मानव जीवन के अभ्युदय का प्रतीक, विस्मृति के मोसल-स्याह पट पर तीन प्रकाश-शिखाएँ। इधर-उधर होकर सिर के अरुणे बाल बिखरे पड़े थे, आँखों से ज्योति छिटक रही थी, मुँह से अकारण हँसी। वे दूध पीकर आये थे। उनके पेट पर दूध की धार नीचे तक बह गयी थी, वह भी स्पष्ट दिख रही थी।

रास्ते के इस ओर घरों की कतार लम्बी चली गयी है। बच्चों के सामने एक घर के दरवाजे पर कुछ लोग जमा हैं, अनेक औरतें और अनेक बच्चे। बड़ी हाँडी में औटाया दूध रखा है। बच्चों में बाँटा जा रहा है। अनेक घरों से गाय [redacted] दूध लाकर एक जगह गरम कर गाँव-भर में इसी तरह जगह-जगह बच्चों में रोज बाँटा जा रहा है, उसी में से एक जगह यह भी है। "और थोड़ा पी रे पड़िया—" एक आठ बरस के बच्चे को कोई पुकार रहा था। पड़िया हँस-हँसकर टालूँ-से हाथ फुला रहा था। "सब पीयेंगे या अकेला यहीं अपने मोटे असुर-से पेट में भर लेगा ?" पड़िया की माँ ने कहा। "और बहुत है," दूसरे ने कहा, "आ रे आ पड़िया, कितना सूख गया है—"

तीनों बच्चों का मन इस रेल-पेल में न था, उनका पेट टंगा था। मानो खुले आकाश तले उसी डूह पर एक साथ गलबहियाँ डाले जग के आगे दिखाये खड़े होने में ही उनका आनन्द है। वे केवल डूह पर ही खड़े नहीं थे, वे थे डूह की ठीक ढलान पर, लुढ़के तो तीन हाथ नीचे गिरेंगे, पहाड़ के सिरे पर खड़े होकर सामने उपत्यका की ओर देखने की तरह, तीन हाथ ऊँचे पहाड़ पर भी सीधा चढ़ा नहीं जा सका था, मोड़ से घूमकर आकर पिछवाड़े घूमकर ढलाव ही ढलान में धीरे-धीरे बढ़कर फिर ऊपर-ऊपर, अन्त में परम विजय के समय का विपुल आत्म प्रकाश।

वहीं खुले डूह के बच के टूटे पड़े घर की नींव। वहाँ घास उग आयी थी।

थोड़ी दूर पीछे में था एक घना कदम्ब का पेड़। फूल खिले हुए थे, पेड़ पर झुण्ड के झुण्ड बन्दर छुपे थे, सफेद घेरदार होकर काले-काले दो चिन्तित चेहरे पत्तों की ओट से साफ दिख रहे थे।

थमे हुए आकाश के नीलम स्याह काँच पर दिख गयी—पाँच सफेद बगुलों की पाँत उड़ती जा रही है। नीचे एक जगह चकराती मँडरा गयी एक दल मैना, घास से तनिक ऊपर।

अचानक एक समूह 'उहूक' कर एक साथ चीख उठे, फिर वह संगीत बन्द हो गया।

एक बकरी मिमियाती आ गयी, भरे थैले की तरह गादी झूल रही थी। काले-काले तीन बच्चे रेल-पेल करते उसकी गादी से दूध पी रहे थे। हृष्ट-पुष्ट मटमैली-सी बछिया आकर खड़ी हो गयी, इधर-उधर देख सिर हिलाती चल पड़ी। दूर चबूतरे पर झाड़-झूड़कर खड़ा हुआ कोई एक कुत्ता, देह पर रोयें नहीं हैं, आँखें लाल-लाल,

लड़खड़ाती गरदन, चारों ओर देख फिर सिमट-सुमटकर लेट गया। किसी के गुहाल से छूट आयी कोई कुँई फूल-सी कोमल बछिया। खुले रास्ते पर इधर-उधर उछल-कूदकर तमाशा लगा दिया। तीनों बच्चे उधर देखते-देखते खुशी में भर किलकारियाँ मार रहे थे, पूँछ उठाये पीठ मरोड़ती-मरोड़ती चिकनी काली थूथन को फनफनाकर वह लहर फैलाती-सी तीर की तरह जिधर इच्छा उधर दौड़ी जा रही है, इतने में ही उनका विस्मय है और आनन्द है।

उनकी चिल्लाहट सुन इस घर के दरवाजे से सबने उनकी ओर निगाहें डाली, दौड़ गये चार जन। लसर-पसर करती पहले तो गयी बाञ्छू की स्त्री, नन्द तहसीलदार की बहू, वह पाँच महीने की गर्भवती है। "आ रे, आ रे, यह ठीक नहीं, इस तरह न दौड़।" सास ने पीछे से रोका। बाञ्छू की स्त्री ने नहीं सुना। बोली, "इन बच्चों से अब पार पाना कठिन हो गया, क्या कहूँ!" एक बच्चे को गोद में उठाया, और दो ने उसके पैरों से लिपट मुँह ढाँप लिया। तीनों बच्चों की माँ आकर उन्हें गोद में ले गयी। सबकी भीड़ उस हूह की ओर सरक आयी। हो-हा करते झुण्ड के झुण्ड बच्चे सारे रास्ते पर धमाचौकड़ी मचाने लगे। औरतें खड़ी होकर बातों में उलझीं।

दधि अहीर की स्त्री उरी, गन्धर्व मिश्र की स्त्री कमला के आगे अपना दुखड़ा रो रही थी। उसकी उमर तीस, ब्याह हुए पन्द्रह बरस। पन्द्रह बरसों में आठ सन्तान। डील-डाल चेहरा, काला चमचमाता गोल मुँह। कमला उसकी हमजोली, एक बेटा एक बेटी, तनिक हड़ीली, हलद गोरी, लम्बी नाक, मानो माथे से ही निकली हो।

उरी बता रही थी, "कन्या-गुदड़ी तो सदा गीली-भीगी। बरस का बरस एक। दो गये नदी की बालू में। होते तो दस पूरे हो जाते। यह दुख अब और कौन समझेगा! बस कुछ पूछो मत! दिन-रात एक-सा है।" उसने गहरी साँस छोड़कर कहा, "कभी-कभी सोचती हूँ ये तो एक भीड़ हो गयी। ये सब खायेंगे क्या; चलेगा कैसे?"

कमला हँस पड़ी। बोली, "आदमी कभी इस तरह सोचे तब तो। अभी तो जमाना बदल गया। गाँव-भर के लोग जैसे पेट भरेंगे, तुम्हारे बच्चे भी वैसे ही गुजारा करेंगे। धरती छूते ही बच्चा तो अब गाँव के सामलात का। उनकी और कोई बात तुम्हें लगी है?"

उरी बोली, "हाँ, पर यह रहे तब तो।"

कमला ने कहा, "छि:-छि., ऐसे नहीं कहा करते।" उसका चेहरा चिन्तित लगा। बोली, "गढ़ना कितना कठिन है। तोड़ने में तो छन-भर भी नहीं लगता। कितने भरोसे से यह काम शुरू किया है, मन को मजबूत न किया, विश्वास न रखा तो सारा गाँव, इतनी जातियाँ, इतने घर के लोग, सामलाती में चलते हैं—वह फिर रहेगा?"

उरी हँसकर कहने लगी, "केवल रोजगार ही तो सामलाती है। जो हुआ सब बाँट-चूँट कर खाओ, सब सबके भले की ओर देखो, जैसे कि गाँव-भर एक कुटुम्ब है, सब सबों को आदमी बनायेंगे, पालेंगे, पोसेंगे।"

"लेंगे नहीं तो और क्या फेंक देंगे ? पठान हुए तो क्या, और ब्राह्मण हुए तो क्या ? सब इसी माटी की सन्तान ही तो हैं !"

विमला ने कहा, "तुम्हारे मन को यह बात भाती है तो ? बस। गाँव के लोगों ने भी वही फ़ैसला किया। सब बोले कि एक जैसे आदमी, एक घर के भाई, एक जगह सब काम मिलजुल करेंगे, ठाकुरजी की पूजा के समय सब अपनी-अपनी इच्छा मुताबिक जो जहाँ चाहे आकर पूजा करेगा, उसमें क्या बिगड़ता है ! उन्हें सामलाती में ले लिया गया है। काम भी शुरू हो गया, कोई बाकी थोड़े ही रहा है !"

असली बोली, "क्या काम हुआ ?"

विमला बुढ़िया ने बताया, "सब उधर गये थे। वे आठ घर के लोग हैं, बहुत ख़राब हालत में गुजर कर रहे हैं, जमीन-जायदाद तो ठन्-ठन्, बाल-बच्चों की हालत बस क्या बताऊँ, खाने के भी टोटे। अब की बाद वो दिक्कत नहीं रहेगी, अपनी जरूरत का धान सामलाती धान से हिस्से में पायेंगे। घर भी खड़े किये जायेंगे, उनकी बस्ती तक एक सड़क बनेगी, वहाँ एक कुआँ, एक पोखरी खोदी जायेगी, बरसा बीतने पर ये काम वे हाथ में लेंगे। वे कोई ठाले बैठनेवाले लोग हैं ? अभी गाँव की जमीन में खट रहे हैं अपने आप। चारों ओर से हाड़ चुनकर लाते हैं और उन्हें उबाल-सुखाकर चूरा बनाते हैं।"

असली ने कमर पर हाथ रख चौंककर पूछा, "ऐं ! उन सबका क्या होगा ! छि: ! हाड़ !"

विमला बुढ़िया कहने लगी, "अभी तो हो रही है यही बात, इसमें छी-छा करने की क्या बात है ? हाड़ों के चूरे की तो कहते हैं बहुत अच्छी खाद बनती है, माटी को इतना बल देती है कि फसल दूनी होती है। देख कहा भी तो करते हैं न कि जन्तु मरा तो, दो झाड़ तले गाड़। कागजी नीबू की जड़ में घोंघे गाड़ देने पर फल लद जाते हैं। हाड़ों को उबालकर चूरा करने से फसल अच्छी होती है। वही काम ये लोग कर रहे हैं। केवल हण्डी में ठीक से सीझते नहीं, सो कहते हैं कि कल लाकर सिझायेंगे साथ में पुट देने को कहते हैं, तब गाँव की जमीन के लिए जिसे जितनी चाहिए उसे उतनी हाड़ों की खाद मिल जायेगी। वसुधा फल उँडेल देगी, धान होगा, आलू होंगे, गोभी होगी, आम, नीबू, केले, पपीते भी होंगे।"

असली बूढ़ी ने कहा, "हाँ, उसमें फिर पवित्तर-अपवित्तर क्या रखा है ? मरने पर ये हाड़ इसी माटी में तो मिलते हैं या कहीं और जाते हैं ? जैसा चलाओ, वैसा ही चलेगा। ये ही हाड़ उजाड़ में पड़ते हैं, उनसे खाद बनती है जिससे आलतू-फालतू पौधे बढ़ते हैं, अब फसल बढ़ेगी। अब आया ये हाड़ों का चूरा। जितना कूड़ा-करकट सब पड़ेगा खाद में, न उपले होंगे न खाद जलाई जायेगी, मेरा लड़का तो पग-पग पर नजर रख रहा है। कहता है, माँ जो उपले चार टुकड़े जलाने बैठी हो, कद्दू की जड़ में दोगी तो दो बड़े-बड़े कद्दू फल जायेंगे। मैं ने कहा, खूब रे बेटे, तेरी ये माँ मरे तो

उसके हाड़ों का भी चूरा कर देना, जमीन में लगा देना, फसल अच्छी होगी।"

विमला बुढ़िया हँस पड़ी, कहने लगी, "उधर ये कण्डे जलाने पर रोक लगानेवाली बात देखकर तो आदमी डर जायेगा, इतनी लकड़ियाँ कहाँ, काठ कहाँ, नारियल के पत्ते कहाँ, जलावन तो बहुत कठिन हो गया! कहते हैं खींच-कसकर चलो, खाद को नष्ट न करो। अच्छी बात। माटी से तो बल गया, माटी को पहचाने बिना, देख-भाल किये बिना वह खाने को कहाँ से देगी? जो भी कहो, इस साल तो फसल देखते ही पेट भर जाता है। ऐसा धान, ऐसी साग-सब्जी, कभी किसी ने देखी नहीं होगी। खाने को भर पेट मिले, पेट ठण्डा रहे, बस और क्या, सुख से बैठे माला फेरने की बात। पहले लोग अगर इधर मन लगाते तो अबतक कहाँ से कहाँ क्या कुछ न हो जाता।"

असली बुढ़िया ने कहा, "अच्छा रे अच्छा, बस लोगों के सुख देखते-देखते अपने दिन बीत जायें। कितने वाद-विवाद, कितने मुकदमेबाजी, कितने कलह-फसाद तो देख चुकी। चलो, अब अपने देखते-देखते यह सब बदला—यही अपना बड़ा भाग्य है।"

विमला बुढ़िया ने कहा, "ठाकुरजी को पुकार कि यह मन ठीक रहे। वरना सब उजड़ जायेगा।"

असली ने कहा, "उजड़ेगा नहीं री, रहेगा। यह स्वाद एक बार जीभ को लग जाने पर आदमी उसे छोड़ नहीं पायेगा।"

वासन्ती देवी, दुमुकीपुर की बेटी, इस गाँव में लिंगराज पट्टनायक की स्त्री है। ब्याह कर यहाँ आने को बरस भी पूरा नहीं हुआ। दुमुकीपुर की छोरियाँ सोहने गीत गाती हैं, अल्पना आँका करती हैं, मिल-जुलकर वेश बनाती हैं, अपने-अपने बीच सभा समिति किया करती हैं। कभी-कभी अखबार में छपा करती है, 'आसफअली की मृत्यु पर नारी समाज द्वारा शोक।' अथवा 'स्वेज नहर के मामले में दुमुकीपुर नारी समाज का प्रस्ताव।' कभी 'फार्मोसा युद्ध के बारे में दुमुकीपुर नारी समाज की जरूरी बैठक।' दुमुकीपुर की कई लड़कियों का अनेक प्रतिष्ठित घरों में ब्याह हुआ है। शहर के कई प्रसिद्ध लोगों की ससुराल, है दुमुकीपुर, अत: वह विख्यात है।

वासन्ती देवी रूपसी नहीं, परन्तु उसकी दृष्टि, जूड़ा बाँधना, चाल, बात करते समय चेहरे का झटकना, देह को तनिक बाँका कर तिरछे हो बात सुनने की भंगिमा, कभी-कभी हँसते समय मुँह को 'आँ' किये गरदन पीछे मोड़ बाँकी कर आँखें टिमटिमाते हुए लगातार कई मीठे-मीठे शब्द कहना—इन सबका ऐसा प्रभाव पड़ता है कि कई लोग तो उसे सपने में भी देखते हैं कभी-कभी। वह एक मधुर स्मृति है, अनुकरण करने के लिए एक आदर्श। अनजाने ही धीरे-धीरे उसकी चाल, उसका तौर-तरीका, उसका जूड़ा-साड़ी बाँधना आदि कई बातें औरों में खिलने लगी हैं, और उसके चारों तरफ एक आलोचना-चक्र अपने आप खड़ा होता गया है।

एक कनेर के फूल को धीरे-धीरे गाल पर सहलाते हुए वासन्ती ने अरुन्धती से जो नाण्डु पाइकराय की घरवाली है और उसकी ही उमर की, होगी, कहा, "समझी

अरु, मैं आयी तब से तो देख रही हूँ इस गाँव में अजीब बात, विचित्र काम। सब तो सनकीपन की तरह चल रहा है। यह कि इतने-इतने काम हो रहे हैं, इसमें नाटक का सूत्रधार—उनसे हाथ को दो हाथ होने को जी नहीं करता, क्यों? क्या कन्या अपूर्व है? देखा है तो उस आदमी को! कैसा लगता है?"

अरुन्धती भरे-पूरे डील-डौलवाली बहू, उसका शान्त शीतल, साँवला सपाट चेहरा। कुछ भावों में डूबी-सी गहरी उसकी दृष्टि। बोली, "देखा है, बात-चीत भी की होगी। सच कहती हूँ, वासन्ती, उस आदमी में क्या है पता नहीं, देखते ही वैसी बात बिलकुल मन में आती ही नहीं। हाथ को दो हाथ! इतने लोग होते हैं, वे भी क्यों न हो? होगी कभी तो। यह बात मैंने कभी सोची नहीं।"

वासन्ती ने आँखें नचाकर हँसते-हँसते कहा, "और सोचा क्या है? केवल खाद, खली, गोबर, जमीन, फ़सल—बस ये ही बातें?"

"केवल इतनी ही बातें? गाँव-भर कैसे एक घर की तरह हो गये, जहाँ आजकल की दुनिया में बेटा बड़ा होने पर बाप को कहता है कि मेरा भाग मुझे दे दो, मैं अलग हो जाऊँगा, वहाँ कैसे इस गाँव की जमीन सामलाती, वृत्ति-व्यवसाय सामलाती, चलना-रहना सामलाती— सब कुछ सामलाती हो गया—यही बात सोचती हूँ, तभी उस आदमी की बात सोचती हूँ कि दिन नहीं रात नहीं, पराये पेट के लिए खटता-मरता है, अपने लिए कुछ नहीं। आदमी तो सब है, सबके हाथ-पैर हैं। मैं सोचती हूँ, उनका मन कितना बड़ा होगा! विधाता ने किसमें कैसी बुद्धि दी है!"

वासन्ती ने कहा, "हमारे गाँव में हमारे काका-भाई वगैरह ने भी सामलाती खेती शुरू कर दी। जानती तो होगी ही, अखबारों में उनका नाम आता है, मेरे दो भाई तो इस विषय में नामी हैं, कितनी बार जेल गये हैं, कितनी विपत्तियों का हँसते-हँसते स्वागत किया है, उसकी कोई सीमा ही नहीं—"

अरु हँसने लगी। बोली, "सच?"

वासन्ती ने कहा, "तुमने उन्हें नहीं देखा, उनका भाषण सुनकर लोगों का खून गरम हो जाता है, लोगों की मुट्ठियाँ भिंच जाती हैं, दाँत किटकिटाने लगते हैं, देखते ही डर लगे, दुमुकीपुर की तेज-तर्रार माटी—!"

अरु ने हँसकर पूछा, "क्या यहाँ से भी अधिक फलती—"

वासन्ती कहने लगी, "विश्वास नहीं होगा तुम्हें, मैं और क्या बताऊँ।" अपने विश्वास और अनुरक्ति पर दूसरे में विश्वास उपजाने की चेष्टा में उसने आँख टिमटिमाकर कहा, "दूब भाई बड़े नेता हैं, दुमुकीपुर वीर-भूमि ठहरी। उन्होंने सामलाती खेती शुरू की। क्या हुआ? किसी ने कहा सामलाती काम सामलाती समझे, अपने चैन से सोये, अपने आप भाग मिलेगा। कोई गया इधर-उधर ताकता, अपना बड़ा-सा भाग उठाकर छू। धक्कम-धक्का, रेल-पेल, ठगना-खोसना चल पड़ा। आलू लगाया था, बेर की तरह हुए, धान लगाया, देखभाल की नहीं, कीड़े खा गये, जो बचा सो नुकसान

हो गया। कलह-तकरार किया, तू-तू-मैं-मैं हुआ और जो फटाफटी थी वह उससे भी अधिक हो गयी।"

अरु ने कहा, "यहाँ वैसा होगा, ऐसी बात क्यों सोचती हो? नहीं होगा। जहाँ मन सामलाती नहीं हुआ, धन सामलाती नहीं हुआ, विचार-विवेक कुछ सामलाती हुआ नहीं, वहाँ खाली सामलाती खेती से क्या उपकार होनेवाला है? तभी वहाँ हुआ नहीं। यहाँ हो रहा है।"

वासन्ती ने तनिक सोचकर कहा, "आदमी क्या केवल काम-भर के लिए हैं? और कुछ नहीं? देह-हाथ-पैर की कोई परवाह नहीं। पगले की तरह रात-दिन फिरते हैं, क्या ब्याह नहीं करेंगे?"

अरु ने कहा, "उनसे पूछेंगे।"

वासन्ती ने कहा, "सुना था, कि पाटेली गाँववाले सिन्धु चौधरी के यहाँ उनका ब्याह को मन था। तब 'हाँ' भी उठी थी, फिर बात ठण्डी पड़ गयी। कहते हैं, कहीं-बात-वचन भी हुए थे उनके—"

अरु ने कहा, "वे जैसे सबको आदमी हैं! सचमुच अगर मन होता, बात-वचन हुआ रहता, तब फिर रुकता क्यों? जिनका कोई काम नहीं, वे ही तो 'हाँ' निकालते-फिरते हैं। अपना उन सबने क्या आता-जाता है?"

वासन्ती ने कहा, "नहीं, आग बिना कहीं धुआँ उठता है? कुछ होगा। कुछ नहीं तो श्रद्धा ही होगी। कुछ थोड़ा-बहुत इधर-उधर हुआ होगा। इतने सुन्दर आदमी, सबके इतने स्नेही—तो हृदय पत्थर का हो जायेगा?" हँसकर कहा, "उस लड़की के मन में वैसा कुछ होता होगा!"

अरु ने कहा, "कितनी बेतुकी बात है! कौन-सी लड़की! सचमुच, या झूठे ही! तुम यहाँ बैठकर पहेलियों की तरह लकड़ी में गोंद लगा रही हो। कहो न कि दुमुकीपुर-वाली लड़की है!"

वासन्ती ने कहा, "दुमुकीपुर नहीं, पाटेली गाँव की। दुमुकीपुर की होती तो वह मन की बात मन में दबाये धरती में सिर छुपाये नहीं रहती!"

दोनों सखी ठहाका लगाकर हँस पड़ी। वासन्ती ने कहा, "ये सब असाधारण हैं। छाती के अन्दर चाहे लहू-लुहान हो जायें, दाँत भींचे काम में जुटे रहते हैं। तभी तो बहुत लोभ होता है इनके मन के अन्दर उचककर तनिक झाँक लेने को। वहाँ क्या कोयल नहीं कूकती होगी, फूल खिलते न होंगे, चाँद उगता न होगा, बस क्या काम-काम-काम!"

अरुन्धती ने कहा, "उई, माई री! इन्हीं को तो कहते हैं दुमुकीपुरियानी, बात सुनें तो आदमी भी भेंड़ा हो जाये। तुम आकर कहती क्यों नहीं रवि भाई से?"

वासन्ती ने हँसी रोकने की तरह मुँह को लम्बा कर कहा, "कह देती, छोड़ती नहीं। क्या करूँ, एक ब्याह जो कर बैठी, अब कहूँ तो मेरा घरवाला सिर पीट लेगा।

वह तो कहता है बैठी रह, पैरों में महावर लगा दूँगा, क्या करूँ, बता।"

फिर दोनों हँस पड़ी। अरुन्धती ने कहा, "तुम तो कितनी ही बातें जानती हो। मैं तो सीधी-सादी ठहरी। पर एक बात कहूँगी, मेरे मन को जो भा गयी, ऐसी एक बात। मान ले साँझ हुई ही होगी। गाँव के उस छोर पर मन्दिर को ओर तुम देखती होगी, कोई उधर न होगा। मन्दिर के दरवाजे से दूर अँधेरे में दिखेगा कि अन्दर कोई दीप जल रहा है।"

वासन्ती ने उसे बाँहों में घेर लिया। बोली, "समझी, समझी। तुम उस मन्दिर को प्रणाम करोगी, अवश्य, सब करते है। मेरा मन करता है, मैं जाकर उस दीप को देखती, प्रणाम करती, तनिक उकसा देती—"

अरु ने कहा, "जाओ।"

"बाप रे!" वासन्ती ने कहा, "मैं भी आदमी हूँ, शायद देवता धर दबोचें तो, मुझे भी जी-जान का डर है!"

उधर रवि के मन के गहरे में छुपा रुँधा निभृत कोना है। वहाँ खाली वह है, अकेला।

कुदाल-फावड़ा लिये साथियों के संग कन्धा लगाये वह जो आदमी जुटा हुआ था काम में, घुटनों तक गोबर-कीचड़ से सना, देह से पसीने की धार बही जा रही है, पोंछता जाता फिर पसीना बह जाता, खुद काम कर दिखाता, फिर कभी साफ-सुथरा हो कन्धे पर गमछा डाल खजूर की चटाई बिछा पंगत फैलाये परामर्श देता, काम तौलता, नये निर्देश दिया करता, समस्याओं का समाधान कर देता—उसी आदमी के निभृत मन्दिर में एक जगह एक नन्ही कन्दील जलती रहती, बुझती नही। वह छवि की बात सोचता और सुख पाता।

जीवन में कितनी थिरकती छायाएँ उसके मन के गहरे में एकदम बन्द दर्पण पर पड़ी हैं, फिर चली गयी है, वे ही अगणित नारी-मूर्तियाँ! कोई यों ही बढ़ती चली गयी हैं—उसने सोचा ही नही। किसी को देखकर आदर से उसकी बात सोची है, स्नेह से सोचा है जिस तरह अपनी काकी या मौसी या भाभी या बहन को लेकर सोचता। इसी फूलदारा गाँव में क्रमशः लाज-संकोच तोड़कर कई आ जाती उसकी संस्था में कार्यकर्ता की तरह काम करने। नारी के सहज आकर्षण की छटा बिखेर, तरल दृष्टि डाल, मुँह दबाये विभिन्न विषयों में उसका मत माँगा है, उत्तर चाहा है। उन्हें उसने देखा है बन्धु और कार्यकर्ता की तरह। उसमें उन्हें लेकर कभी कोई विकार उगा नहीं, उभर कर आया नही। अतः प्रकटा है विश्वास, निर्भरता, भरोसा। वह उनका भाई, वे उसकी बहन। गाँव-भर के जितने कर्मी, वे मानो परस्पर के भाई और बहन हैं। भेंटने-मिलने

के लिए महाभाव का प्रशस्त समुद्र—वेलाभूमि, सब वहाँ तन्मय होकर देखते आगामी सूर्योदय की आभा और वर्णच्छटा। आशा करते, विश्वास रखते, विचारों का तीक्ष्ण प्रकाश डालकर सन्देह और संशय दूर करते। और मिलने-जुलने के लिए होता उनका कर्मस्थल, वहाँ केवल स्वप्न में ढँककर सुप्ति के शतदल पर लेटना नहीं—परिश्रम करना है, जिसमें देह से पसीना बहता, चर्बी पिघलती, मन को उमंग लगती।

और कोई विकार नहीं होता वहाँ।

अथच स्पष्ट रूप से वह औरों के मन की हर दिशा को भी देख पाता। वहाँ देखता कामना के प्रकाश के रंग और सुवास। कितने छुपे उद्देश्यों की चतुराई। केवल देखनेवाले की तरह देखता जाता, जीवन्त आदमी के स्वरूप की विशिष्टता में देखता देह और मन दोनों को, पर उसका उसमें सम्पर्क नहीं होता।

भाई और बहन।

वे आदमी हैं।

पेट की भूख लगने की तरह मन में भी कभी कोई भूख आती। भाई भी समय आने पर सन्तान का पिता होगा, बहन जायेगी पराया घर बसाने, माँ बनेगी, जन्म देगी, पालेगी, पोसेगी। वही आगामी जीवन की झलक कब किसमें कौन-सी छटा किस ठवनि में खिलेगी, देह के साधारण रंग की तरह, चाल के छन्द की तरह। खिल उठे, फिर थमी रहे। कर्मसूची में कोई अड़चन नहीं डालती।

काम के लिए ऊपर से लादा गया कोई कानून नहीं, कि कार्यक्रम और निर्देश मानकर बाध्य होकर ठीक अमुक-अमुक काम करने पड़ेंगे। फिर भी मानो अपने आप निर्देशित कार्यक्रम आ गये हैं। उसकी सूक्ष्म डोर एक समूह समाज-चेतना है, सचमुच जैसे कि सबका एक उद्देश्य हो—कि स्वयं को पीछे रखकर सबके उपकार की बात सोचें, उसीमें से नाना कर्म-विभाग स्वतः उग आते हैं।

कल सुबह की तरह लगता है, सब गाँवों की तरह यहाँ की भी औरतें पुआल से बाल-बच्चों की टट्टी पोंछकर टुकड़े को रास्ते पर इधर-उधर यहाँ-वहाँ फेंक देती थीं। घर का कूड़ा-करकट घर से निकाल देने-भर ही मानो अपना कर्तव्य पूरा हो जाता। फिर वह मैला पड़ा रहा रास्ते पर। जो उस रास्ते से गुजरेगा, वह चाहे अपनी नाक-कान बन्द कर जाये, कूदता-फाँदता जाये, जैसे मरज़ी हो वैसे जाये। बड़े बाल-बच्चों का हगना-मूतना भी उसी तरह, अपने घर में या अपने दरवाज़े के सामने न बैठना ही काफी था, फिर और कहीं चाहे जहाँ बैठें, दूसरों के दरवाजे के सामने, कुएँ के नीचे, लोगों के आने-जाने की खुली जगह में, घर के पास के मैदान में, यही आदत थी। बड़े-बड़ों का टट्टी जाना भी प्रायः उसी तरह, वे लोग मैदान में जाते ज़रूर, परन्तु सुविधा देखकर रास्ते के किनारे, पोखरी की ढाल पर—स्थान का, भले-बुरे का विचार नहीं। विचार बस एक, कि कोई न देखे, बस, अपनी लज्जा छुपा लेने-भर से चल जायेगा—कभी-कभी अपनी लज्जा दूसरों की आँखों को दिखती है या नहीं यह विचार भी नहीं होता, अपनी

आँखें नीची कर लो, काम चल जायेगा।

इतने से ही मानो सारे विचार खुद ब खुद आते, खिल जाते। बीमारी होती तो लोग रास्ते पर पूजा कर सिन्दूर, चावल, फूल, दीपक रख आते। मन ही मन कहते, "मेरे घर से रोग जाये, और किसी को हो तो हो।"

अथच किसी ने हुक्मनामा जारी नहीं किया, किसी ने जबरदस्ती नहीं की, एक दिन देखा गया दल के दल गाँव के स्त्री-पुरुष टोकरी लिये घूम-घूमकर मैला उठा ले जाकर गड्ढे में भर रहे हैं। बुहारी लेकर चलने-फिरने की जगह, रास्तों के खुले स्थानों को साफ कर रहे हैं। किसी ने सिखाया नहीं, अपने-आप बन्द हो गयी इधर-उधर गन्दगी करने की युगों की आदत। पैखाना जाने के लिए गड्ढे खोदकर उसपर काठ डालकर पास में माटी रख टट्टी से ढँककर जगह बनायी गयी, अब यह मानो गाँव का साधारण चलन बन गया।

कितने ही चलन तो यों अपने-आप आये हैं। एक साथ मिल-जुलकर जगह-जगह सब मिलकर सबके मैले कपड़े-लत्ते एक साथ उबाल-धोकर साफ करना, भीत और फर्श लीपना-पोतना, गुहाल साफ करना, अकेले आदमी के वश का होता नहीं, समय होता नहीं, अतः साफ-सुथरा रहने के लिए जितनी बाधा होती, उदासीनता आती, मिल-जुलकर वे सारी असुविधाएँ दूर करना। नये विचार से नया चलन, नये चलन से नये विचार—इसी तरह कितनी ही बातें इस गाँव से स्वतः निकली हैं। उन्हीं में से निकली है—सामलाती खेती, सामलाती वृत्ति और सामलाती अर्जन के जीवन की धारणा। ढीली हो, फिसलकर गिर पड़ी है जाति-कुजाति की 'छी-छी,' एक होकर दल बढ़ गया है। वह दल ऐसा सामलाती नहीं कि जिसे एक आदमी या एक दल हाँककर लिये जाता हो, अपनी इच्छानुसार, और लोग डर-डरकर मानते हों सजा के भय से। उस दल में सब अपने-आप सोचते हैं, स्वयं से पूछते हैं, तौलते हैं, कसते हैं कि विचार सामूहिक मंगल के लिए है या नहीं, अत. वे एक हैं—जैसे सब हाथ-पैर मिलकर चलते हैं।

और तभी सबका लगाव और आकर्षण भी झुक पड़ा था जमीन पर। सब मानो उस एक ही बात के लिए पागल, एक ही तथ्य कि आदमी की देह बचाये रखने के लिए जो चाहिए—वह सब आयेगा माटी से। उत्पादन बढ़ाना ही पड़ेगा। तभी इस साल की खेती में खूब कस-कसकर गहरे हल चलाये गये, जमीन का रूप बदला। खूब खाद दिया गया, चूल्हे की राख, पोखरी का कीचड़, गाँव-भर का कूड़ा-कचरा, गोबर, झरे हुए पत्ते, सब जोड़-जाड़कर खेतों में डाले गये थे, खाद तैयार हो रही थी। कितने पुराने दिनों का तरीका, फिर और तरीके शहर से उड़-उड़कर गाँव में घुसे। जितना सम्भव हुआ सबका उपयोग किया गया। कितनी जगह कितने कुएँ खोदे गये गरमियों में, पुराने कुएँ-बावली का उद्धार किया गया, टाँड बैठायी गयी, कई छिट-पुट काम—फसल बढ़ानी ही पड़ेगी।

उन्होंने देखा कि इसका प्रभाव कितने प्रकार से आसपास के गाँवों पर भी पड़ा

था। बारम्बार चारों ओर से लोग आते, देखते, परामर्श लेते, खुद बिचरते-परखते, पास के गाँव सेवतीपाटपुर में एक चक में भी चार जाति के चार जनों की जमीन, एक मलिक, एक धोबी, एक खण्डायत (राजपूत), और एक ब्राह्मण। देखा-देखी में उन्होंने भी सारे चक को मिलकर जोतना शुरू कर दिया, धोबी के बेटे को स्कूल में पढ़ाने के लिए बूढ़े नारायण मिश्र ने अपनी इच्छा से बुला, रुपये देकर शहर भेजा। कई जगह चुपचाप ऐसी ही कितनी छोटी-मोटी घटनाएँ हुई थी।

परन्तु नये उद्यम में मत्त होकर फूलशरा केवल उत्तेजना के भरोसे ही नही चल रहा था। बारम्बार लोग परस्पर में और अपने को चेताकर कहते थे—होशियार, हमें पुआल की आग की तरह जलकर बुझना नही हैं, उसमें तो बस व्यर्थ ही समय और शक्ति की हानि है। वे कहते, केवल 'हो' से भड़क उठने पर बाद में 'हां' चुक आती है। उदासी आती है, मुखौटा और वेश खोलकर रख दिया जाता है, विमान उतारा जाता है, मृदंग टाँग दिया जाता है। विचार के साथ सबके चलन की धार स्वतः न मिलने तक विचार जमते नही, खिसक जाते हैं। केवल उत्तेजना के वायदे से लोग बँधे नहीं रहते, 'बूझा' का दिन बीत जाता है, ठाकुरजी रहते हैं अँधेरे घर में, दोनों जून बस तुलसी पत्र और ज़रा-सा गुड़, साधु बाबा गाँव से झोली-झण्डा उठाकर गाँव से अपसारित हो जाते हैं। पुरानी पीठ पर व्यर्थ ही उठती है पुरानी ध्वनि की गूँज, कोई सुनने नही जाता। कितने मत, कितने विचार, कितने भेष पहन इस गाँव-गली में हल्ला-गुल्ला मचाकर जाने कितने अतीत में खो गये हैं। आज वे नही हैं। होशियार! वैसा कुछ न हो इस संस्था का। कोई बाध्यतामूलक कानून हो तो लोग कानून तोड़ने की चेष्टा करते हैं।

रह जाता है केवल वही जिसे एक-एक आदमी अपनाता है, जो उसे हृदयंगम कर उसके चलन की धारा बन जाता है। अन्धविश्वास नहीं, डर से मार-दाबकर बाध्य होकर सजाया गया दूसरो का मत नही, परायी सीख में पड़कर उत्तेजना में बहकर स्वीकार की गयी धारणा नही, रेवड़ हाँकने की आवाज़ नही—चिरस्थायी होता है आदमी का स्वाधीन विचार-सम्मत, आदमी के स्वभाव और परिस्थिति को रुचनेवाला जीवन-नियम।

काम-धन्धे के बाद पुराने जमाने के जमीदारी-कचहरी-घर में साँझ को कभी-कभी गाँव की पंगत बैठती। जीवन के साथ शास्त्र को मिलाकर उसके अर्थ पाने में समर्थ होते गाँव के साधारण आदमी, कोई बढ़ई या लुहार या अहीर या चासी या और कोई, जो अपने जीवन के बारे में सोच सकता है या शास्त्र के अर्थ का अनुभव कर समझ सकता है।

पुराने बरगद की छाया तले बैठ साँझ ढलते-ढलते उस बार फूलशरा के लोग शास्त्र और पुराणों की चर्चा कर रहे थे। बीच में लिपी-पुती ऊँची जगह बनी थी, गाँव की लक्ष्मियों ने मन लगाकर उसे फूलों के हार से सजाया था। उसी के पास एक चटाई पर बैठे थे धोबेई मिश्र। चारों ओर घेरे थे गाँव के लोग—एक ओर स्त्रियाँ, दूसरी ओर पुरुष। थोड़ा हटकर दूसरे गाँव को जाने का रास्ता है, कन्धे पर गठरी लादे कहाँ-कहाँ के हाट-बाहुड़े बटोही एक-एक आ पहुँचे थे। धोबेई मिश्र भागवत सुना चुके थे। एक-एक आदमी उठकर अपने मन की बात कह रहा था। उसमें गहरी श्रद्धा थी, आवेग और आन्तरिकता थी। न अभिनय था, न प्रचार के लिए कोई चेष्टा थी। हवा में मानो एक अजीब तरह की पावनता भरी थी, पेड़ पर चिड़ियाँ किचिर-किचिर कर रही थीं। सूरज सचमुच जैसे कुतूहल से देख रहे थे।

बूढ़ा मुरारी राउतरा खड़ा था। खूब खुला चेहरा, सारे चेहरे पर खिचड़ी दाढ़ी, चौड़े कन्धे पर मटमैला गमछा पड़ा है। थुलथुल पेट, सूँडी के नीचे कसकर बँधी है एक खादी की मोटी धोती। पान चबाते-चबाते खुले मुँह से मन की बात बूढ़ा कहे जा रहा था—"ये जो ढेर की ढेर ताड़पोथियाँ पड़ी हैं, ये सब क्यों लिखी गयी थीं? क्या खा-पीकर आराम करने के लिए लोगों के पास और कोई रास्ता न था कि ताड़पत्र पर लेखनी की नोक चलाते थे? अपने मन की नोक भरकर वे शास्त्र-पुराण लिखा करते थे? या ये सब इतने लिखे गये थे केवल बाबाजी-संन्यासियों के लिए? नहीं, वो बात नहीं, वो सब लिखे गये थे हमारे ही भले के लिए। सरग-नरक तो बाद की बात है, किसने उन्हें देखा है। उस लोक में जाने पर कोई आकर कहेगा कि क्या कुछ है? इसी पृथ्वी पर आदमी कैसे चलेगा, सुख-चैन से उस बारे में जो सोचा था युग-युगों तक, वही बातें लिखकर रख गये हैं। कितनी आशाएँ की थीं, बेटे-पोते-पड़पोते—उनके भी पोते आयेंगे, उस मार्ग पर सचाई से चलेंगे, यह घर, यह गाँव, यह राज हँसता होगा। वह आशा आशा ही बनकर रह गयी, फलीभूत न हो सकी।"

धनि साहू उठ खड़े हुए। पतले छड़ की तरह के आदमी, पत्तियों की तरह चेहरे पर लम्बी मूँछ, पुँछा हुआ-सा लिलार, गंजे, धँसी हुई छोटी-छोटी आँखें दोनों नीली पड़ आयी। बोले, "सच कहा राउतरायजी! विद्या रह गयी पोथी में ही बन्द होकर। इंगरेजी आयी, इंगरेजी में लिखी होती तो हमारे पढ़नेवाले लोग पढ़ते, सो तो है नहीं, उनका आदर वे क्यों करेंगे?"

सब हँस पड़े। अँगरेजों की आलोचना करने में मानो उन्हें खूब मजा आता है। धनि साहू कहते गये, "हमारी पढ़ाई तो हमारे संग रह गयी। चला इंगरेजी का राज। शहर भेजा इसलिए न कि लड़के आदमी बनेंगे, भली बुद्धि सीखेंगे, गाँव चहक उठेगा। बस जानो, वो इंगरेजी पढ़ाई ही काल हो गयी। जिसने पढ़ा उसकी रुचि बदल गयी, उसका सिर फिर गया, उसे जो कुछ चाहिए, उसने सोचा कि वो सब शहर में मिलता है। उसे गाँव में दुर्गन्ध आने लगी। सिर झुकाने लायक उसे गाँव में कोई

नही मिला; सब मिले शहर में। इंगरेजी विद्या पढ़कर उसने जो वृत्ति सीखी—वो भी शहर में है। चाकरी-वाकरी, लिखाई-पढ़ाई का काम, शहरी व्यापार, जो भी कहो। वह शहर गया, साथ ले गया अपने बाल-बच्चे को। इतने पैसे खरच कर इतनी मेहनत कर इंगरेजी पढाई केवल इसलिए कि ढेर के ढेर बुद्धिमान् लोग गाँव छोड़ जड़ काटकर परदेसी बने फिरे! हाय हाय!"

धोवेई मिश्र बोले, "ये जो कुछ कह गये, सो सब ठीक है। गाँव-गाँव में खाली डीह पड़े है। यह किसकी डीह है? फलाँ बाबू किरानी की। यह किसकी? तो फ़लाँ डिपटी बाबू की। अमुक बाबू शहर में डॉक्टर हैं, ये वकील बाबू की डीह है। उन्ही शहरियो की बुद्धि से रुचि से देश चलता है, बाकी सब तो हाथ उठानेवाले हैं, वे शहर में रहनेवाले लोग गाँव के लोगों के भले के लिए बना रहे है योजना। कब वे बचपन में गाँव में रहे थे, बचपन में गाँव को जितना जाना-पहचाना था, या सुन-सुना कर जितना गाँव का भला-बुरा उनके कानो में पड़ा, बस उसी से उनमें गाँव के बारे में ज्ञान है। शहर में रहकर, गाँव के भले-बुरे के बारे में व्यवस्थाएँ बना रहे है। इसी लिए कैसे करने पर जल्दी-जल्दी गाँव भी शहर की तरह दिखेगा—इसी चेष्टा में वे लगे है। तभी गाँव की असल समस्या हल नही होती, वरन् बढती ही जा रही है। यही तो मुश्किल है!"

उनका चेहरा उदास दिख रहा था, स्वर में खिल रही थी आन्तरिकता। बोले, "पहले जमाने में लोगों ने गाँव क्यो बसाये थे? एक साथ सुख से रहेंगे, इसीलिए तो? मिल-जुलकर एकत्र रहेंगे, तभी तो गाँव हुए। वो एकता कब से लोप हो गयी। शहर का अकेलापन गाँव में चला आया है। कोई किसी के भले के लिए दायी नही रहा, किसी के मरे-जीये से मानो किसी को कुछ नही लेना-देना। परिवार टूट रहे है, भाई-भाई में अनबन, गाँव-भर में फूट, दल के दल बनकर सिर्फ कलह-फ़साद, विरोध, मन-मुटाव। अविश्वास अनिश्चितता।

इधर किसी के झाड़ पर केले की घौद हुई, तो कल सुबह तक झाड़ पर रहेगी या नही—कोई भरोसा नही। किसी ने आम का पेड़ लगाया, और कोई उसमें से डाल छाँटकर ले गया जलावन के लिए, नारियल के पेड पर तो डाभ टिकने ही नही पाते। रातों-रात लेकर चम्पत! खेतों में वही, बाडी-बग़ीचे की भी वही दशा, कौन देखता है किसने किया? घर छोड़कर आदमी परवास में रहेगा, तो इधर घास खीचकर गायो को खिला देंगे, बाँस खीचकर जला डालेंगे, समय मिला तो खिड़की-किवाड़ भी चले जायेंगे। जरा-जरा बात पर गाली-फजीहत, किसी की बात कोई सुननेवाला नही। सहने की शक्ति भी कम होती जा रही है। नीति खिसक पड़ी।

देखो, सत भी डूब गया, बस केवल ठगकर खाने की सुविधा दिख रही है। जिसे जो दिया, समझो कि वो गया, और लौटेगा नही। इधर ब्याज बढ़ गया, भाव बढ गये। ज़मीन के मालिक बटाईदारों को ठगने लगे, चूसने लगे। उनसे सफ़ेद काग़ज

पर निशान लिये गये तो बटाईदार भी भाग में ठगने लगे, जिसे जो मिला, वह उसे ही दबा बैठा। सुलने का और नाम नहीं। जो सका, वह चल पाया, जो नहीं सका उसके घर चूल्हा भी नहीं जलेगा। यही हुआ गाँवों में। असल में अपने अन्दर तो घुन लगा है, आदमी का बुद्धि-विचार लोप हो गया। पैरों में बल नहीं, सो लड़खड़ाता है, बाहर से कोई कितनी ही मदद करे, उसकी अवस्था सुधरेगी कैसे? मानवता जहाँ ढह गया है, वहाँ बाहर से रुपये आकर सड़क, कुआँ, पोखरी बन जाने से क्या टूटा घर जुड़ जायेगा या आदमी सुख से रह सकेगा?"

"एक होना ही पड़ेगा। हमने जैसा किया वैसे सबको एक होना पड़ेगा। वरना निस्तार नहीं है"—अनेक आवाजें इसी तरह की सुनाई पड़ीं।

साधु जेना ने कहा, "एक साथ चले बिना किसी को सुख नहीं मिलेगा, कोई चैन नहीं पा सकेगा। लोग केवल हिंसा की आग में जल रहे हैं। रुपये छोड़ जाने या जमीन छोड़ जाने पर वह बेटे-पोतों को मिलेगी या नहीं यह भी विश्वास नहीं रहा। वरन् सारा गाँव एक हो गया तो आदमी चैन से आँख मीच सकेगा कि बाल-बच्चों को गाँव पोसेगा-पालेगा। भले-बुरे का दायी होगा, एक के लिए इतने लोग हाजिर होंगे।"

"हाँ यही तो बात है, बिलकुल यही—" चारों ओर से उल्लास में आवाजें सुनाई पड़ीं।

रघु जेना इस गाँव का बुद्धिमान् पुरखा आदमी ठहरा। साफ़ चमचमाता गोरा चौड़ा ललाट, अच्छे खासे हाथ-पाँव, देखने में तनिक नाटे-से। उठकर कहने लगे, "बात तो यही ठीक है, बस यह मेल, यह मन रहने की बात।"

शोर थम गया। सब उधर ताकने लगे। वे कुछ चुप रहकर फिर कहने लगे, "हमने वचन दिया है, शपथ ली है, हमने बात समझी है, एक साथ हुए हैं, हमारा गाँव एक समूची इकाई है, यहाँ 'बारह नीति-तेरह न्याव' के भेदासुर-बाणासुर नहीं। हम मेल बना सके हैं, फिर भी हम हैं कहाँ? चारों ओर क्या है? हम क्या दुनिया से बाहर हैं? इस दुनिया में क्या चलता है सो तो सुना। मन को अगर कड़ा न रखा, तो फिर तुम्हारे कान फूँकने और लोग आयेंगे। फिर इसका-उसका देखकर तुम्हारा मन छटपटायेगा, आँखें भुलसेंगी। आदमी दो टाँगवाला है—पाँच मन पचीस प्रकृति जो ठहरी उसकी! फिर ये कोई सत्ययुग नहीं, ये घोर कलजुग ठहरा—"

"नहीं, नहीं, वैसा नहीं होगा—!" कई लोगों ने कहा, कई लोग चुप्पी मारे बैठे रहे, औरतों में अधिक चर्चा होने लगी। बाद में सब देखते रहे रघु जेना के चेहरे की ओर। खूब ऊँची नाक, मुँह पर अस्त के समय की ललाई पड़ रही है, पतले होठ मुँदे पड़े हैं, पत्थर की तरह वह चेहरा, निस्तरंग। दूर देखकर सोचते-से लग रहे हैं वे। तगड़े आदमी रघु जेना यों ही बातों में बह नहीं जाते, सोच-विचार करनेवाले ठहरे। कुछ सोच रहे हैं जानकर लोगों की निगाहें उनके चेहरे की ओर उठी हैं।

रघु जेना ने कहा, "ये अपने जीवन का चलन है। जीना-मरना, घर करना,

संसार में रहने की बात । हम एक नयी बात कर रहे हैं, एक नया रास्ता खोल रहे हैं। अपने मन से तो पार पाया नहीं जा सकता, उसके बाद फिर हैं घरवालियों के मन, बाल-बच्चों के मन, सब अगर विश्वास न रखें तो यह मेल नहीं रहेगा। पेट के सुख के साथ मन का सुख, चारों ओर अगर ये आँखें सुख देखती रहें तो विश्वास में बल रहेगा। वह सुख अपने-आप नहीं आयेगा या केवल गाते फिरने से नहीं आने का, बच्चे-औरतें, बड़े मरद सभी जुट पड़ें तो यह काम चलेगा। वरना अगर सोचें कि सामलाती में तो चल जाता है फिर परिश्रम किसकी खातिर करें, तब तो हो गये निहाल....और क्या ? एक अगर ठलुआ आलसी निकल पड़े, बस फिर उसकी देखा-देखी दूसरा हाथ रोक बैठा, कोई पासे की बाज़ी बिछाये बैठा है, और कोई गया मृदंग बजाने। सामलाती घर टूटते कैसे हैं, बस इसी तरह तो ?"

धोबेई मिश्र ने उठकर हँसते-हँसते कहा, "जेनाजी ने जो कहा, एक-एक अक्षर सच है, बाधा-विघ्न बहुत हैं, विपद् बहुत हैं। इस विपद् से तरने के लिए एकमात्र रास्ता है—अपना विचार। सिर्फ़ मैंने कहा या उसने कहा और विश्वास करके अपने विचारों को नींद में सुला देने से कुछ होगा नहीं। वह काम तो ढाई दिन का है। लोग ज़रा-सी दातौन तोड़ेंगे नहीं, गुड़ाखू घिसेंगे। पिठा-पना बनायेंगे मामूली, बस जाकर सब खरीद लाओ। वैसे ही, मत भी तैयारी मत है। लो, पकड़ बैठो किसी एक को, आँख मूँदे रास्ते पर चल पड़ो, और लोग तो बचा ही लेंगे, हम अपनी आँख खोल देखें, इसकी ज़रूरत क्या है ? ऐसा करने पर दूसरों के हाथों में कठपुतली बनकर नाचने के अलावा और क्या होगा ? सब तो बनेंगे कठपुतली, रस्सी पकड़ नचायेगा कोई और। उसमें भी फिर कौन-सी स्थिर स्थिति है—आज ये नचायेगा, कल वो नचायेगा !

ऐसे ही कठपुतलियाँ नचानेवाले सूत्रधार गाँव-गाँव में बन बैठे हैं। एक आवाज़ उठाता है, आशा दिखाता है, बाकी लोग बस उसके पीछे-पीछे पागल हो दौड़े जाते हैं—पण्डे के पीछे-पीछे यात्रियों के दल की तरह। ये लोग फिर बन जाते हैं नेता। ऊपर हाकिम या व्यापारी या बड़े-बड़े नेताओं के पास उनकी दौड़-धूप बेसी, क्या ना हमें लो, हम भोट करवा देंगे, गाँव के लोगों को राज़ी कर विकास का काम करवा देंगे, ये करवा देंगे, वो करवा देंगे। उधर लोगों को भी भुलावा देते हैं कि बाहर से सहायता लाकर ऐसा करवा देंगे, वैसा करवा देंगे।

बीच में हैं ये चीतल मछली !

मान लो मदद भी आ गयी। रुपये आये देश के विकास के लिए, सबका लाभ होगा इसलिए। हुआ क्या ? एक भाग उन्हीं के मुँह में। उन्होंने घर बनाये। सड़क बनेगी तो उनकी ही बस्ती होकर या इनके घर होकर या उनकी ज़मीन होकर। पोखरी बनेगी तो उनके पिछवाड़े के पास, पुल उन्हीं के आने-जाने के रास्ते में। मछली-तेल में मछली भूनी, कुछ लोगों के हाथ में रखा, दल बढ़ाया, उन्हीं के हाथ में लोग, लोगों के हाथों में भोट की क्षमता, समझो उनके ही हाथ में भोट की क्षमता, उन्हीं की

खातिरी, उन्हीं का कमीशन। गाँव में बड़ा आदमी कोई आये, आम की वन्दनवार लगा, मृदंगिया, शंख बजानेवाले बुलाकर स्वागत के लिए खड़े हो जाते हैं, उन्हीं में से कोई तो। राजा-रजवाड़े-जमींदार तो गये, यह है एक नयी श्रेणी, एक नये शोषकों का गिरोह। वे ही व्यापार-वाणिज्य, भला-बुरा कब्जे में करते हैं। टीन के डब्बे में घी आया या दूध आया गाँव में बाँटने के लिए, तो वह देखा जायेगा उन्हीं के घर पर। वे लोग गिद्ध की तरह हमपर भी आँख गड़ाये बैठे हैं।"

सुनते-सुनते बई मलिक छटपटा रहा था, उठकर चिल्लाया, "टाउटरों को पीटो!"

थर्पातिया ने आवाज लगायी, "टाउटरों को गाँव से निकाल दो।"

धोबेई मिश्र हँस पड़े। कहने लगे, "क्यों, टाउटर पैदा होते हैं किस माटी से? माटी का शोधन करेंगे तब तो टाउटर जायेंगे, वरना वे जायेंगे कैसे? कहीं लिखा हुआ है कि फलाँ आदमी टाउटर है, वह चला जाये तो गाँव निश्चिन्त होगा? लोग लोभ में पड़कर रातों रात बड़ा आदमी बनने के लिए बाबाजी के चक्कर में पड़ते हैं, रुपये का दो रुपया होगा—यह विश्वास कर उनके हाथ में धन रख देते हैं। हम क्यों एक दूसरे को रौंदकर मैं-मैं तू-तू करें! अपने बल से तो कुछ न होगा यह मानकर दूसरों का आसरा खोजेंगे तो लकड़ी से बचाने के लिए अपने आप हम में से टाउटर निकलेंगे।"

बाद में रवि ने कहा, "स्नेह-श्रद्धा से हम एक साथ हुए हैं। इसलिए कि सब का भला हो। मन में जब सन्देह आता है, उसकी आलोचना कर लेना ही ठीक होगा। आग को छिपा लेने पर किसी का भला होगा नहीं। कोई दूसरा रास्ता पकड़ेगा, कहकर जिसे जाना हो जाये। कानून जोर-जबरदस्ती कुछ नहीं है, मन न माने तो उसे रोकने से कोई लाभ नहीं। सब अपनी रुचि की बात है।"

हँसी की फुहार बरस रही थी। उन्होंने कहा—"यह मेल युग-युग तक बना रहेगा।"

इसी तरह कितनी चर्चाएँ! कभी मिल-जुलकर दल में बैठकर, कभी काम के समय, उससे विचार स्वच्छ होते, विश्वास दृढ़ होता। गाँव अपने इस नये रास्ते पर चल रहा है, दिन पर दिन उत्साह बढ़ता जा रहा है। बुद्धि पर किसी का एकाधिकार नहीं, नाना पात्रों में नाना सद्बुद्धि, कभी किसी के माथे से अच्छी बात निकलती है, तो लगता है सबका भला इसी में है, सचमुच जैसे इसी तरह सोच रहे थे। रवि यहाँ नेतृत्व के गौरव का दावा नहीं करता।

माँ-बाप को देखने बीच में गया था, पर दो-तीन दिन भी रुक न सका। पिता ने बेटे के साथ बैठकर सुख-दुःख की चर्चा करने की आदत नहीं डाली, परन्तु अब की

बार चेष्टा की थी। उनका स्वास्थ्य कैसे धीरे-धीरे खराब होता जा रहा है, घर के बारे में बड़ा बेटा कवि किस तरह उदासीन है, और उन्होंने रवि से किस प्रकार की आशा की थी—इसी प्रकार नाना तरह से घुमा-फिराकर अपनी दुर्बलता और असहायता का बल और भरोसा लेकर रवि के मन को बदलने की चेष्टा की। उन्हीं लोगों की बातों के बीच मानो कहीं से सुनाई पड़ रहा था रुँधी-घुटी रुलाई का स्वर, नाराजगी से भीगा और ऊष्मा भरा।

माँ ने बहुत कम ही कहा था, मानो सब चुक गया है। कहने को और कुछ रहा नहीं, बस आँसू, दीर्घश्वास। अन्त में बोली थी, "तू यहाँ रह, वरना जहाँ है वहाँ ले चल मुझे, और क्या कहूँ। मेरा क्या बल है, कि तुझ से कहूँ?" उन्होंने संकेत दिया था; हो तो वही सिन्धु चौधरी के घर ब्याह कर ले, कौन मना करेगा तुझे! बस वह अपने घर लौट आये।

वह समझ गया था, उनके जीवन की धारा में कहीं से जाने कैसे एक बड़ा तूफ़ान गुज़र गया है। सब कुछ होने पर भी वे निःसहाय हैं, वे उसका साथ चाहते हैं।

"जो करना चाहता है, वही कर, यही रह, हम तेरी बाट जोह रहे हैं।" इसी प्रकार उनके हाव-भाव में कातर अनुनय था। गाँव के लोगों का अनुनय केवल हाव-भाव का नहीं हो तो, घेरकर नाना प्रकार से उन्होंने समझाया था, प्रतिश्रुति और सहायता चाही थी।

सब था एक ओर, परन्तु अपने में था एक प्रबल आवेग का अहरह धक्का। उसने उसे रुकने नहीं दिया। चुप होकर शान्ति से वह पल-भर भी बैठ न सका। माँ-बाप को तुरत-फुरत प्रणाम कर स्वप्न में तैर आने की तरह बड़े तड़के ही रवि अपने कर्मस्थल को लौट आया था।

छोटा होने पर भी एक सामलाती में चलने लायक गाँव, इतने लोगों के सम्मिलित बाहु-बल से एक बरस में कितना काम हो सका है। चकबन्दी होकर सीढ़ियों की तरह थाक लगी है, बड़ा भारी चक बना। गाँव के उधर बारहमाणिया मैदान में से कितनी ज़मीन निकली है, कितने बगीचे लगे है, पोखरी खुदी है, उस पर बड़ी-सी साग-सब्ज़ी की बाड़ी। गाँव में सब के खूब खुले घर, पहले के अवहेलित बाउरीबस्तीवालों के लिए भी। लोगों को अपनाते-अपनाते गाँव बदल गया है। अपनाना ही बदलने की पहली सीढ़ी है। फ़सल अच्छी हुई है, गाय-गोरू हृष्ट-पुष्ट हैं। लोग आशा से भरे हैं, सुखी हैं। परन्तु इतने में ही उसकी करनी थमती नहीं। समय को भेद कर दूर का स्वप्न देखते हैं—एक दिन चेरँगी नदी धार-धार हो इन खेतों-मैदानों पर से बह जायेगी, गाँव का अनुष्ठान और भी बड़ा होगा, और भी दृढ़ होगा। और भी कितने अनुष्ठान बँटेंगे, चलेंगे कितने कल-कारखाने घर-घर में, यह गाँव बढ़ेगा, कितना कुछ कहीं से आयेगा, 'सचमुच जैसे बँटेगा एक विराट् मानव-मेला।' सोचते-सोचते, देखते-देखते, गाँव की सीमा-सरहद भी आँखों के आगे विलीन हो जाती, अपसारित हो चले

जाते चिह्न, ठूह, पेड़, घर, बरसा में उगी घास की तरह बहुत सारे ऐसे ही खड़े होने कितने गाँव-गली, स्वाधीन-सुखी आदमियों के गाँव, हँसी-खुशी उच्चरित होकर लहरें फैल जाती दूर दिगन्त तक।

उस दिन जब नये तैयार किये गये खेत में निराई का काम चल रहा था, दिन के करीब तीन बजे होंगे। दो-तीन घण्टे लगातार काम कर चुकने के बाद खेत से उठकर जाकर ऊँचान में एक अकेले ताड़ के नीचे घास पर बैठे दूर देख रहा था, और उसपर वही लययोग उतर आया था। दिन-रात खून-पसीना एक कर लोग धरती खोद भातों की थाली सजाने में लगे हैं। सारी आशा, सारी श्रद्धा और देह का पसीना इस माटी को बल देता है। लहराते गुच्छे भरे फूलों भरे धान के पौधों का हलका हरा समुद्र। आकाश में हलके-हलके मेघ छाये हैं, नीचे हल्का हरित नीलम दिख रहा है। खेत के उधर और भी खाली जमीन पड़ी है, जगह-जगह एक-एक पेड़, उसके उधर एक ओर, झुरमुटी-सी जगह, बाद में ढलान चली गयी है, घेरेंगी नदी की ओर, उधर जहाँ गोल-गोल घना दिख रहा है खस का झुरमुट। खेतों में इधर-उधर लोग दिख रहे हैं, पुरुषों के साथ गाँव की कई औरतें भी खेत में उतर पड़ी हैं। वे ही जो पहले चबूतरे से नीचे कदम रखने में कुण्ठित होती थीं, बड़ी जाति की कहलाती—इस कारण उनके चलन के तरीके में श्रम की मनाही थी, वे भी शौक से निराई के काम में लग गयी थीं।

एक बार शुरू करने के बाद विचार खुद ही अपना रास्ता स्वयं दिखाता ले चल रहा है। उधर कुछ ही दूर पीछे की ओर, देवदारु के पेड़ के नीचे, नये घर की बगल-वाला अंश है। ब्राह्मण पाणु मिश्र के घर के पास ही गेंड मलिक कण्डरा का नया घर। खाली जगह पड़ी थी, पाणु मिश्र ने स्वयं प्रस्ताव किया—रंग मिश्र के सारे वंशवाले दो बरस पहले हैजे में मर गये, तब से अकेले पड़े हैं, गेंड मलिक आ जाये तो ठीक हो, और फिर गाँववालों ने कितनी खुशी से घर खड़ा कर दिया। एक दृश्य पट पर सज गया है सब कुछ, मूँगिया आकाश तले तोतापंखी धान के खेत, कूर्म पीठ से धूसर टीले और घेरेंगी नदी के किनारे फलाँसा आलूबर, एक-एक ताड़, कहीं छोटे-छोटे आम के पेड़ और बाँस के झुरमुट। उसी दृश्य में एक साथ हुए हैं पाणु मिश्र और गेंड मलिक।

ऊपर ताड़ पकने को आये, लाल और काले चित्र बने फल भरे-लदे हैं। नीचे घास पर धूसर-धूमर दंतपुष्पी की नोक। घास के दाने चुगने के लिए मानो गाँव-भर की गौरैया सारे खेत पर बैठी हैं, एक साथ झुण्ड की झुण्ड उड़ती हैं, दूर का मैदान पक्षियों के फड़फड़ाते पंखों से झिलमिलाता दिख आता है। दूर आकाश में गिद्धों का एक झुण्ड उड़ते-उड़ते एक ओर चला जा रहा है। खाली नीलाभ क्षितिज की ओर देखते-देखते रवि की चेतना ने अपने सामने की दिखती चीजें छोड़कर स्मृति और भावना का आश्रय लिया है। घास पर घुटने मोड़ पीठ की ओर दोनों हाथ नीचे टेक सहारा लिये बैठ गया है। माथे पर बाल बिखर आये हैं, चेहरा उठा हुआ है आकाश की ओर। धूप में सोंधी खाली देह में जगह-जगह कीचड़ के छींटे लग गये हैं, कस-कसकर बाँधने

की तरह कड़ी माँसपेशियाँ। वैसी सफ़ेद तो नहीं, मोटी धोती एक ऊँची-आँची बाँधे है वह।

रवि के मन में गम्भीर सहानुभूति के साथ मिलकर आदमी का दृश्य खेल रहा था, और वह सोच रहा था।

अभाव से निपीडित आदमियों का रूप फैल जाता, जिस तरह कि वह उन्हें बचपन से देखता आया है—नाना अवस्थाओं में, गाँव के टूटे झोंपड़ों में भूख से छटपटाते कई बच्चों को ढाँपे सिकुड़े चेहरे। हड़ीले रोगी, औरत-मर्द। शहर के बीच दिन-दोपहर में किस ओर से आकर किसके घर की बहू-बेटी ईंटें ढो रही है। साठ बरस का बूढ़ा सिर पर काठ का बोझ लादे बेचने के लिए धूप ही धूप में चला जा रहा है। हेंगा की तरह छाती और पीठ के हाड़ साफ़ दिख रहे हैं। चल रहे हैं फटे-पुराने पहने हाड़-चाम के समूह, रूखे-भूखे सिर लिये, खोखट में धँसी चमकती पथरीली आँखें।

खाली रास्ते पर नहीं, वह तो सब जगह निगाह में आ जाता है। गाँव में, शहर में, घर-घर में उस दारिद्र्य ने काला कपड़ा ढँक दिया है, तभी हल्ला नहीं मचता। घर का दृश्य घर के आँगन में ही रह जाता है, एक और दूसरे को देखता है, वे लोग मान लेते हैं कि संसार में जितने दिन तक रहेंगे, ऐसे ही पेट सूखकर पीठ से सट जाता रहेगा। ऐसे ही फटा-चीथड़ा पहनने होंगे। जब जो मिला खा लेंगे, पानी पीकर दिन काट देंगे। साग-कुल्थी या भात पावरोटी, बस इसी में सीमित हो बँधे रुटीन में चलता होगा यह जीवन। अभाव के साथ युद्ध करते-करते उमर पूरी हो जाती रहेगी। सूखी-सूखी देह, आधा-अधूरा चेहरा, भरपेट भोजन के अभाव में देह में रोग, चेहरे पर श्रीहीनता, मन में आशंका और उद्वेग। प्रकृति अपना काम कर जाती है, ढेर के ढेर बच्चे जनमते हैं, कोई मरता, कोई जीता। ये ही तो दिख रहा है, जीवन वहाँ जीने के लिए संग्राम है, समाज में अपनी मानवता की मर्यादा रखने के लिए। कितने लोग बड़े-बड़े घर खड़े करते हैं, धन जोड़ते हैं, यान-वाहन में घूमते हैं—वे इस संसार के सुखी लोग हैं, भद्र हैं। धन लाता है प्रभुत्व, सामाजिक अवस्था पर कर्तृत्व और नियन्त्रण की डोर, आशा और योजना। नीचे से तारतम्य बनाये रखकर अपना आसन सदा के लिए बनाये रखने के लिए सब कुछ है। नित्य नयी योजना में बँधा काम है। उसी योजना से आता है समाज-नियन्त्रण के लिए मतवाद—पहले अपनी निरापदता, बाद में फिर नीति-व्याख्यान, जिससे कि असमता दूर न होने पर भी असमता से अपनी अशान्ति की आग-आँधी दूर ही रहे। अभाव दूर न होने पर भी अभाव का कुत्सितपन सजे-सजाये आँगन-रास्ते को असुन्दर न करे।

मकान खड़े हो रहे हैं, व्यापार बढ़ रहा है, फिर भी सुख-शान्ति नहीं आ पाती।

शान्ति नहीं, आनन्द नहीं। अशान्ति, कुचक्र, षड्यन्त्र, झूठ और पाप,—इतना सारा करने के बाद भी जीवन बस इतना ही!

उसी में गरम नि:श्वास घनीभूत हो रहे हैं, आँसू जमा हो रहे हैं, दुःख संचित हो रहा है—दुख उपजाने के लिए।

वह किसी गौरैया को पकड़ लिया किसी मटिया चील ने, पेट के नीचे पंजों और अँगुलियों के बीच दबोचे लिये चली जा रही है। अन्य गौरैयाँ हटकर उड़ती हुई चली गयीं, और फिर जाकर उधर बैठ गयीं।

जो गयी सो गयी। जाने तक उसकी चेतना में लेश मात्र भी आशंका न थी, वरना वह इतनी स्वाभाविक होकर घूमती होती ! जब तक जीती थी, उसमें स्वाभाविक आनन्द था। प्रकृति का सहज प्रकाश है—उसकी नन्हीं-सी देह।

समुद्र मन्थन चल रहा है। नाना देशों में नाना प्रकार के आलोड़न हो रहे हैं।

वह स्वप्न देख रहा है। उसी समुद्र में से छिटक पड़ रही है रक्तिम आभा। सिन्दूरा खिल रहा है, इसी आलोड़न से उठेगा अमृत। इतने कलरव के बीच सुनाई पड़ रहा है अनजान अनचीन्हे अथच अति परिचित मानव भाई-बहनों के प्राणों का संगीत—हम स्वच्छन्द होंगे, मुक्त होंगे, फिर हम एक बनकर रहेंगे, एक परिवार, एक-एक के लिए दायी। सबके लिए दायी यह मानव-समाज। बच्चा धरती छूते ही मानव-जाति की विराट् समृद्धि और संस्कृति का उत्तरदायित्व अपने आप पायेगा—और पायेगा इस सृष्टि में निहित आनन्द, एक छन्द के समवेत संगीत में वह भी अपना स्वर-संगीत मिला देगा। हम चाहते हैं आनन्द ! हम चाहते हैं शान्ति !

अपने स्पन्दन-अनुभूति में स्वत: जाग उठकर रवि तेज़ी से खेत की ओर चल पड़ा।

सामने ये खेत। निराई खूब की है, और भी बहुत करना बाकी है। करके वह इसी तरह इस बजारी में गट्ठा बाँध देगा। पहले काम है ! पहले काम है !

बहुत दिनों बाद विपिन ने खबर भेजी है।

"बीच में गया मार्च का महीना। पूछो मत। बस रोज इतने सारे बाल सिर से उखड़ जाते हैं। बड़े-बड़े लोग इसी कारण तो गंजे हो जाया करते हैं। मार्च के काम का फैसला करते न करते गुज़र गया अप्रेल-मई। फिर नये काम का दबाव जो अप्रेल से चला तो लगा ही हुआ है। लोग मानते नहीं, धान पैदा करो कहने पर वे कहेंगे—हम तो सन लगायेंगे, रासायनिक खाद की बात करेंगे तो वे कहेंगे यह जमीन को जलाकर ढेले भी कर देगा। कितने निहोरे करो कि यह करो, वह करो और हमें छुटकारा दो। योजना पर योजना—सुबह मैदान जाने से लेकर खाना खाने बैठने तक—आदमी के जीवन के हर पहलू में हम योजनावाले उसके साथ खट-पट करते रहेंगे। कहेंगे पउआना ऐसे बनेगा, चूल्हा ऐसे तैयार होगा, हमारी बात न मानने पर हम और दल-बल लेकर

आते रहेंगे। धर्म-प्रचारकों से बढ़कर हम प्रचारक बन गये हैं। गू-मूत से कैसे खाद होगा—हमने इस पर कवित्त और सवैये तक बनाये हैं। जोगी-भिखारी को मामूली-सी घूस दे दो, वे घर-घर गाते फिरेंगे, पाला गायकों को तैयार किया है, सो वे मछली, मुर्गे के हाड़ों के चूरे से बनी खाद और रासायनिक खाद, जूता के कारखाने, कपड़े की कल और टापिओका (गया आलू) की खेती की उपादेयता को गा-गाकर समझाते हुए चँवर डुलाते हैं। जुट गयी हैं सारी शक्तियाँ। फिर भी कभी-कभी लगता है जैसे रथ अचल है, पैसे खर्च हो रहे हैं, हमारे सिर और देह से परिश्रम हो रहा है। लोग बस रुपये ले जा सकें तो बस सन्तोष है।

किसी के विरुद्ध लड़ाई की आवाज उठा-उठाकर उसमें मत्त हो जाने में जितना उत्साह है उतना और किसी बात में नहीं। उसका ब्रह्मास्त्र है—दरख़ास्त डालना, दल गढ़ना। एक दरख़ास्त में न बेसी पैसे खर्च होंगे और न परिश्रम, खेत से लौटते दस-बीस ज़रूर मिलेंगे जो कागज़ पर अँगूठा टीपने या दस्तख़त करने में कोई आपत्ति नहीं करेंगे, दुकान में, बज़ार में, लुहारसाल में, स्कूल के चबूतरे पर, अखाड़े घर में, दरख़ास्त पर दस्तख़त करने के लिए लोग मिलेंगे। दल भी सदाबहार नहीं। किसी ने चन्दा उगाह लिया या झाँसा देकर ले लिये या चार-आठ आना खर्च दिये, साँझ तक कोई इस दल का था तो सुबह आँख खोलकर देखोगे तो वह दूसरे दल का हो चुका होगा। जिधर सुविधा मिली वे उधर ही पिल पड़ते हैं। अतः कभी-कभी तो लगता है, जैसे योजना अपनी है भी क्या सचमुच ?

फिर भी हम योजनावाले लगे हैं। इतना करने पर भी दूध-दही की धार नहीं बही। हम रामराज्य गढ़ रहे हैं किन्तु लोग 'राम' नहीं हो पा रहे। 'राम' दूर क्षितिज तक कहीं दिखाई नहीं पड़ते, शायद बाद में आयें, हम सब जुटे हैं।

और अभी चल रहा है दनादन काम। उत्पादन बढ़ाना ही पड़ेगा। इस बरस की उपज अगले बरस से चार आना अधिक तो बढ़ानी ही पड़ेगी। कितने लोगों के साथ कितनी बकर-बकर, कितनी लिखा-पढ़ी, और फिर कितनी दौड़-धूप! ओह! दुश्मन को भी दया आ जाये!

पर एक बात है, यदि जन्म नियन्त्रण नहीं किया जा सका तो फिर कितना ही उत्पादन बढ़ाओ, अभाव नहीं मिट सकेंगे। तीन बच्चे हुए कि बस पिता या माँ को अपना ऑपरेशन करा लेना चाहिए। कोई तकलीफ नहीं, बस छुट्टी मिली जंजाल से। मान लो किसी ने वॅसेक्टोमी करायी तीन बच्चे, मियाँ बीबी दो, इतने ही तो रहे।

दो एकड़ में टापिओका (*गया-आलू*) लगा दिये, बरस-भर के खाने लायक स्टार्च मिल गया, धान को फिर कौन पूछता है? डालडा घी में टापिओका की भाँति-भाँति की तरकारी बनाओ। टापिओका को बनाओ भात, उसी से चलेगा, डब्बे के दूध को गरम पानी में डालकर टापिओका-दूध खाते रहो, जी भरकर खिलाते रहो, बच्चों को देने से उनका वजन बढ़ता है, इधर जन्म-नियन्त्रण कर माँ-बाप सुखी। कितने सहज

ही सारी समस्या का समाधान हो जायेगा। बड़े-बड़े विशेषज्ञों का मत ठहरा, पर यो हमारी योजना का ही मतलब है....

विपिन की चिट्ठी पढ़कर वह असमंजस में बैठ गया। मन ही मन विपिन को देखा—अशान्त, असन्तुष्ट।

वह अपनी रुचि के मुताबिक काम नहीं करता, उसकी योजना ही उसकी कसौटी है। वह हुक्म बजाता है। उसने अपने मातहत को बन्धन में जकड़ कर रख दिया है।

उसमें तो उत्साह नहीं, जो काम वह कर रहा है उसके प्रति कोई विश्वास नहीं, लोगों को वह क्या प्रेरणा देता होगा ?

आलोचना तो सब की हो सकती है, पर किस सीमा तक उसके अभियोग उसकी आलोचना में समाई है ?

वे तो सदा एक आदर्श सोचते रहे हैं। वह आदर्श केवल अधिक चीजें पैदा करने का ही नहीं है। ज्यादा चीजें उनके पास न थीं। परन्तु चेतना थी, पाप-पुण्य, झूठ-सच, त्याग और भोग के बारे में उनकी स्पष्ट धारणाएँ थीं, अब भी हैं।

किस परिमाण में विपिन उन्हें वह आदर्श दे सका है ? फिर सारी योजना। क्या वे कहते थे—ऐसा होगा ? विपिन ने खुद कहा था ? अनेक देशों, अनेक जातियों की देखादेखी यह एक फरमा गढ़ा गया है, काम करने पर कुछ तो उपकार होगा, पर जो सद्-विचार, जिस आदर्श को यह माटी का आदमी बड़ा मानता आता है—इसमें से ही यह नहीं मिलता, प्राणों में पुलक आता नहीं।

वह असल में इस देश का सच्चा प्रतिनिधि नहीं है। वह मानो कोई और ही आदमी है, किसी और ही श्रेणी का है।

जो और श्रेणी के नहीं हैं—वे ठहरे साधारण आदमी !

आदमी की प्रकृति को पहचाने बिना, मन की शक्ति का अन्दाज लगाये बिना आदमी पर अविश्वास और उसका उपहास कर कोई योजना स्थायी नहीं हो सकती—फालतू बुद्धिजीवी का अहंकारी आस्फालन है—यह व्यर्थ है।

विपिन की चिट्ठी पढ़ रवि इसी तरह सोच रहा था, आँखों के आगे एक स्वप्न—क्या होगा ? क्या होगा ?

आदमी की उन्नति और उपकार की वे चाहे कितनी ही व्यवस्था करें, आदमी के मन का नाम लेते ही वे नाक-भौं क्यों सिकोड़ते हैं ? उसके सारे काम, सारी चेष्टा की दिशा मोड़ने के लिए उसके विचार-स्नेह-भाव के विकास के लिए इसमें व्यवस्था नहीं है ? उसके नैतिक-आध्यात्मिक विकास के लिए योजना नहीं है ?

अपने इस सन्देह को लेकर उसने औरों से चर्चा भी की थी। चौबेई मिश्र ने कहा, "एक अन्धविश्वास हो गया है कि लोग खाते-पीते हो जायँ, पक्के मकान में रहने लग जायँ, धन-सम्पत्ति के अधिकारी हो जायँ तो उनका मन भी उदार हो जाता है, हृदय

शुद्ध हो जाता है, ठीक जैसे और एक अन्धविश्वास है कि आदमी चैन से रहे तो मन स्वार्थी हो जाता है, उसकी आध्यात्मिक अधोगति होती है। कौन किस अन्धविश्वास का सहारा लेता है। सबका कहना है कि वे ही वास्तव में प्रगतिपन्थी हैं, सत्य को खोजते-खोजते वह बूढ़े भी तर्क की भूलभुलैया खड़ी कर देते हैं। इन दोनों आत्माओं पर वस्तु का प्रभाव स्वीकार करते हैं, पर दोनों खोजते हैं—आत्मा का वस्तुओं से मुक्त करने की राह। लोग तो युक्तियों के पीछे दौड़े, आदमी के पास कौन आता है?"

नन्द तहसीलदार हँस पड़े। कहने लगे, "मैं सोचता हूँ कि यह दर्शन सोचते-सोचते हम भी एक रास्ता बनाकर रह जायेंगे, अगर मन चाहा तो। फिर काम और हो नहीं सकेगा।"

रवि हँसा नहीं। गम्भीर होकर बोला, "मैं तो उलटा सोचता हूँ। दर्शन पर हम लोगों ने ज्यादा विचार किया ही नहीं। विपिन की चिट्ठी को मैं हँसी में नहीं उड़ा सकता। विपद् की एक दिशा है वह, सावधान न रहे तो अपने काम में से वैसे ही मन निकल जा सकता है।"

नन्द तहसीलदार ने कहा, "यहाँ उस विपद् की आशंका नहीं है, बाबू! यहाँ विश्वास है, उत्साह है, ज्वार में भाटा नहीं आयेगा। विश्वास में विष्णु है, तर्क से दूर है।"

धोवेई मिश्र ने कहा, "हाँ, विश्वास से कृष्ण मिलेंगे, अन्ध-विश्वास से टटोलते-टटोलते कंस भी मिल सकते हैं। जैसा मन होगा, वैसा ही मिलेंगे। केवल उत्साह में भर उठने से क्या होगा कि 'हो-हा' खत्म हुई और बाद में सब अपने-अपने घर। आदमी जिसे खुद समझ नहीं पाता है उसे लेकर वह जीवन नहीं बिता सकेगा। अतः हमेशा सब ओर देख-देखकर काम करने की जरूरत है।"

रवि ने कहा, "कुछ होते हैं जो आदमी पर विश्वास नहीं करते, भगवान् पर विश्वास नहीं रखते, नाक-भौं सिकोड़ते हैं, आशा और विश्वास छोड़कर वे रास्ते में बिदक जाते हैं। और कुछ हैं जो बिलकुल नीचे नहीं देखते, परखते नहीं, ऊपर ही ऊपर तैर जाते हैं। वे कुछ नहीं समझते। जब देखो, बस केवल उच्छ्वासों में उड़ते फिरते हैं। ऐसी आत्मदृष्टि में जो आँखें मूँद लेते हैं, कहते हैं कि जो कुछ चल रहा वही ठीक है, वे भी रास्ते से भटक जाते हैं। हम इन दोनों विपदों से बचकर चलेंगे।"

नन्द बूढ़े ने कहा, "तुम बुद्धिमान् ठहरे, बाबू, पढ़े-लिखे। सोचते रहो, इधर-उधर की, जितनी सको। मुझमें यह बुद्धि है नहीं, यह विचार नहीं। हृदय निर्मल रहे, आदमी में स्नेह रहे तो गंगा की धारा की तरह अपनेआप बह जायेगा, आप ही बुद्धि दिखेगी। उसे गन्दा कौन करेगा? हृदय निर्मल न हो तो तर्क-वर्क से जो करोगे उसमें कदम-कदम पर बाधा होगी। हिसाब करते रहोगे, और इधर घास भी नहीं फूटेगी।"

इस बात का रवि को कोई उत्तर नहीं मिला। धोवेई मिश्र और कुछ कह न सके। दोनों सिर्फ उनके चेहरे की ओर देखते-भर रहे।

इसके बाद तीनों एक साथ हँस पड़े।

बरसा के रिमझिम संगीत के बीच रवि कभी-कभी उस नयी गढ़ी गोष्ठी को नयी दृष्टि से देखता। फिर क्या? इसके बाद क्या? वह क्या सदा यही रहेगा या और कहीं जायेगा? सोचता—यह संगठन अपने-आप चलता रहेगा या वह हमेशा के लिए यहीं पड़ा रहेगा? फूलशरा खुद अपना ध्यान कर रहा है, उसने अपनी दिशा पकड़ ली है, आगे बढ़ रहा है।

और वह स्वयं—वही जो सोचा था कि तीर्थ में रसोई बना चुकने के बाद हाण्डी फोड़कर चल देगा—कब तोड़ेगा वह हण्डी अपनी हण्डी?

सँभल-सँभलकर बई मलिक से कहा, "गाँव तो गये नहीं बई, क्या यहीं रहोगे सदा?"

बई ने कहा, "तुम जहाँ, मैं वहाँ। गाँव में ही तो हूँ, यहाँ कोई पराया है?"

रवि ने कहा, "तुम तो अपना ठीक चला रहे हो, मैं यहाँ रहकर और क्या अधिक करूँगा? वरन् कहीं और नयी शुरूआत करें तो...."

चौंककर बई ने पूछा, "यह बात कैसे जीभ पर आयी रवि भाई, कान्हा गये तो गुहाल किसके लिए?"

"नहीं, नहीं, ऐसा मत कह, यहाँ तो सब कान्हा हैं।"

बई मलिक ने कहा, "जब जाओगे तब जाओगे। तुम्हारे पीछे-पीछे मैं भी चलूँगा। फिर कभी सुनोगे कि झुरमुट बढ़ गये, जो था वैसा ही हो गया। गढ़ने में जुग लगते हैं, और तोड़ने में छिन-भर।"

बई मलिक उदास हो चुपचाप दूर देखता रहा, फिर बोला, "एक ढंग से एक पुश्त न चले, परखकर न देखे, सहे-सँभालकर माटी को जकड़कर रहने की आदत न पड़े, तब तक आदमी का चलन थिर नहीं होता। एक जगह मान लो रोशनी करनी है, एक हाथ में मशाल लेकर अँधेरे में चारों ओर भँवर काटते फिरोगे, तो क्या होगा? आगे-आगे रोशनी होती जायेगी, पीछे-पीछे अँधेरा। सब जगह तो वही आदमी, वही माटी, सब जगह तो काम का क्षेत्र है।"

यही वह बई मलिक है? रवि उसकी ओर देख रहा था।

बई ने और कहा, "सूरज उगता है, कहाँ पर उगता है? एक जगह तो। बीस जगह नहीं। फिर भी सब जगह दिन होता है, रोशनी होती है। चिकना-पक्का एक जगह काम होगा, वहाँ सूरज उगेगा, अपने-आप चारों ओर प्रकाश होगा।"

रवि ने सोचा, यही तो उसका भी मत है। यही तो उसके अन्तःकरण की भाषा है। बाहर सुनाई पड़ रहा है—बई मलिक इसी विचार का पहरेदार है।

ऐसे ही बई मलिक राज-भर में हैं। नीति को कोई अक्षर में लिखता है, भाव को देता है भाषा, भाव होता है आदमी के अन्तर में, अक्षर उसे गढ़ नहीं सकता।

अपने मन में किसी तूफान की तरह की घिर आती है एक तरह की अस्थिरता।

काम से हटने के बाद अपनेआप से एकान्त में भेंट होते समय कानों से टकराती कोई अनजान पुकार। छटपटाहट-सी लगती। मानो इतना ही उसके लिए यथेष्ट नहीं। मन करता उड़कर चले जाने को।

अपनी अस्थिरता का तार पकड़-पकड़ नीचे हो नीचे उतरते समय चौंककर वह खुद को एक नये रूप में देखता।

सन्देह होता—वही क्या इस अस्थिरता का कारण है?

उधर देखता छवि का चेहरा, वह हँस रही है।

भुला नहीं पाता है, बार-बार वह रूप खिल जाता है आँखों के आगे। लगता है जैसे दोनों एक ही स्रोत में खिंचे चले जा रहे हैं। दो जगह दो आदमी हैं, कभी मिलना-जुलना नहीं, फिर भी लगता, जैसे वही पर वह है। उसके हृदय की छुपी हुई कविता, अनलिखी, अनकही, समूची—वह उसी की है।

रवि चौंक कर काम में मन को उलझा देता। उसमें अनुभूति होती। मानो इसी में वह छवि का सान्निध्य पाता है। हो सकता है यह कल्पना-भर है, पर उसके पास तो यही सत्य है।

खबर उड़ती आती। वह पाटेली गाँव की बातें सुनता। छवि का नाम भी आता। लगता जैसे यही होगा, वह पहले से ही जानता था।

छवि को और स्पष्ट रूप में देखता, मानो कल्पना वास्तव हो रही है।

बरसाती हवा बह रही है, आकाश से धार अनवरत गिर रही है। चार ही बजे होंगे, पर लगता है जैसे साँझ हो आयी। नरसिंह पति की बुढ़िया माँ बिमला बाहर का दरवाज़ा आधा उढकाये रास्ते की ओर देख रही थी। ठण्डी हवा बुढ़िया की देह से साड़ी उड़ाये लिये जा रही थी। उसकी हाड़-चाम भर की देह पर हवा सरसरा जाती थी। बुढ़िया कभी-कभी ऊपरी होंठ को उठाती, दाँत भींचती, सफ़ेद-सफ़ेद दाँतों से मानो मेघों की 'टिलि-ली-ली' कर रही थी। सँकरे बरामदे में एक जगह खूँटी से एक बुढ़िया बकरी बँधी थी, उसकी देह से भीगी हवा छू जाती और उसे कँपा देती। बीच-बीच में वह भी होंठ उठाकर खीस निपोरती। बुढ़िया को इच्छा थी कि बकरी को खोल लाये, गुहाल में लाकर बाँध दे। इतने थपेड़े सहकर बरामदे ही बरामदे वहाँ तक जाने की उसकी शक्ति न थी। बेटा नरसिंह बुखार में सोया पड़ा है। पोते दो हैं—आठ का एक और छह का एक। कैसे भीगे हुए सिमट-सुमटकर अन्दरवाले दरवाज़े से हटकर बैठे हैं। पुकारने पर भी नहीं सुनते। बहू के पैर में गठियावात, चलने-फिरने में तकलीफ़ होती है। बस हाथ-पैर चलते हैं तो केवल बुढ़िया के। इस सुनसान बरसाती अपराह्न में बाहर की ओर नज़र किये खड़ी है बुढ़िया। कभी-कभी वह बकरी की ओर देख

लेती है, नहीं तो खाली मेघों की ओर देखती रहती है।

जलावन नहीं। उपले पानी की बौछार में घुल गये। जो दो-चार सहेजकर रखे गये थे, उनसे सुबह का शाम चल गया, इस बेला अब नहीं। चूल्हा जलेगा नहीं, लड़के दोनों, बीमार बेटा और दोनों औरतें आज रात सब भूखे ही सोयेंगे।

सामने कुछ ही दूर पर बाँस का झुरमुट। बरसाती हवा के झोंकों से लरज उठता था। घर के आगे बाहर रास्ते पर बरसात के पानी में एक नदी-सी हिलोरें ले रही थी।

बुढ़िया को याद आ जाती—कितनी ही उस तरह की साँझ की बातें। उधर की बस्ती पेड़ों की ओट में है। इसी समय उधर झगड़ा-कलह लगता। वह चबूतरे पर बैठी सुनती। सामने यह दालान धुँधला जाता। आगे यह रास्ता पड़ा है, कोई-कोई आते-जाते। और कुछ देर बाद सियारों की हूक सुनाई पड़ेगी। कलह के हो-हल्ले के बीच दूर से तैर आयेगी अखाड़े-घर से मृदंग की आवाज, कभी-कभार कोई संगीत—"आरे-आ-आ-आ.. ।" पेड़ों की ओट से घरों से दिखाई पड़ेगी रोशनी—दीपक-ढिबरी-लालटेन और चूल्हे की आग।

कोई घूमने आयेगी, आवाज सुनाई देगी, "अजी, नरसिंहा की माँ है? पतियाइन है?"

इस तरह एक के बाद एक कई साँझें। इन्हीं के बीच बुढ़िया के कट गये हैं तीन कोड़ी सात बरस, कल के जैसा दिख रहा है—ब्याह, नया घर, 'वे', नरसिंहा का जनम, उसके पीछे माल का जनम, उनका ब्याह। उनके पिता चले गये, नरसिंहा और माल के बाल-बच्चे हुए।

इसी के बीच दिख जाती है, बगुलिया के ऊपर ठकुरी जो हुई थी वह लड़की। कितनी बढ़ी-चढ़ी थी। माँ को तो पूछती भी नहीं दादी के साथ खायेगी, दादी के पास सोयेगी, जहाँ जायेगी पूँछ बनी फिरेगी। नवाँ शुरू हुआ था। ठकुरी चली गयी।

झाँय-झाँय रिमझिम बरसा के बीच यह जो पल-पल में अँधेरा ठुँसता जा रहा है, यह जो हाउ-हाउ-हाउ-हाउ, पास आने और दूर जाने की-सी झनकार आ रही है, आँखों के आगे यह जो प्रबल वेग, प्रबल गति का दृश्य है, सब ने एकत्र होकर गढ़ा है एक महाभाव का जीवन्त आवेग। घर की छान का पुआल, बरगद और बाँस के झुरमुट—सब एक ही झोंके में मानो मुड़-तुड़कर एक संगीत में मिल जाने की तरह बुढ़िया की चेतना को हिला देते हैं, खींचकर ले जाते हैं अपने साथ उड़कर घूमने के लिए, फिर लाकर छोड़ जाते हैं, फिर छोड़ और ले जाते हैं।

दिख जाते हैं—कितने चेहरे! कहाँ कौन था, पता नहीं किधर गये। अतीत की कितनी ही छोटी-मोटी घटनाएँ। एक दिन वे घटनाएँ कितनी बड़ी-बड़ी लगती थीं, लीक पकड़कर याद करते-करते वहीं चली जाती है। अनन्त समय के बीच अकल्पनीय सृष्टि। कोई उठ रही है तो कोई फिसलकर छुप जाती है। दुनिया के इतने लोगों के

होने न होने के बीच उसी का जीवन उलझे धागे की तरह किसी परिस्थिति में कभी मिलकर लिपट गया है, फिर खुल आया है। घटना वहाँ ठोस पत्थर होकर पलथी मारकर बैठी नहीं रही, केवल उसके मन में वहाँ कभी फूलकर या कभी मुड़-सिकुड़कर छोटा होने की अनुभूति दप-दपा रही है। आती है, चली जाती है। सुलग उठती है, बुझ जाती है। जाग उठती है, सो जाती है। ऐसे ही जीवन की नन्ही-नन्ही अनुभूतियाँ हैं। टटोलना और सहलाना स्वतः हो जाता है। हवा-पानी की बौछारें खा-खाकर खड़ी है बुढ़िया देह।

उसका जाना-पहचाना संसार बदल गया है। इस एक ही बरस में एक नया परिवर्तन आँखों को साफ-साफ नजर आ रहा है। गाँव में एक नया मेल, सारे दुख-सुख एक साथ होकर एक-एक सामलाती घर की तरह। इस घर की एक सिरे की भीत टूट गयी थी, उन लोगों ने खड़ी कर दी है। खाने को अब अभाव नहीं, जरूरत के चावल, दाल, नमक, तेल आप ही आप दे जाते हैं। दो बच्चे पढ़ रहे हैं। गरीबी पर अब कोई चोट नहीं करता या कोई अनादर नहीं करता।

पानी-हवा, छाया-आलोक के रूप ने आवाज दी है—आ बिमला, आ-आ—!'

नरसिंहा की माँ, सब छोड़कर चली जायेगी। उड़ जायेगी, खो जायेगी, छुप जायेगी।

बूढ़ी बकरी मिमियाने लगी। उसने बहुत सहा है, और नहीं सकेगी। नरसिंहा की माँ ने उधर नजर डाली। दीर्घ साँस छोड़कर सोचने लगी, नरसिंहा की माँ को अमर वर मिला है। तीन कोड़ी सात हो गये, फिर भी यह जंजाल टूटा नहीं।

पानी पर छप-छप सुनाई पड़ा। आवाज पास आती जा रही है। कोई आ रहा है। किवाड़ तनिक खोलते-खोलते धड़ाम् से पूरा खुल गया। घर-भर में मानो 'हँ-हँ' हँसी भर गयी, देह सिहर उठी। अँधेरा घिर रहा है। बूढ़ी बकरी मैं-मैं कर रही है बारम्बार। मानो वह कुछ देख रही है, कुछ समझ रही है। छप-छप और भी स्पष्ट हो गयी, नपी-तुली जैसी, रुक-रुककर। अबकी देखा, बाँह ढाँपे, कुछ ओढ़े हुए कोई झुका हुआ-सा लम्बा आदमी आ रहा है। थोड़ा-बहुत पहचान में आ रहा है। इसके बाद बरसा के बीच ऊँची आवाज सुनाई पड़ी—"नरसिंहा की माँ है ?"

दधि अहीर बरामदे पर चढ़ आया। छतरी ओढ़े है। एक बड़ी टोकरी लाया है। उसमें कुछ सूखे काठ की फरचनें हैं। धार होकर पानी बहा जा रहा है। छतरी भीत पर टिकाकर उसने कहा, "क्या करूँ बता, आते-आते देर हो ही गयी।"

सूखा काठ देखकर बुढ़िया खुशी में चमक उठी, "तुम्हें कैसे पता चला, बेटे, कि हमारे घर पर लकड़ी नहीं है ?"

"सुबह शान्ति की माँ आयी तब देख जो गयी थी। जानूँगा कैसे नहीं ?" शान्ति उसकी बड़ी बेटी है।

"हजारी उमर हो बेटे! हाँ-हाँ, सच, आयी तो थी शान्ति की माँ। बेटे के

लिए दूध-सागूदाना दे रही थी। बाप-बच्चे समझदार ठहरे, कैसे मानती बातें तब उसकी होती, इतनी बरसात में फिर तुम्हें भेजा ?"

"नहीं, केवल भेजा ही नहीं है। आज हमारी बात चली थी, रवि बाबू भी थे। यह जो कठिन मौसम हो गया, अनाज के अभाव में कितने ही घरों की यह हालत है। जहाँ-जहाँ तकलीफ में रसोई होती है, वहाँ तो कोई कमी नहीं, जैसे हमारे घर ही में। जहाँ अपने घर में रसोई हो रही है, वहाँ किसी के यहाँ मजदूरी नहीं, कहीं चावल नहीं। उस पर फिर यह खबर भी मिलती नहीं। जहाँ-तहाँ से खबर आती है, हम कुछ लोग नजर रख रहे हैं। घूम-घूम कर देख रहे हैं।"

"कितना काम कर रहे हो, रे, बेटे!"

"ये तो कुछ नहीं, अब तो बाढ़ उमड़ी उठी है, अफवाहों में सुना है—कल सुबह से तीन चार किश्ती-नाव लेकर चूड़ा आदि चीजें लेकर हमारे गाँव से कुछ लोग जा रहे हैं। रवि बाबू भी जा रहे हैं। और भी दस-बारह लोग जायेंगे—।"

बुढ़िया ने आँखें फाड़कर कहा, "इस बाढ़-पानी में नाव। अरे तो सारी जान गयी रे बेटे! कितने दिन पर लौटोगे, कौन जाने! इस मौसम में चूहा भी बिल से नहीं निकलता, उफनती नदी में जीवन को हथेली पर लेकर आदमी जायेगा!"

दधि अहीर ने कहा, "मैं भी जा रहा हूँ अंह, बिगड़ा क्या हो जायेगा! नदी-नाले बढ़े हैं, बाँध टूट गया है, पुश्ता टूटा है, घर बहे जा रहे हैं, गाय-भैंस बह गयी हैं। हम अगर वहाँ होते तो हमारी भी तो यही हालत होती! अपने गाँव में ऐसा होता तो फिर किसी की आशा करते? बिना गये अपना मुँह भात कैसे निगलेगा? नरसिंह भैया को भी साथ ले जाते, उनके जैसे नदी में तैरनेवाले कितने हैं? क्या करें, बुखार में पड़ गया!"

बूढ़ी चौंक पड़ी। बोली, "हाँ, मुँहजला बुखार! बिचारा उठ ही नहीं पाता। वह जो गठिया है, पैर ही नहीं उठता। कितने दिन में बैठा उठ सका होगा, कौन जाने! जाते हो, भला करते हो बेटे! पर इस मौसम की ओर तो देखा भी नहीं जाता।"

दधि अहीर ने बताया, "औरतें तो मानती ही नहीं, मरद तो बिल्कुल ही। खबर सुनकर कौन थिर होकर बैठेगा? वह पठान बस्ती में हैजे की खबर सुनते ही घोबेई मिश्र दवा का बकसा लेकर चले गये वहाँ। अर्पित गया, जगु साईं, उच्छव, दासजी आदि कितने ही लोग गये। औरतों ने कहा—हम भी जायेंगी, यहाँ कौन विचार में पड़ा रहे, हम भी चलेंगी। बहुएँ—लिंगराज पट्टनायक की स्त्री, गन्धर्व मिश्र की पत्नी, नान्दू पाढ़ी की बहू, माधू साहू की घरवाली, आदि सब उठकर चल पड़ीं, फिर और भी इसी तरह कितनी ही बहू-बेटियाँ। घोबेई मिश्र ने कहा, "ठीक है, चलो, जोग न होगा तो साँप भी नहीं खायेगा। डर क्या है? खेतों के पाट पर पानी की तेज धार बह रही है, साँप भी थिर नहीं हो पाता, पानी-हवा-अँधेरा—वे लोग गये। हो चाहे जितना भी अँधेरा हो, रोशनी तो जल रही है, ठाकुरजी तो हैं। कहाँ है—'भय

किसे डर किसे, जगन्नाथ सहाय जिसे !' यह मन रहा तो जगत् का उद्धार हो जायेगा। छोड़ो, गेण्डू, सेण्टू के घर जाऊँगा, उनके घर भी जलावन नहीं, जितना चाहिए रख लो, फिर कल आऊँगा—"

आधे अँधेरे में से बूढ़ी बकरी फिर मिमियाने लगी "मॅं-मॅं—"। बिमला बुढ़िया ने कहा, "लो रे, मेरा आगलगा मन ! सब भूली जा रही हूँ ! दे दे रे बेटे ! ला उस बकरी को ज़रा लाकर बाँध देना तो ! ओ हो, आज कैसा भाग है ! कैसा दुरजोग है ! आकर जीव आधा हो गया, इस पानी हवा में—"

दधि अहीर दो छलाँग मारकर पहुँच गया बकरी के पास। बुढ़िया कह रही थी—"भगवान् तेरी हज़ारी उमर करे रे बेटे !"

तीन नावें जब किनारा छोड़कर पानी में तैरती चल पड़ीं, समय तब चार बजने में पन्द्रह मिनट बाकी था। आकाश के मचान पर दिख रही थी काले मेघों की टोपी, नीचे हरे नीले मेघई प्रकाश के बीच सफ़ेद रोयों की तरह हलकी बौछार की पोशाक फूले-फूले झकोले में थरा रही थी, हुलस रही थी, चारों ओर दाबे बैठी थी। आँखें जितनी दूर जातीं, बस पानी की धार। देखते ही देह सिहर उठती। पलस्तर-सा मारती उठती गँदले पानी की सतह। जितनी भी दूर जाते हैं, मानो वही-वही फैला है। तट को न देखे बिना मानो कोई चारा ही नहीं। वह जैसे का तैसा है। नाव के पास-पास पानी की हिलोरों का चलता हुआ स्रोत हो। नाव के सिरे पर डाँड चलाते-चलाते इस ओर से उस ओर तक चल रहे थे दो जन नाविक। कितनी देर बाद मेघों की बौछार हलकी पड़ी, किनारा साफ़ दिखने लगा। हिलता हुआ दृश्य हिलोरें खाता-खाता पीछे की ओर चला गया। अब गति का अनुभव किया जा सकता था। उसमें पीछे का आगे जा रहा है, आगे का पीछे आ रहा है। सब अस्तित्व केवल एक न खत्म होनेवाली यात्रा में है। जीवन सिर्फ़ एक यात्रा है—भला-बुरा नहीं, जय-पराजय नहीं, केवल यात्रा भर—

किनारे पर वही सपाट धरती। कहीं अकेला घना पेड़, कहीं केवल खस के झुरमुट। कहीं आते सघन बगीचे। झुके हुए बरगदों का संसार। जड़ों से बने खम्भों पर पत्तों की हरी छत। कभी आता कोई एक गाँव, बाड़ी-बगीचा, घर की छत, थोड़ी-बहुत लताओं से बनी छावनी, नारियल के बगीचे, अकेला देवालय, झोंपड़ी, सिन्दूर पुता ग्राम देवी का थान, पोखर, गाँव का रास्ता, एक-एक गाँव एक-एक विशिष्ट रूप लेकर पास आता, एक जैसा होकर दूर चला जाता। जगह-जगह नदी के किनारे पर अकेले एक-दो एक-दो आदमी, किनारे के पासवाले गाँवों में झुण्ड के झुण्ड लोग बैठे हैं, चल रहे हैं, अपने सीमित संसार में निविष्ट हैं, नाना कार्यों में व्यस्त हैं, नाव को जाती देख

उधर देख लेते हैं। छोटे-छोटे बच्चे एक साथ चिल्लाने लगते हैं, बड़ों में से कोई-कोई जोर से पुकार उठता है। हाव-भाव करती हवा में ठीक से कुछ सुनाई नहीं देता किन्तु उस अपने ठाँव में अपने गाँव की माटी, पेड़-पौधे, गाय-गोरू, घर-संसार के बीच सजा वह आदमी, स्त्री-पुरुष, बाल-बच्चे, बूढ़े-बड़े—सब मानो एक-जैसे हों।

कहीं अकेली उस गँदले पानी में गगरा डुबा रही है किसी के घर की वहू, वह सिर उठाकर देखने लगी है।

कहीं गिद्धों का झुण्ड कुछ घेरे है। साँप जैसी लपलपाती गरदन बढ़ाकर लोंदा का लोंदा नोचकर उड़ जाता है।

पतली-सी फुनगी पर बैठी हैं कुछ छोटी-छोटी चिड़ियाँ। चुपचाप बैठी मानो कुछ सोच रही हैं, इसी भंगिमा में कहीं दूर देख रही हैं।

बाँका खजूर का एक पेड़ पानी पर झुक गया था। उसके नीचे कोई सियार खड़ा था।

ढाँव-ढाँव बाजे की आवाज आ रही थी, कहीं पर देवी की पूजा चल रही है।

दूर कहीं हलकी-सी रोशनी की घौस दिखाई पड़ी। जितनी दूर तक देखो, लगता है जैसे धान की क्यारी फैल गयी है, क्षितिज तक, अँधेरे बगीचे के सिर तक।

पीछे चला गया। फिर वह आयेगा। आता है, फिर आता है, फिर चला जाता है।

इसके बाद छाया घनी हो गयी। घने पेड़, सपाट जमीन, गाँव के बगीचे और बस्ती, धान के खेत, उसके कोने-कोने में भर आया अँधेरा। हिलकोरे लेता, रोता पानी और हवा में अँधेरा! मिलकर दिख रही थी विषण्ण बरसा की साँझ, हिलते-गँदले पानी में लम्बी-लम्बी छायाएँ बह गयीं। नाववाले ने पूछा, "यहीं रुकें या अगले गाँव में रात बितायें?"

"समय नहीं, फुरसत नहीं रुकने की," रवि ने कहा, *"अपने काम की जगह तो अभी कितनी दूर पर है। चलते रहें जितनी दूर चल सकें।"*

चेरेंगी नदी टेढ़ी होकर मुड़ गयी है। दाहिनी ओर की पतली धार गयी है पाट की ओर। अचानक कितना सुनसान लग रहा है। मानो स्थल की सृष्टि शेष हो गयी है। उसके साथ-साथ पूरी हो गयी है स्थलवासी आदमी की परिचित चेतना। दाहिनी ओर एक विराट् खाली सूनी विस्तृति है। अँधेरा पानी। ऊपर मेघों भरे आकाश में भी कुछ रोशनी है। नीचे की विस्तृति में है एक अनजाना विस्मय। वही तो रास्ता है। उस मुहाने पर वल्वाँसा-सा खड़ा है कपिलेश्वर महादेव का देवल; दाहिनी ओर कोई एक पेड़ है। देवल के द्वार की ओर से रोशनी टिमटिमा रही है।

"जय महाप्रभु!" माँझी ने छत पर खड़े होकर हाथ जोड़कर प्रणाम किया। सब हाथ जोड़ रहे हैं।

धरती और पानी की कलौंस दोनों किनारों तक लगी है। दूर उस लहराते

अंधेरे के बीच कहीं खो गया है गाँव, खेत, बाड़ी, आदमी के अस्तित्व के सारे स्मारक ! बीच में खड़ा है केवल वह पुराना देवल, पता नहीं कब कोई तेरह-चौदह सौ साल पहले बना होगा।

मोड़ पार करते-करते देवल छुप गया। तैरता-तैरता पास आ रहा है रास का अँधेरा वन, कुचलने रौंद देने को भागा आ रहा है। वह पहुँच गया, दोनों ओर पास ही पास लगा-सटा-सा। चल रही है खस-खस, साँय-साँय, छपाक-छपाक की आवाज़। उसी के सहारे-सहारे घुमाता माँझी लिये जा रहा है। घना-घना अँधेरा और उसमें हलका-हलका कहीं उजाला दिख जाता है। फिर ढँक जाता है। केवल अँधेरा—दोनों ओर, नीचे और ऊपर। केवल साँय-साँय ससर-ससर। बीच-बीच में पता चल जाता है कि कुछ दूरी पर कोई घों-घों की आवाज़ हो रही है, मानो समुद्र की लहरें टकरा रही हैं। अचानक वह लदा-फदा अँधेरा कट गया। वह उधर उसकी धार दिख रही है, बाँयी ओर। दूसरी ओर पाट में पानी बिछा पड़ा है।

मेघ बरस नहीं रहे। सूँ-सूँ कर ठण्डी हवा बह रही है। बहाती ले जा रही है। अँधेरे में छाया के नाचने की तरह माँझी डाँड़ चला रहे हैं। नाव मोड़नेवाला जम्बू बेहेरा बैठा हुआ दूर देख रहा है। उस अँधेरे में मानो उसे सब कुछ दिख रहा है। बोला, "वहाँ दिख रहा है उरी गाँव—आज रात वहीं। ऐसा विकट मौसम ! इसमें भला नाव का क्या भरोसा ? भोर होने पर फिर जो होगा—" हण्डी की कलौंस जैसे मेघ का ढक्कन फटकर कहीं दिखाई पड़ जा रहा है एक-एक तारा। नीचे काले पानी पर एक के पीछे एक कर नावें चली जा रही हैं, आकाश और पानी के बीच हलकी नीली स्याह विस्तृति, चारों ओर एक-सा खाली-खाली, सब तरफ़ पानी की अँधेरी दुनिया, कितनी दूर तक दिख रही है। उसके उस ओर ऊपर-नीचे सब अँधेरे में घुल-मिल गये हैं। खोखले अँधेरे का घेरा पास नहीं आता, कितनी ही दूर जाओ, फिर भी दूर ही है। इसी के भीतर से जम्बू बेहेरा ने कहीं उरी गाँव को ठौराया था।

"कहाँ है उरी गाँव ?" रवि ने पूछा।

"वह देखो, बाबू, वो दूर दिख तो रहा है। वह जो अँधियारा दिख रहा है न, वहीं है सातवहिना बरगद। रोशनी भी तो दिख रही है, वह क्या है....लटकन होगी।"

"मुझे कुछ नज़र नहीं आता। तुम्हारी आँखें तो धन्य हैं !"

रवि उधर दूर देख रहा है कौतूहल से। अस्पष्ट, पता चल रहा है—गाढ़े अँधेरे की तरह विराटकाय कोई जन्तु मानो दूर तैर रहा है। इसके बाद साफ़ दिखने लगा, एक ललाई-सी रोशनी टिम-टिमा रही है।

मानो वही अकेली रोशनी का बिन्दु अँधेरे में से तीनों नावों को खींचकर लिये जा रहा है।

उधर दूर देखते-देखते रवि की चेतना में भावों की लहर फैल गयी।

कोसों तक चली गयी थी ठोस धरती। वहाँ कितने खेत, मैदान, गाँव-गली।

अब वे सब पानी में डूब गये हैं, द्वीप की तरह तैर रहे हैं गाँव सब। पानी पर न कोई चिह्न है, न कोई बाढ़ है, बस सब ओर सिर्फ अँधेरा और पानी है। उसी के नीचे युग-युग की आदमी की स्मृति! कितने सुख-दुख की कहानी, जमीन के अधिकार के लिए कितने कलह-फसाद, मुकदमे!

स्थान का व्यक्तित्व भी लुप्त होकर उसपर फैल गया है विस्मृति का अँधेरा दरिया, जो कि इस इन्तज़ार में है कि जितना कुछ बचा है वह भी लुप्त हो जाये। धान के पौधे सड़ेंगे, गन्दगी फैलेगी, दीवारें धँसेंगी, आदमी मरेंगे, दबेंगे। हाय-हाय कर उठेगी अँधेरे और पानी पर खाली हवा, वो जैसे हँस रही है। इस नन्हें आदमी की जीवन-भर की चेष्टा से गढ़ी हुई वाम्वी इस विस्मृति में कहीं खो जायेगी। वही जिसे कि यह कहा करता है इतिहास, अपनी संस्कृति, अपनी परम्परा की डोर।

सिर्फ अँधेरा... दूर ऊब-डूब होती-सी वह प्रकाश की बूँद....वही मानो बार-बार याद करा देती है कि यह अँधेरा है....यह काली किटकिटाती विस्मृति है!

दूर झक् से बिजली चमकी। फिर दुबारा। फिर एक बार। गुल केवट ने कहा, "कैसे हँसी-ठट्ठा नकल कर रहे हैं हमें दिखा-दिखाकर, यह सिर सलामत रखना, हे माँ! भोंदूपने में रात की बेला में न चलनेवाले रास्ते पर जा रहे हैं! तेरा नाम लिया है, कैसे उरी छूयेंगे, और डरा नहीं—"

गुल केवट मानो कोई ढेंगु छाया हो, अँधेरे के साथ बतिया रहा है।

जम्बू बेहेरा ने कहा, "महाश्मशान है! यह कोई मामूली है—"

सचमुच तो, यह दिगन्त तक फैला एक महाश्मशान, एकदम खुला पड़ा है। पानी पर हवा खेल रही है।

उरी का उजाला और नज़र नहीं आ रहा। दूर ही दूर पर इधर-उधर झक-झक बिजली कौंध रही है। हवा में घड़-घड़ घड-घड की आवाज़ बढ़ती ही बढ़ती जा रही है, हवा का वेग बढ़ गया है।

चुपचाप जम्बू बेहेरा ने रवि से कहा, "देखो कैसा तेज हो गया है! बहुत विकट जगह है यह! सखातीपाड़ा का घाट ठहरा यह मना कर रहा था....। कितनी नावें खायी है, कितने आदमी मर गये हैं, अँधेरा हुआ कि बाढ़ के दिनों में रास्ता रुक जाता है। भूत थेई-थेई कर नाचते हैं।"

रवि ने कोई बात नहीं कही।

जम्बू बेहेरा ने उसे सान्त्वना देने के लहजे में कहा, "खैर, उसमे अपना क्या आता-जाता है? अपनी देह कीली हुई है, मन में पद है, देवी-माता रास्ता बना रही हैं। ऐसे में बाप-दादे कितने दरिया में घूमते थे, कितने शरीर गये हैं। पर जोग बिना कुछ नहीं घट सकता।"

जम्बू बेहेरा फुसफुसाता-सा बातें कर रहा है। रवि का मन उधर नहीं है। उस अँधेरे में वह अपनी कल्पना में देख रहा है एक उज्ज्वल आलोक। युग पर युग बीत

गये हैं, कितने आते हैं, जाते हैं....जन्मते हैं, मर जाते हैं....जलता रहता है वह आलोक! उसने कितनी प्रतिमाओं को जीवन्त किया है, मूकों को वाणी दी है, जड़ को चेतन किया है, गति प्रदान की है। वे घूम रहे हैं, काम कर रहे हैं, गढ़ रहे हैं, तोड़ रहे हैं, अँधेरे में कहीं खो जाते हैं, कोई निमिष भर, कोई कुछ वर्ष तक। आलोक जल रहा है।

वही तो अनुभव दे रहा है रक्त कणों में तेज का... देह में शक्ति का। बाढ़ के अँधेरे-तूफान-बरसा में चला जा रहा है मानव-यात्री। धार टूटी नहीं। आनन्द भूखा नहीं, भय नहीं, डर नहीं।

तूफान घिर रहा है। घड़घड़ाहट होने लगी, राउ-राउ हाउ-चाउ! देह में बरसा की बौछारें पड़ने लगीं। जम्बू बेहेरा ने कहा, "छाता तले जाओ बाबू!"

उलटे, रवि अनुभव कर रहा है एक उद्दाम पुलक। काहे की यह झड़ी-बरसा है? यह तो उसका सनातन उपादान है। अन्दर की गरम शक्ति को बाहर पहचनवा देती है।

देह से टकराकर फिर देह ही देह से निचुड़ जायेगा।

अन्दर जाग उठती है, इस हाव-हाव करते झड़-तूफान में खेलती-फिरती उसकी अपराजेय आत्मा। वह स्वाधीन है! वह मुक्त है!

यों जो दिख रहा है, पाट का पानी, वह सूख जायेगा, इसी धरती में अँकुरा उठेगा शस्य। यहीं फिर आदमी की चहल-पहल दिखेगी।

फिर आयेगी शरद्।

आदमी गढ़ रहा है—गढ़ेगा! एक दिन आयेगा जब बाढ़-सूखा, अकाल या हैजा नहीं होंगे। प्रकृति सहयोग करेगी आदमी के उत्थान के लिए। खेत-बगीचों को हरियाला रखने के लिए इसी उजाड़ पर से गुज़रेंगी नहरें।

और आदमी गढ़ेगा एक विराट् परिवार। वहाँ सब सबके लिए होंगे। केवल स्नेह, केवल आनन्द होगा। सब होंगे मुक्त—सब स्नेह से गुँथे-बँधे।

उसकी चेतना के क्षितिज पर वही प्रकाश है। प्रकाश है और वह है, अन्धकार नहीं।

यह तूफान उसी एकीकरण का संगीत है।

याद आया पाटेली गाँव का वही घर....नारियल के पेड़....बगीचे....घर की शान....और वह नारी....सिन्धु चौधरी की बेटी—छवि। इस तरह अपने-आप छवि जाग उठती, आँखों को बाँध रखती। आलोक के अन्दर से वही तो उठ आयी है मानो कि आलोक से ही सजी हुई है। वही चेहरा....वे ही आँखें....नासा....ओठ हैं! पवित्र....निष्पाप....निरीहता के साथ यहाँ अतल प्रेम भरा है। रवि की चेतना में उद्दाम पुलक फैल जाती है।

उसकी दृष्टि में है—अनकही भाषा की तड़ित। 'वही है यह रोशनी! मात्र उसी

ओर गिनकर चली आ रही है। कब वह पहुँचेगा, नहीं जानता। यह गिनती ही जीवन के उन्मेष की अनुभूति है।

ध्यान टूट गया। सामने उसी गाँव के पास आ पहुँचे हैं। घने पेड़। एक ओर कहीं पर लालटेन जल रही है। नाव किनारे की ओर जा रही है।

मौसी से रवि ने कहा, "बाढ़ का इलाका यहाँ से बहुत दूर है, यहीं रात में न रुककर आगे चलें तो कैसा रहे ?"

जम्बू बेहेरा ने पीछे की ओर देखा। फिर माथे पर दोनों हथेली रगड़कर कहा, "इस दुर्गम रात में अनदेखे रास्ते चले आने के बाद भी मन नहीं भरा ? जो कहते हो और भी....फिर ? भाग अच्छा था। नहीं तो मौत दे रहा था, अब तो फिर कल सुबह ही कोई बात....।"

रवि ने कहा, "पानी आज रात-भर बढ़ता रहेगा, घर टूटते होंगे।"

जम्बू बेहेरा ने कहा, "बढ़ नहीं रहा, सोच रहा है, यही तो असुविधा है। देखो न, किनारे से कितना टूट गया। पेरेंगो नदी में भी यहाँ बनसी-काँटा रखा था किनारे पर, जो काँटे से गुँथा अधर ही अधर में लटक रहा है। नदी में पुश्ता टूटा है, पानी खींचे ले रहा है।"

रवि ने कहा, "पुश्ते टूटे हैं, धूम-धड़ाम घर पानी उछलता-कूदता जाता रहेगा। रोना-चीखना मचा रहेगा—"

"उन्हें भगवान् का भरोसा है। कल जो होगा। कौन बाहर निकले अब इस मौसम में!"

पिछली नाव पास आती जा रही है। किनारा पास आ रहा है। पीछे से आवाज सुनाई पड़ रही है, "नाव को दाहिनी ओर खींचो, दाहिनी ओर, हाँ दाहिनी ओर।"

तूफान गरज रहा है, सीटी मार रहा है, चड़-चड़ा रहा है। रवि ने मुड़कर देखा, खाली अँधेरा और स्याह पानी। अपने में अनुभव कर रहा था जैसे घर छूने की खुशी हो रही है। वह भीगकर लथपथ हो चुका है। हवा सिहरा देती है। ऊपर सूना रास्ता। अँधेरे में हिलमिलाते पेड़। कोई आदमी नहीं।

याद आ रहे हैं—निवाया घर, चूल्हे की आँच, छान तले का धुँआ, पिता, माँ, और छवि ! वह चिढ़ाती-सी हँस रही है।

रवि किनारे के दलदल में कूद पड़ा। फिर बरसा की बौछार आ रही है। हवा में मानो घर-उजड़े लोगों की समवेत रुलाई भरी है। उद्विग्न होने की तरह लगा। बड़ी कोफ्त हो रही थी। घोबेई मिश्र ने कहा, "आज की रात देखें, यह मानो कह रही है कि आदमी जितना भी करे, प्रकृति के आगे उसके करने की एक सीमा है। वह भी प्रकृति का अंग है, जैसे मियाँ की दौड़ मसजिद तक।"

"हम और कुछ नहीं कर सकेंगे ?"

"करेंगे, उन्हीं सर्वशक्तिमान् शक्ति का ध्यान करें। कहेंगे—माँ, शक्ति दो, जग का मंगल करो। तुम्हीं प्रलय कराती हो, तुम्हीं फिर रखती हो, तुम्ही पालती हो!"

रवि ने कहा, "आदमी कर सकेगा, भरोसा रख सकेगा, मरकर दिखा सकेगा कि जीवन है।"

बई मलिक ने कहा, "नाव तो बढेगी नही, माँझी नही मान रहे। आज रात यही। इस गाँव के लोगो की भी तो जरूरतें होंगी।"

रवि ने चंचल होकर कहा, "पहले नाव को तो ठीक से बाँध लो।"

जम्बू बेहेरा ने कहा, "उसमें और कोई दूसरी बात है? वासेली देवी का नाम ले नाव बँधेगी, वजर-बन्धन होगा, चाहे कितना ही तूफान आये, कुछ नहीं होगा।"

बरसा खुल रही है। भीगकर रुपयप। बरगद के पास से जाते समय कुछ सुनाई पड रहा है, कट-कट मड-मडकर हिलती-सी हवा रौंदती बह गयी। कितनी रुँधी-रुँधी रुलाई, कितनी विकल चीखें, कितनी हा-हताशाएँ, सब मिलकर, घुलकर कानों के पास खेलती फिर रही हैं। दूर गाँव के अन्दर किसी के घर में फिर भी लालटेन जल रही है, कोई रखवाली के लिए बैठा है।

रवि पाट की ओर देखकर चल पडा। बस, केवल अतल अँधेरा, केवल विस्मय।

बारम्बार छवि याद आ रही है। मानो वह उसे देख पा रहा है ठीक सामने; फिर भी कितनी दूर है वह—बीच में कितना घना अँधेरा, कितने झड-तूफान, कितने हृदय-मथे दीर्घ श्वास।

निशा-भोर की उच्छ्वास—कितनी दूर है वह!

•

पाटेली गाँव में बरसा मूसलाधार पड़ रही थी।

चौधरी के घर से बाँध ही बाँध होकर पश्चिम की ओर चलने पर दाहिने, गाँव की बस्ती जायेगी। बाँध के नीचे सघन बगीचा, इसके बाद सीधा रास्ता, फिर नीचे धान का खेत, क्रमशः पश्चिम की ओर, बालू ही बालू फैली है, फिर बाँध के ऊपर में खडे होने पर बायीं ओर दिखेगा तीखा कगार, तिरछा होता गया है, दाहिनी ओर नीचे ही नीचे उतर गयी है तटबन्ध के कगार की चिकनी ढलान। वही रास्ता गया है जोगी बस्ती को।

उसके उधर दिख रहा है, डोमों की बस्ती के इस सिरे पर अकेला खड़ा सेमल का पेड, कुछ जरा हटकर।

जोगी बस्ती के लोगों का कहना है कि मूल पाटेली गाँव यही है। उन्हीं के पूर्वजों ने इस गाँव को बसाया था, इसे नाम दिया था। इसी माटी में दबे हैं उनके अकलनीय युग के पूर्वज, और जाने कितने ही अभी भी बैठे है, जीवित। उनका कहना

है, इस खण्ड में यही थी अदग्ध धरती, किसी जमाने नदी अन्दर थी, सिद्ध साधक यहाँ रहेंगे—इसलिए नदी सरक गयी। सिद्धों ने यहाँ डेरा जमाया। उस दिन से हैं वह यहाँ। प्रमाणस्वरूप वे दिखाते हैं पास-पास टीले पर खड़ी दो पुरुष-भर ऊँची तीन वाम्बियों को, कहते हैं ये ही तो हैं कादयपनाथ, ये ही कपिलनाथ, ये ही कमलनाथ। तीन सिद्ध ध्यान करते-करते वैसे ही मानो जीवित वाम्बियाँ बन गये। उन्हीं के वंश के हम हैं, वही रक्त है। अकलनीय युग का साधना पीठ। अकलनीय युग की बस्ती। उसके उधर जो पाटली गाँव है वह तो नयी बस्ती है।

पर देखते ही धरती कह देती, नदी ने कभी यहाँ तटबन्ध तोड़ा था। जानकार—देखे हुए आदमी ही कह सके कि कब तोड़ा था। अब तो उनमें से कोई बचा नहीं।

चारों ओर माटी इतनी बलुई होने पर भी किसी-किसी के पिछवाड़े में छोटा-मोटा बगीचा भी दिखता। नारियल, कटहल अच्छे फलते। किसी को बुखार होने या दस्त लगने पर डाभ की खोज होती तो इधर ही पहले गाँव के लोग आते हैं। नारियल के अनेक पेड़ हैं। जोगी बस्ती का प्रसिद्ध लाभ लड़ाई-झगड़ा लगाने के लिए असल बीज है, इसी को लेकर कितने घरों में मतान्तर हो जाता है। साग-सब्जी अच्छे होते। गाय-बकरी मोटे-ताजे दिखते। जोगियों का कहना है कि यह सारी उस जोग-विभूति की दया है, सब उसी की महिमा है।

वैसे ही इस महिमा के कारण जोगी बस्ती के लड़के-लड़कियाँ सुन्दर होते हैं। जोगी बस्ती की बेटियाँ तो अपनी सुन्दरता के लिए सारे इलाके में प्रसिद्ध हैं।

गोल-गोल होकर मुँह बन्द चेहरे लिये तीनों सिद्धनाथ! उनकी समाधि-पीठ के चारों ओर घूहर और लम्बी-लम्बी नागफनी बढ़ी हुई है। फूल खिलते हैं, पिछवाड़े में लगे हैं गोल-गोल कई बबूल के काँटेदार पेड़, फूलों से लदे-भरे।

किन्तु जोगी बस्ती की असल बुनियाद को अस्वीकार करती हैं डोमों की बस्ती। बस्ती के उस सिरे पर आज भी जगह-जगह इक्के-दुक्के पाटली के झाड़ खड़े दिख जाते हैं, उनमें रक्तिम लाल-लाल फूल खिलते हैं। उनका कहना है कि वे लोग पहले आये थे। पहले यह भाग पाटली वन था, उन्होंने ही बस्ती बसायी थी; अतः यह है पाटली गाँव। फिर पता नहीं कब की बात है? हाँ, हाड़िपा गुरु गोविन्दचन्द्र भ्रमण करने को लेते आये। जगत्-भर में घूम रहे थे। तब पाटली वन की अपूर्व शोभा देख वे यहाँ कुछ बरस रुक गये थे, उन्हें भुलाने के लिए इन्द्र ने पाटेली-कन्या भेजी। पाटली वन में पाटेली-कन्या ने उनकी सेवा की, उनमें एक के बाद एक कर दो पुत्र, एक कन्या—अजपा, अछपा, अरूपी। बाद में हाड़िपा गुरु चेते। बोले, 'मुझसे इन्द्र ने डरकर इतना बड़ा काम किया, संसारी बना दिया, उसी दोष से पाटली-कन्या को अभिशाप दिया—तू और तेरे बाल-बच्चे होंगे पाण (डोम), ठाकुरजी की पूजा के समय बाजा बजायेंगे तो तुम्हारी मुक्ति होगी।' इतना कहकर गुरु हाड़िपा अन्तर्धान हो गये। अरूपी ब्याह कर गयी जहँतरागढ़। अछपा उठ गये चण्डी बरमपुर। अजपा यहीं रहे, घर-संसार

बसाया, वंश बढ़ाया।

"इन तीनों थल के पाण इस ओड़ राष्ट्र-भर में एक नाम हैं, पूछ देखो। छोटे होने पर क्या हुआ, हाड़िपा का रक्त अब भी इस देह में है। कौन नहीं जानता उनकी महिमा? नारियल के पेड़ को कह देते कि 'झुक', तो लरज जाता था, डाभ तोड़ लेने तक वैसे ही सिर झुकाये रहता। 'सीधा हो' कहते, तब उठता। किसी गाछ पर चढ़कर उसे 'चल' कह देते तो बस उड़ चलता आकाश-मार्ग से, फिर जिधर इच्छा होती उधर जाते। माटी को सोना और सोने को माटी, जिन्दे को मुरदा और मुरदे को जीवित! वे सब कुछ कर सकते थे। इन्द्रपद पा जाते, उस पाटली-कन्या ने उन्हें विभोर कर लिया।"

ऐसे गुरुगम्भीर होकर बूढ़ा नतुरा डोम या नरसिंगा डोम सिर हिला-हिलाकर धीरे-धीरे बात कहता, "यह जोगी बस्ती—वह तो कितने बाद की है, कल की तो बात है, नदी के कछार में खस के झुरमुट साफ कर झोंपड़ियाँ खड़ी की गयी थीं।"

जोगी बस्ती में केन्देरा का अभ्यास करते समय उधर से सुनाई पड़ती महुरी की उत्ताल गूँज। इस तरफ टूटी दीवार पर बकरी में-में करती तो उधर फूटी दीवार पर चढ़ता गंजा मुर्गा पहर की आवाज लगाता।

दोनों बस्तियों के सामने लम्बा पसरा है जोहड़। उसमें दल भर गये हैं, पानी में खिलनेवाले केन्दुली, पहले नदी ने यहाँ जब बाँध तोड़ा तो बहुत सारा बहाकर ले गयी थी। लगता है, उसी से यह जोहड़ बन गया। वो भी पता नहीं कब की बात होगी, किसी को याद नहीं। जोहड़ कम ही गहरा है। किनारा छोड़कर जितना-जितना लम्बा नीचे की ओर खिसका है, उतने ही उसके सहारे-सहारे जोगी-बस्ती और डोम-बस्ती के पिछवाड़े की बग़ीचियाँ-बाड़ियाँ फैल गयी हैं, जगह-जगह केले के झाड़ भरे हैं।

उस बार की उस घोर बरसा में जोहड़ भरा था, खेत भरे थे। चारों ओर खेत-बंजर सब जगह से पानी बह आया। नदी के किनारे नीचे की ओर सहस्र धारा से घाई खुल गयी। बह गया भुस-भास कर। इधर पानी में ऊब-डूब होती जोगी-बस्ती, उधर और भी छूट रहा है नाला, जितने केवड़े के झुरमुट काटकर डालो, या माटी काट-काटकर आड़ी डालो, मुँह बन्द होता ही नहीं। इधर पानी की ऊँचाई उठती-बढ़ती जा रही है, किसी के घर के आँगन में पानी लहरें मार रहा है, किसी की दीवारों पर हिलोरें ले रहा है, बराबर मूसलाधार बरस रही है। ऊपर पानी, नीचे पानी। गरज-गरजकर आ रही हैं तेज़ बौछारें, उड़ाये लिये जा रही हैं, हिला देती हैं। उधर आशंका, कब नदी का पुश्ता ढह जायेगा। इतनी खुँदी-ठुँसी बस्ती में कोई टीला भी नहीं है। पानी बढ़ा तो सब निराश्रित। जिधर देखो, बस केवल पानी ही पानी, जीभ सूख जाती है।

पाटेली गाँव के लोग उस पुश्ते को बचाने में जुट पड़े हैं, घाई खुल गयी तो क्या होगा! एक दल के लोग टखनों तक के पानी में होते हुए जोगी-बस्ती में पहुँच गये हैं। उन्हीं में छवि भी है।

डोम-बस्ती के चारों ओर पानी घिर गया है; किन्तु यह जोगी-बस्ती से तनिक ऊँचाई पर है, पानी दीवार के पास सरक आया है लेकिन आँगन में नहीं घुसा। जोगी-बस्ती में सिर्फ हाय-हाय लगी है। थाली लेकर फिर आने पर भी ये लोग भागी हैं, भिक्षाटन तो उनकी पुरातन परम्परा के अनुसार एक मर्यादा है, कभी-कभी का मौज है। मानो यह एक प्रकार से सामाजिक कर्तव्य भी है। घर में हल-बैल है, कोठला, भारी, पेटी पिटारा है, कितने जमाने का जोड़ा हुआ, कितने फटे-पुराने कपड़े, पुआ, बलाय-बलाय, कितनी अनावश्यक चीजें जो कभी काम नहीं आतीं, फिर भी घर से निकाल देने को मन नहीं करता। किसी के साथ कौन-सी स्मृति जुड़ी है। अचानक आँगन में पानी लहरें मार रहा है, दरवाजा लाँघ रहा है। पहले चीजें उठाकर रखी जा रही हैं ऊपर, सन्दूक और बक्से हों तो उनपर। फिर वहाँ से वहाँ रखो, जहाँ तनिक सूखी जगह हो। देखते ही देखते पानी-भर आता है, घर के अन्दर पानी की सतह ऊपर और ऊपर उठती जा रही है, क्या होगा इसके बाद ? सचमुच क्या घर छोड़ बाहर जाना पड़ेगा ? आशंका घिर रही है; किन्तु बढ़ने-बढ़ते यही एक रही है—यही, जहाँ आदमी के मन में आशा है कि यह पानी घटेगा, छूट जायेगा। और अधिक कुछ होगा, ऐसी कोई कल्पना ही मन में नहीं आती। परन्तु चल रहा है हो-हल्ला, उपदेश देना-लेना, विचार-सलाह, पानी को लहराते देख विश्वास दहल उठता है। कोई एक-दो गाय-गोरू लेकर किनारे की ओर मुँह किये चल पड़ा, पीछे-पीछे और भी पार आ गयी, बाल-बच्चे लेकर गोठ-गठरी लाद चटाई-चादर सिर पर ढोकर चल पड़े कुछ लोग—वे ही लोग जिनका घर में अधिक कुछ नहीं है। थोड़ा-बहुत जितना है, उसी के लिए तर-तर हो रहे हैं। खेत में कहीं घुटने तक, कहीं कमर तक पानी, जिधर नजर दौड़ाओ, पानी ही पानी। बरसाती हवा और भी जोर-जोर से बौछारें मारती आ रही है। जाते लोगों को देखकर रुके हुए लोगों की छाती में छन् से सिहरन भर जाती है। पाटेली गाँव के लोग घूम-घूमकर बहलाने में लगे हैं, पुश्ते के नीचे से छेद निकला है, उपक्रम करने पर भी नहीं दबता। पुश्ते का भरोसा नहीं, रात आ रही है, चले आओ बन्ध के ऊपर, पहले जीवन, बाद में और कुछ।

औरतों के दल में छवि थी। घर-घर वही सिर चकराती भँवरों में उसने क्या क्या किया, उसे कुछ याद नहीं। किसके बच्चे को गोद में उठाया, किसके घर की चीजें बाँधीं, किसका हाथ पकड़ घसीटते-घसीटते बाहर खींच लायी कि कहीं दीवार न धँसकर ऊपर गिर पड़े। ढूल-ढालकर गिरती किसी की भीत देखी, लोगों की चीख-पुकार उसके कानों में पड़ी है। बुद्धि आकर कहती गयी—यह कर, वह कर!

'चले जाओ', 'चले जाओ' कहते-समझाते ये लोग जोगी-बस्ती से डोम-बस्ती की ओर पहुँचे। डोमों की चौदह-पन्द्रह घरों की बस्ती। जोगी-बस्ती से पहले से वे लोग तैयार हैं। पोटली, गठरी, बहँगी लटकाये बाँध-बूँधकर आगे बढ़ गये। अस्सी बरस का बूढ़ा शतुरा डोम सबको चेता गया है—यह तो कहीं धाई टूटा पानी है, खेत का बहाव-

वाला पानी इतने ताव में नहीं आयेगा। ऊँचे घराने की औरतों को अपने दरवाजे पर देखकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। "किधर आज कहाँ आ गयी बेटी, साआन्तानी, आप लोग! देखो न, कैसे पानी दबाये आ रहा है! पर वे सब तो मिल गयी घर में, सबसे।"

उन्हीं के साथ मिलकर चीजें ढोते, बच्चों को गोद में उठाये फिर रही है—छवि, केला की स्त्री, रघुआ की माँ, साथ की जितनी बहू-बेटियाँ। दुख-दुर्दशा में एक साथ दल बाँधे आदमी हैं, सब मानो एक ही घर-परिवार के हैं। कोई भिन्न जाति नहीं, बस्ती नहीं, अलगाव की चेतना ही वहाँ नहीं।

मेघों ने अंधेरा कर रखा है। मूँ-मांती हवा। पानी में बहाव तेज हो गया है। जाँघ तक, कहीं कमर तक के पानी में लोग-बाग धकेलते-धकेलते आगे चले जा रहे हैं।

छवि वगैरह ने इसी तरह तीन बार आना-जाना किया। तबतक जोगी-बस्ती में लोग कम हो चुके थे, डोम-बस्ती में अब और कोई नहीं रहा था। चीजें सिर पर लेकर गाय-भैंस खींचते कोई-कोई आ रहे हैं। पुश्ते पर तब भी लोग माटी डाल रहे हैं। आपस में कह रहे हैं—"खेतों की ओर इतना पानी किधर से आ रहा है, या दूसरी नदी में, दूर कहीं, कोई घाई टूटी है?"

बाँध पर पैर रखने को भी जगह नहीं है। सबसे पास अहीर-बस्ती के सामने आम का बगीचा है। चीजें सिर पर लादे, बाल-बच्चों को काख में लिये, गाय-गोरू लिये, जोगी-बस्ती और डोमों की बस्ती के लोग चल पड़े उसी ओर। जिसे भी जगह मिली, वह अहीरों की बस्ती में, किसी गुहाल के कोने में, या बरामदे में, या चबूतरे पर जा टिका, नहीं तो पेड़ के नीचे, जहाँ कहीं सूखी जगह मिली। कहीं गीली, कहीं कीच—भली-बुरी जगह का कोई विचार न रहा। लोगों की भीड़ से बगीचा भर गया। पूछ-ताछ करने नहीं तो केवल देखने के लिए ही बस्ती-बस्ती से स्त्री-पुरुष आये। वही छवि और उसके साथ की स्त्रियाँ, लोगों को रखने-बैठाने के काम में जुटी थीं। उनके उद्यम से अहीर-बस्ती में जगह-जगह गुहाल झाड़-बुहारकर साफ किया गया, लोगों को राँधने-पकाने के लिए चूल्हे जलाये गये। भीगे कपड़े सुखाने के लिए, देह तपाने के लिए बगीचे में जगह-जगह आग जलायी गयी।

दुख-सुख से सब मिल गये। गाँव ने उन्हें अपना लिया।

पहर रात भी नहीं गयी होगी, अहीर-बस्ती के भीगे रास्ते पर बैठ गयी एक बड़ी पंगत। केले के पत्तों पर भात और डालना (दाल में ही सब्जी वगैरह डालकर बनाया गया खाद्य पदार्थ) परोसा गया। सिन्धु चौधरी देखने आये थे। तबतक छवि और साथ की स्त्रियाँ जा चुकी थीं, भोजन का जुगाड़ करके। साथ में सतुरा डोम की पतोहू ले गयी थी, उसके महीने-भर का बच्चा जो था। घटा-टोप अँधेरा, रास्ते में फिर बरसा, पर छवि का मन ताजा था, मानो वे गढ़ जीतकर आ रही हैं, छवि को याद आया, ऐसे ही बरसाती रात थी उस बार। भीगा हुआ पहुँचा था वह, जिसका वह ध्यान करती—रवि! क्या करता होगा वह? छवि के मन में उत्साह भर रही है उसके चेहरे की

रात-भर का खेल है, फिर वह अपने स्थान को लौट जायेगा, और क्या ? इधर आ, वहाँ देख।"

दूल का मन नहीं माना। पानी में घुस एक-एक कर गाय-बकरियाँ लाकर उसे घर के अन्दर और सोने के कमरे के बरामदे में बाँधा, पर हो चाहे जानवर, भीड़ में उन्हें भी तनिक आश्वासन मिला।

घड़ाम से एक आवाज आयी। एक साथ गाय-बकरी सब चिल्ला पड़े। खाट पर से कूदकर दोनों बाहर आये। पिछवाड़े में रसोई की पिछली दीवार गिर गयी थी। आँगन खुला पड़ा था, पिछवाड़े में सब दिख रहा था, केवल खाली मैदान, समुद्र फैला पड़ा है, पानी हिलोरें ले रहा है, पानी ही पानी।

झक् से बिजली चमकी, फिर झक्, झक्, झक्। घर-बाहर सब एक हो गये हैं। पानी में तैरते-से कुछ-कुछ इधर-उधर टापू।

पानी में छपाक-छपाक करते दोनों बाहर आये। रास्ता सुनसान पड़ा है। बिजली चमकने पर स्रोत दिख जाता है। कितने ही घर पछाड़ खा गिरकर सो गये हैं। इधर दिखता है, मानो समुद्र लहरा रहा है। दूल बरामदे से नीचे उतर गयी। कमर तक पानी, फिर शीघ्रता से ऊपर चढ़ आयी। सारी देह सिहरन से भर गयी। बोली, "पानी तो बहुत बढ़ गया है, अच्छा, भगवान् को पुकारें! भय को जितना देखेंगे, वह उतना ही भयावना दिखता रहेगा!"

चिवड़ा भिगो खाकर खाट पर लुढ़ककर समय काटने लगे। आँखों में नींद कहाँ? बाहर घोर अँधेरा भरा था, घर के अन्दर एक लालटेन सन्दूक पर रखी जल रही है। अभ्यस्त भजन को दुहराते-दुहराते कुछ समय कट गया रोही का, इसके बाद वह भी बन्द हो गया, अपना स्वर खुद को चौंकाता-सा लगा। दूल के गले तक बात उठ आती थी कि कहूँ—तुम्हें ऐसी बुद्धि कैसे हुई? सब गये, सिर्फ तुम क्यों नहीं गये? सचमुच यह प्रलय की रात कटेगी भी? जीवन रहेगा भी? जान-बूझ क्यों विपद् को बुलाया?

पर वह मन को मजबूत कर खुद को सँभाल रही थी, रोने को जी चाहकर भी वह रो नहीं रही थी। यह विपद् मानो संसार-भर में उसके सबसे प्रिय व्यक्ति के प्रति उसकी आँखों में और अधिक आदर भावना भरकर परिचित करा रही है, और अधिक निविड़ भाव से गूँथ रही है उसके साथ। उसे लगता है—उसका सब कुछ तो यही है, इसी के लिए तो वह जीना चाहती है, यही तो उसके जीवन का हेतु है।

रात गहरी हो गयी। आधी रात हुई होगी। भयंकर घड़ाम्-घड़ाम् की आवाज से दोनों फिर चौंक पड़े। उस कमरे की बाहर की तरफवाली दीवार धराशायी हो गयी थी। बिजली खिल्ली उड़ाती-सी चमककर चली गयी। सब खुला था।

तब बावली की तरह दूल ने काँपते हुए रोही को जकड़ लिया और फफक पड़ी। बस बाल बाल बच गये थे, नहीं तो दीवार उनपर भी तो पड़ सकती थी। रोही खुद

को दूल के बन्धन से मुक्त कर उसके हाथ को पकड़ खींचता-सा, आतुर होकर कहने लगा, "हे भगवान् ! हे भगवान् ! चल, चल—"

घर के आँगन में सब एकाकार । भीत, कमरे की दीवार, सब बैठ गये थे, इधर-उधर पानी फैलता जा रहा था । रास्ते की तरफवाला कमरा अभी भी बचा था । पर उस कोठरी में पानी घुटनों तक । दूल चिड़चिड़ा रही थी, "सब गया—सब गया—ई रो—मेरी गाय खड़ी-खड़ी ही मर जायेगी ।" अँधेरे में टटोलती-सी सबकी जेवड़ियाँ खोल डालीं । खोलने पर कौन किधर चली जायेगी या वह जायेगी, यह विचार न था । इसके बाद रोही को डर लगा । दूल नहीं दिख रही थी । वह चीखा, "दूल, दूल, कहाँ गयी ?" भण्डार घर के टूटे ढेर के नीचे से दूल की रुलाई सुनाई पड़ी । लम्बी छलाँग भरकर फाँदता हुआ रोही उसके पास पहुँच गया । हाथ पकड़ खींच लाया, "बड़ी बाढ़ आयी है री ! निकल आ, छान पर चढ़ जा, छान पर चल ।" टूटी दीवार की झुकी हुई छान पर से होते हुए बाहरवाली कोठरी की छान पर वे जा बैठे । बरसा थमी हुई है । चारों ओर सूँ-सूँ सुनाई दे रहा है । पीढ़े पर बैठकर रोही ने पुकार लगायी—"कोई है... बचाओ... रक्षा करो !" मानो उसी की पुकार की प्रतीक्षा थी । दूर-दूर से वैसी ही और भी लम्बी चीख-पुकार सुनाई दी—"हो ओ—ओ—रक्षा करो—।"

सुनाई पड़ रही हैं परायी आवाजें, उस भयंकर रात में किसी का व्याकुल स्वर, मानो और किसी व्याकुल व्यक्ति को सान्त्वना दे रहा हो कि विपद् में भी हम एक हैं, गोठ से अलग नहीं, जीये साथ-साथ, और अब भी साथ-साथ ही. .. ।

थोड़ा हल्ला कर घुटे-मुँदे मन का उफान बाहर निकालकर रोही और दूल ने जब स्वयं को तनिक आश्वस्त किया तब रोही ने दूल से कहा, "शायद प्राण-बस्ती का फगू बूढ़ा रह गया ? घुटने की गाँठ तो फूली हुई थी, देह अचल थी ही, बेटा नहीं, घर वाली नहीं, कोई नहीं । शायद बूढ़े को कोई ले नहीं गया ?"

अकुलाहट में दूल ने पूछा, "अब क्या होगा ?"

रोही ने हिम्मत से कहा, "कुछ नहीं री, दीवार गिर गयी, पानी भरा है, तभी ऐसा दिख रहा है, पानी घटने पर सब घर खड़ा करेंगे, चिन्ता क्या है ? ऐसा होगा, मैं क्या जानता था ? धीरज रख, जो होना था सो तो हो गया, भगवान् की पुकार !"

फिर आ गयी बौछार । दोनों भीगने लगे । दोनों ने एक में स्वर पुकारा, "हे भगवान् ! हे भगवान् !"

उस बौछार के बीच कितना कुछ कहीं गिरने लगा । घड़ी-घड़ी में बिजली कौंध जाती । पानी लहरा रहा है, कितने घर उखड़ गये, टूटी-फूटी दीवारों के पार दिख जाते हैं खुले आँगन, ढेर को ढेर बनी कोठरियाँ, दीवारें और धराशायी छप्पर ।

नीचे गाय-बकरियाँ बिखरी फिर रही हैं, रँभा रही हैं, साँय-साँय हवा के झकोरे और नीचे सूँ-सूँ करता पानी का बहाव ।

और फिर अचानक प्रलय आ गया । घोर गर्जन शुरू हो गयी, मानो समुद्र

उछल आया है, या एक साथ घड़-घड़-घड़-घड़ करती रौंदती जा रही है कोई तेज रेलगाड़ी। दूल चिल्लाने लगी, "सब दोष, सब खत्म हो गया! नदी का बन्ध टूट गया है!" 'भगवान्'! 'भगवान्!' चिल्लाकर उन्होंने प्राणपण से पुकार लगायी—आदमी के कानों तक पहुँचाने के लिए—"हो—बचाओ, रक्षा करो।" उछलते पानी की गरज, बरसा की हाव-हाव में कहीं उनका स्वर घुल-मिल गया। प्रबल वेग से तूफान की तरह रौंदती आ गयी ढेरों लहरें, बिजली की झक्-झक्-सी लगती थी—मानो सदल-बदल उछलती-छलाँग भरती आ रही हैं, घर-द्वार, पेड़-पौधे सब खींचती-उखाड़ती आ रही हैं! ओह! कितना क्रोध, कितना रोष भरा है, कितनी गरज-तरज, भीमाकार है! पेड़ के पेड़ उखड़े जा रहे हैं, और झक्झकाती झलकों में दिख जाती हैं ऊपर को मुँह किये पेड़ों की जड़ें, आड़े पड़ी छानें, ढेर के ढेर कुरी जो उराड़ती जा रही है, लहरों और गोल-गोल चक्कर काटती भँवरों की उछल-कूद में। बिजली थम जाती है, अँधेरा दल्दला जाता है, फिर बिजली कड़कती है, और उसमें कौंध जाता है बिलकुल जानी-पहचानी बस्ती का रूप। कितनी जल्दी बदलकर हो गया है एकदम अनपहचाना; जहाँ जो कुछ था उसका रूप आँख मोचने पर भी साफ़ दिख जाता है मन-ही-मन। बाहर वहाँ उसकी सत्ता लुप्त हो चुकी है। पास में जो कुछ था वहाँ अब और नहीं है, कोई पेड़, कोई बाग-बगीचा, किसी का चबूतरा, किसी की दीवार, पल-पल में वह सजा-सँवरा बदलकर अपरिचित हो गया है। नया भी कितना कुछ बह आया है, छान-छप्पर, काठ, चीजें। पुराना कहीं जा चुका है। फिर भी दौड़ती-भागती लहरें आ रही हैं—लहरें, दल की दल बाँधे। और अँधेरे के ढक्कन तले जब कुछ नजर नहीं आता, केवल घना अँधेरा ही अँधेरा भर जाता है, कानों में अनवरत घू-घू पानी की आवाज। बीच-बीच में आदमी की व्याकुल चीखें, और तब छाती दहल जाती है। तबतक धाई के टूटने का प्रबल तोड़ उनके घर के ऊपर तक सारा जोर लगा कर नहीं उठा था, घर तनिक बगल में होकर कुछ ऊँचाई पर है, पर बिजली की चमक में दिख जाता है—कितना ऊपर बढ़ गया है, आस-पास सब जगह ध्वंस और प्रलय की ताण्डव-लीला चल रही है। दूल रो रही है, चीख-चिल्ला रही है; रोहीनाथ पागल की तरह बक रहा है, रो रहा है, आवाजें दे रहा है। और उस कोठरी के ऊपर दोनों बैठे एक दूसरे को बाँहों में भरे हैं, कहीं कोई किसी को छीन न ले जाये। बढ़ते हुए प्रलय की आवाज के बीच दूल की आवाज सुनाई पड़ रही थी, "ई लो, वह नेला (बाछा) बह गया!—ई लो, बाछड़ी गयी—माई री, मेरी बकरी कहाँ जा रही है—" तबतक प्रलय की भाँवर रौंदती आ गयी थी उनकी छान के नीचे तक और मानो वही दिखाने के लिए बिजली चमक उठी हो। रोहीनाथ ने देखा, उस कोठरी के अलावा उनकी सारी की सारी कोठरियाँ गिर पड़ी हैं, छान गिरकर ढेर हो चुकी हैं, बिछे बाँस भँवरी खेल रहे हैं, कितने बहे जा रहे हैं, और उसकी आँखों के आगे बहे जा रहे हैं—गाय-बकरी, घर की चीजें। सन्दूक-हण्डी, कपड़े-लत्ते का सारा संसार, और जाने से पहले मानो माया टूटने के पूर्व

इधर-उधर बिखरकर सब कुछ पानी की भौंवर के चारों ओर घेरा काट गिरता-पड़ता है, उठता-डूबता है और फिर अन्तर्धान होता जा रहा है। फिर ढेर का ढेर अन्धकार। छटपटाकर रोही और दुलभा जी-जान से चीख उठते हैं— "बचाओ-बचाओ—कोई—मर गये! मर गये!—" छान बार-बार काँप रही है, हिल रही है, थरथरा रही है। बिजली चमक जाती है और दिखता है—कहाँ है गाँव, कहाँ है कोई घर, कोई आँगन, कोई रास्ता! सब पर अथाह पानी बिछा पड़ा है, चारों ओर। छान की धूनी, ढोर-डाँगर, लोंदा बनी चीज़ें। कितना कुछ उठकर साँय-साँय करता कहीं चला जा रहा है। पानी की विस्तृति पर चौंध-चौंध बिजली चमक जाती है, और उसमें दिखता है—वहाँ न जोगी-बस्ती है, न डोम-बस्ती, न रास्ता, न बाड़। तैरते-तैरते वन-जंगल के बीच कहीं एक-आध छान सिर टेके है। चल रही है कान फाड़ती धाई टूटने की गरज, कितनी ऊँची लहरें छलाँग भरती-सी आ रही हैं, एक के पीछे एक, असंख्य, और कितनी जल्दी सिर चकराने-जैसी भौंवरों में चक्कर मारकर कहीं चली जाती है।

फिर आ गयी तेज़ बौछार। आकाश विदीर्ण करती-सी चाँय-चाँय बिजली कड़क उठी। रोही और दुल एक हाथ से छान को और दूसरे से परस्पर को जकड़कर व्याकुलता में चिड़चिड़ाते गला फाड़कर चिल्ला पड़े। अचानक लगा एक ज़ोरदार झोंका आया है, झाल में भड़ास से भर दब रहा है। छान हड़हड़ाकर पानी में जा रही है। छपाके से बौछार आकर उन दोनों पर पड़ीं, और फिर तो पलक मारते ही कुछ से कुछ हो गया—किसी जीवित जन्तु की तरह खींच-खाँच, छटपटाकर, मानो वह छप्पर एक सिरे से टूटकर मुक्त या अलग हो गया। चकराती भँवरें घूम-घूमकर साँय-साँय करती हुई अँधेरे में कहीं बहा ले चली दो आदमियों को अपनी पीठ पर बैठाकर। अपनी वज्रमुष्टि में छप्पर और उन दोनों को जकड़कर बहाता ले गया धाई के टूटने पर आया वह बाढ़ का पानी। पता नहीं किधर से किधर!

फूलशरा गाँव का बाढ़-सहायता-दल!

रात-भर ठहर गये उसी गाँव के नि. प्रा. स्कूल के घर में। पास में ही राघू पृष्टी का घर। उन्होंने कोई आपत्ति नहीं की, उलटे घर से बालटी, लोटा, रस्सी आदि निकालकर दिये, कैसे वे उनके ज़्यादा से ज़्यादा काम आ सकें—उसी की फ़िक्र में लग गये। अठाईस-उन्नीस के युवक राघू पृष्टी। ततैया की तरह पतली कमर, हड़ीली देह, कुछ लम्बे चेहरे पर चपटी नाक के नीचे मक्खी की तरह मूँछ, चमकती आँखें, तर-तर चाल। मैट्रिक सेकेण्ड क्लास में पढ़ाई छोड़ जिला-बोर्ड में अनट्रेण्ड शिक्षक रहकर वेतन से पाँच प्राणियों का कुटुम्ब चलाते हैं।

उनके मुँह से सुनाई पड़ते—कभी आशा के टूटे-फूटे शब्द। उनमें कभी मिरच

की-सी तेजी, कभी नीम की-सी कड़ुआहट।

राघू पुष्टी ने वही बात शुरू कर दी, "अच्छे काम से निकल पड़े हैं, घर में जगह देने से इनकार करेगा, कौन होगा ऐसा नीच! और स्कूल-घर की फिर क्या हालत है। गला-टूटा छप्पर, सारे फ़र्श में गड्ढे ही गड्ढे। दीवारों पर बाम्बियाँ, चलिए, आप ही देखें। कुण्डा तो नहीं, फिर ताला कहाँ पड़ेगा? टूटी-सड़ी कुछ डेक्स, उनमें भी कई चोरी हो चुकी। घर की छान से बाँस खींच ले जाते हैं। जो चाहता है यहाँ आकर रहता है, चूल्हा बनाकर कोयला-राख चारों ओर बिखेरकर चल देता है, उसपर फिर गाय-गोरू भर देते हैं और सारे फ़र्श पर गोबर-गोमूत। वे तो चाहते ही नहीं हैं कि यहाँ कोई इस्कूल-फिस्कूल रहे, यह स्कूल उठ जाये तो गणी तरैई वहाँ खलिहान बनाने की सोच रहे हैं। उन्हीं की जगह जो ठहरी! मान पति सेक्रेटरी बने, उस दिन से उनका गुस्सा अधिक है। आधे बच्चों को रोक दिया है। इस गाँव में और है भी कौन, ये दो ही तो पैसेवाले, जमीनवाले आदमी हैं। बाकी किसी की दो बीघा, किसी की एक और किसी की आधी बीघा, नहीं तो दुखी-दीन हैं। उनमें फिर कम्यूनिस्ट, कांग्रेसी, राजपूत, यादव आदि कितने दल हैं। खैर, घाई टूटी, बाढ़ आयी, तभी तो आज स्कूल-घर की जरूरत पड़ी है, राघू पुष्टी को नींद से उठाया गया! अपने गड़गड़ाते भाषण में राघू पुष्टी जो बात कहता गया, मानो उसके द्वारा उन अपरिचितों की सहानुभूति वह माँग रहा है, उपस्थित समस्या के साथ मानो उसका कोई सम्बन्ध न था।

वे फिर कहने लगे, "ये तो हुआ इस गाँव का हाल-चाल, बाबू! इस गाँव में कौन निभा पायेगा, बताओ? एक के साथ जितनी बात की, जितने दाँत निकालकर हँसे, दूसरे के साथ भी नाप-तौलकर उतनी ही बात कहना, गिन-गिनकर उतने ही दाँत दिखाकर हँसना पड़ेगा, वह सोचेगा वरना कि तुम दूसरी तरफ़ के आदमी हो। बस फिर तुम्हारे नाम पर होगी पिटीसन, आकाशनामा, महजरनामा दरख्वास्त। समझ लो, रास्ते पर चलते समय आवाजें कसी जायेंगी। बताओ, ऐसे भी कोई चल सकता है? हमारे सब-इन्सपेक्टर आये थे, गणि तरैई की तरफ़वालों ने लिख मारा मेरे नाम कि बस सब-इन्स्पेक्टर साहब साइकिल चढ़े दौड़े आये थे, फोड़ा होने पर भी। मैंने कहा कि पधारें, गणि तरैई, क्या कहता है, वे मेरे मुँह पर कहें। बोलेंगे और क्या? किसी ने कोई चोरी की है? पहले कहलवा भेजा कि ज्वर हुआ है, मैं नहीं आ सकूँगा। फिर सब-इन्सपेक्टर ने कहलवा भेजा तो एक कम्बल ओढ़ बाहर निकलकर बोले, "बाबू मेरा धन्धा ही मुझे भारी है, मैं ये दरखास-फरखास की बात नहीं जानता—"

फूलदारा गाँव के दधि अहीर ने कहा, चारों ओर तो बाढ़-बरसा। घर-द्वार बहे जा रहे हैं, आदमी किलबिला रहे हैं, मास्टरजी, ये सारी खबरें क्या आप तक नहीं आतीं? अभी वही बात बड़ी है—"

राघू पुष्टी ने कहा, "अरे बाबू, बाढ़ तो आयी है। यह तो कोई भी देखते ही जान जायेगा। और यह जो खबर, वह तो गाँव-भर में हल्ला हो गया है, पर कौन

समझता है या उपाय-बिचारता है ?...अच्छा, मैं चलूँ, या और कुछ दरकार है ?"

राधू पृष्टी ने विदा ली। इसके बाद पहले कौन हँसा, पता नहीं, पर बाद में तो सबने मिलकर हो-हो कर ठहाका लगाया।

धोबेई मिश्र ने कहा, "भेंट होते न होते गाँव के बारे में कितनी खबरें हमारे कानों में उँडेल गये। उन्होंने क्या समझ लिया कि हम किसी अखबार के संवाददाता हैं ?"

बई मलिक ने कहा, "गाँव की बात धोबी घाट कह देता है। यही तो गाँव का इसकूल है, उन्होंने जो कहा वही बात है। ये ही तो गाँव के मास्टर हैं, गाँव के लोग तो हैं।"

रवि ने कहा, "देश-भर का भला-बुरा इनकी नजर में बड़ा नहीं। बड़ा, 'मैं' है। जिधर देखो, 'मैं', 'मेरा', और कुछ नहीं। उनकी देह पर आँच न आने तक चाहे दुनिया में प्रलय हो जाये, उन्हें परवाह नहीं। हर काम में नजर रहती है अपने स्वार्थ की ओर।"

जम्बू बेहेरा ने कहा, "झूठे ही यहाँ आये। नाव में इतने लोग रहे, हम भी रह जाते तो अच्छा रहता। फ़ालतू में केवल घर में गोबर पोंछो, घर बुहारो, इधर पानी जो चू रहा है चारों ओर, सुबह अपने रास्ते चले जायेंगे, फिर बेकार में यह किलबिलाहट। क्या कहते हो, लौट चलें ?"

धोबेई मिश्र ने कहा, "बस्ती में कहने गये है। लोग आते होंगे, खबर लेंगे, मास्टरजी न अपनी बात कह गये, गाँव में और लोग भी हैं, सबको तो सारी दुनिया पीली नजर नहीं आती होगी।"

रात के लगभग नौ बजे होंगे। झड़-बरसा की अँधेरी रात, देहात में खाना-पीना कर सोने की बात। कोई-कोई सो भी गया होगा। फिर भी खबर पाकर एक-एक कर लोग आने लगे। खड़ाऊँ डाले, छत्ता थामे, दो-चार जन लालटेन लिये और लाठी टेकते हुए आ पहुँचे। खुद गणी तरेई भी। गणेश की-सी तोंद, ठिगने गोरे आदमी, चेहरा गोल, और उसपर मोटी मूँछ। कहा, "यहाँ क्यों ? कौन आप लोगों को उजाड़ में ले आया ? चलिए अपना दालान है, वहाँ रहिए। पास में है ठाकुरजी का घर, वहीं भोजन-पानी की व्यवस्था होगी। भला मास्टर है, जरा भी बुद्धी या अक्कल नहीं ?" कोई युक्ति-तर्क नहीं सुना, लोग लगवाकर चीजें ढोकर सबको अपने साथ ले चल पड़े गणी तरेई। फूलशरावालों ने उनका आतिथ्य स्वीकार किया।

"नाव के पास कोई गये ?" उन्होंने पूछा।

लालटेन देकर उधर भी लोगों को भिजवा दिया। गणी तरेई के घर के आगे, जरा बग़ल में, एक स्वतन्त्र कमरा है। सामने खुला चबूतरा। वही उनका खुला घर है। बस्ती-बस्ती से लोग-बाग आकर पहुँचने लगे। आ पहुँचे मान पति, सफेद झक धोती-पंजाबी पहने, चादर डाले, छड़ी लिये। बिकल राउत, बैरागी जेना, और कितने

बिन-बुलाये लोग आ पहुँचे। और कई गरीब सहायता-प्रार्थी लोग भी। बरसा छूट गयी है। कोठों की भीड़ के बीच गणी तरेंई की पेट्रोमेक्स जल रही थी, सब जमा हो गये थे। गणी तरेंई ने ऊँची गम्भीर आवाज में कहा,—"यही तो देख रहे हैं, हमारा गाँव, पाट के बीच एक टापू है, बाढ के दिनों में चारों ओर चिलिका, यहाँ किस ज़माने से हम भाई, काका, मौसा, कहकर भाईचारे में बँधे रहते आये हैं। कलजुग आ गया, कलह बढ़ा, बिना वाद-छिद्र के आदमी इस जमाने में कहाँ! पर धरम तो अभी तक डूबा नहीं, सत् का भी एकदम लोप नहीं हुआ। अभाव है केवल बुझा-समझाकर एक करनेवाले आदमी का। वह सच्चा हुआ, सत पर हुआ, तो लोग उसकी पुकार सुनेंगे, एकजुट होंगे, वह भण्ड हो गया तो लोग उसकी पुकार को कान भी नहीं देंगे, उलटे आन्तरिक विश्वास टूट जायेगा। इस बाढ़-झड के मौसम में नाव लेकर, सामान ठीक कर, आप महान् लोग सहायता करने आये हैं। हमारा मन उल्लास से भर जाता है, मन में श्रद्धा आती है। बैठकर विचारें—जो कहेंगे, वही करेंगे, नहीं करेंगे क्यों?"

मान गोविन्द पति ने सिर हिलाकर कहा, "सच है, दस आदमी एक मन हुए तो सब होगा, क्यों न होगा? टोकरी—जितना यह छोटा-सा गाँव, उसमें फिर बारह अलगाव! कुछ भी बात नहीं होती।"

उधर से मुकुरा मलिक खड़ा हो गया, "जी, आप लोगों का तो हाथी से हाथी, साँड से साँड-जैसे दलों का लड़ाई-झगडा है, बीच में हम मेढक, चूहे रौंध-चिथकर मरते हैं। हमारी खबर कोई लेता ही नहीं। अब जो अवस्था है मेहनत-मजूरी की, सब बन्द। चूल्हा तक नहीं जलता—"

गणी तरेंई बोले, "ठहरो, सुनो, मान बाबू ने जो कहा, वही सच बात है। भेद-भेद रहने से तो भेद मिटेगा नहीं। छोड़ो, अब सब एक होवें। क्या करना है, निश्चय करें।"

पीबेई मिश्र कहने लगे, "पहले इस गाँव के पीड़ितों की सहायता।"

तरेंई, पति दोनों ने समर्थन किया। मान पति ने कहा, "सहायता दी जा रही है, पहले गाँव-भर के लिए बात तय करें। सब राजी है। फिर दूसरा बड़ा काम है—चारों ओर इतनी बड़ी बाढ़ घिरी है, इस गाँव से वहाँ नाव जायेगी, लोग जायेंगे, जितना सम्भव होगा, चीजों और पैसों से मदद की जायेगी।"

सब राजी हो गये। उसी पर चर्चा चली आधी रात गये तक।

उसी गाँव में उस अँधेरी बरसाती रात में मानो एक नये जीवन ने जनम लिया है। जन्माष्टमी की तरह पवित्र उसकी स्मृति है। सब उत्फुल्ल थे।

सचमुच देखते ही देखते बाढ़-सहायता के काम में गाँव के लोग उत्साहित हो उठे। परस्पर के बीच देन-लेन के जरिये गाँव में कौन-सा अभाव किस तरह मिट सकेगा इस बारे में एक स्पष्ट विचारधारा तैयार की गयी। लोगों को चुनकर दायित्व दिया गया। उसके दूसरे दिन सुबह दायित्व लेनेवालों ने काम शुरू कर दिया। गणी

तरेंई, मान पति ने अपने-अपने वादे के मुताबिक कुछ-कुछ चीजें निकालकर दीं।

सुबह राधू मास्टरजी ने आकर फुल्लरा के दल के लोगों से भेंट की। सारी खबर वे सुन आये थे।

राधू मास्टरजी ने ठण्डी हँसी में चेहरा मोड़कर कहा, "मैं हाँ-हाँ भी दीं-दिनिया है जी! ऐसे ही जोश में आते हैं, फिर सो जाते हैं। गुर कहते हैं, फिर सौंप जाते हैं। और आपके जाने के बाद हर आदमी अपने-अपने रास्ते चला जायेगा।"

गम्भीर होकर रवि ने कहा, "जब जायेगा तब जायेगा। फिर निकलेगा। हो सकता है समय आये, जब और नहीं जाये, नष्ट नहीं होगा, रह जायेगा। यह जड़ में ही विरोधी आलोचना, अविश्वास और सन्देह लेकर देखते रहे तो कभी कुछ नहीं होगा। आइए, आप भी जुट जाइए इस महान् काम में!"

उसी गाँव से राधू मास्टरजी का इन्तज़ार नहीं किया। वे लोग उसी गाँव से निकले तब वहाँ से दो नावें भी चल पड़ी उनके पीछे। कुछ चीजें भी गयीं।

वे देखते जा रहे थे उस विभीषिका को—बाढ़। घाट, नदी, नाले सब मिल गये हैं, जितनी भी दूर नज़र जाती है, क्षितिज की रेखा तक—केवल पानी ही पानी। मटियाला हलद मिला गंदला पानी!—पानी बिछा पड़ा है, नाच रहा है, दौड़ रहा है, गरज रहा है, हिल रहा है। फिर पा गया है अपना वही आदिम अधिकार, जब सारी पृथ्वी पर वह व्याप्त हुआ था।

अब की आकाश उतर आया है धरती पर, वह भी हिल रहा है। लहरें टूट रही हैं, रंग बदल रहा है। सब कुछ इसी गंदले पानी में हो रहा है।

सोयी हुई सृष्टि के प्रेत की छाया की तरह इधर-उधर नाना रूप। कहीं कुछ पेड़। जड़ नहीं, धड़ नहीं, केवल पानी पर कलवासे हरे विमान की तरह दिखता, उनके सहारे पतली-पतली सफेद लहरें पीटता पानी बहा जा रहा था। नाव पास जाती, विमान हिल उठता। कहीं मुर्दे सड़े-गले हाड़ों की तरह बाँस की खपच्चियाँ दिखाता बाँका-टेढ़ा पसरा है गाँव का छप्पर। दीवार नहीं, पेंदा दिखता नहीं। कहीं माटी धुली दीवार के सिरे तक पानी भरा है, केले की बाड़ी के बीच एक-आध घर दिखता, कहीं घर का पता ही नहीं चलता, जाने-पहचाने पेड़ों का बगीचा अपनी गरदन तक के पानी में खड़ा है।

इसी पानी के मसान तले थी एक दिन ठोस माटी, जोन्हर संसार। घास पर ढोर चरते, बगुले और मैना घूमते। टिड्डे कूदते। चींटियों की धार एक दूसरे को सहारा दिये भोजन ढोये चली जाती। पैरों की आवा-जाई से नन्ही-नन्ही पगडण्डियाँ खुल गयी थीं। आना-जाना लगा था। यहीं कहीं था गाँव, रास्ता, ठाकुरजी का मन्दिर, धोबी घाट, धान के खेत। कहीं लगा था झगड़ा, मुकदमेबाज़ी, किसी सीमा-सरहद के लिए, कोई थोड़ी-सी माटी, किसी ताड़ के पेड़ या आम के लिए, किसी के खेत से गाय चरकर बँधी गयी थी, किसी ने किसी का झोपड़ा उजाड़कर धान का

कोठला भरा था। यही किसी घर की दीवार पर किसी ने अल्पना आँककर देवी की पूजा की थी, कोई चबूतरे पर हाथ टिकाये बैठा था, पंचाक्षर जाप रहा था—क्या किया जाये ?

रवि मूक बना उस पानी की ओर देख रहा था, आँखों के आगे मानो वही रूप फैल जाता है—पानी में घुल गया है, खिलखिलाती हँसी, हँसते-हँसते रुलाई, आशा-निराशा। वही माटी....जो जुग-जुग से आदमी के सम्पर्क और स्पर्श से हो गयी थी मानवी। दिख रहा है नदी का किनारा, बाँस का वन, बाड़ी, जोहड़, गाँव-भर का संसार, चूल्हे से उठता धुआँ, रास्ते पर खेलते बच्चे, रँभाती गायें, पानी का मटका ले जाती बहू-बेटियाँ, जुआ डाले लौट रहे चासी, सब तो थे, जैसा कि हुआ करता है, और अब कहाँ गये सब ?

वह दिख रहा है—बहते पानी पर बित्ते-बित्ते-भर धान के सड़े पौधे, गँधा रहे हैं, वहीं वह सो रहा है पानी पर गहरी नींद में, एक प्रकार से कसाय हलद ललवाँसा उसका रंग। पानी के कुछ-कुछ ऊपर झाँक रही हैं दो कतारें केवड़े के झुटमुटों की, पूहर और बारहमासी—यही होगा शायद गाँव को जाने का रास्ता, और इसी पानी पर कतार में खड़ी हैं रामजड़ा की फुनगियाँ, यहीं बाड़ी रही होगी। केवल ढेर के ढेर धँसी भीतें हैं, उजड़े हुए पेड़। मरे-गले मुरदों की सड़ाँध, सड़े-गँधाते। मकोड़ों के झुण्ड से बस के पत्ते काले हो गये हैं, और केवड़े के पत्ते भी। जगह-जगह अटककर रह गयी हैं घर-गिरस्ती की चीजें—हण्डी, टोकरी, खाट, कपड़े-लत्ते। जात-जात की लाशें तैर रही हैं—गाय, बकरी, कुत्ते, सियार भी। जगह-जगह आदमी के शव भी फूलकर सड़ गये हैं। रूप ही बदल गया। पानी काटते-काटते लपलपाते साँप बढ़ते आ रहे हैं नाव की ओर, माँझी पानी में डाँड पीट-पीटकर उन्हें भगा रहे हैं। वह था एक गाँव। सहजन, कटहल, नारियल आदि के पेड़ जगह-जगह पर अब भी पानी में से सिर उठाये हिम्मत के साथ खड़े हैं।

पर कहाँ गये इस गाँव के आदमी ? बचे हैं तो ? यही चिन्ता एक साथ सबके मन में थी।

पानी आ रहा है, ठाँव नहीं, राह नहीं। हाव-हाव राव-राव करता बढ़ता आ रहा है बरसा का तूफान। नाव के ऊपर लहरें चोट कर रही हैं, वह ऊब-डूब होने लगा है। आगे से डाँड लगा रास्ता मोड़ नाव को बढ़ाने में पसीना-पसीना हो रहे हैं माझी। बाँहों और कन्धे की मासपेशियाँ मोटी-मोटी आबू होकर फाड़ डालने की तरह बाहर निकल पड़ती हैं, आगे विकराल भँवर।

मुरदा बह गया है, फूले बैलून की तरह उलटता-पलटता, लहरों के घोड़े पर चढ़कर झूमता-झूमता आ रहा है बेधड़क। साँप लिपटा हुआ है, जोंगा घेरे हुए है, त्रोटि झूल रही हैं। आकाश में चिड़ियाँ उड़ रही हैं, एक पेड़ से दूसरे पेड़ पर फुदक रही हैं।

चरमा रुक गयी है। बहाव धीमा पड़ गया है। दूर कुछ धूप निकल आयी

हैं। पानी जल रहा है, आँखें झुलस जाती हैं। घूम गयी। अब की हिलता हुआ दर्पण, नाना प्रकार की उलटी छवियाँ, ताड़ के पत्ते नीचे, धड़ ऊपर, सिर नीचे और पैर ऊपर।

बेतहाशा पानी। अनन्त है। कहीं वह चित लेटा है। कहीं सीधा दौड़ रहा है। कहीं गोल चक्कर लगाकर असंख्य चाम्बियाँ एक साथ कूदती नाच रही हैं, कहीं माटी मिला पानी, बीच-बीच में, खौलता घूम रहा है, सफेद फरफराते गोते की तरह। पानी का विलास, पानी का खेल। उसके नाना भाव नाना भंगिमाएँ हैं।

केवल पानी ही है। आदमी नहीं। उसके हाथ की करनी घुस ही गयी है।

कितनी ही दूर छोटे-छोटे द्वीप कहीं तैरते-से दिख रहे हैं। शायद ये बस्तियाँ हैं। गाँव के रास्ते पर नावें चल रही हैं, पानी के घेरे में एक-एक टूटा घर है, वह भी खाली पड़ा। वो सुनाई पड़ रही है कानों को भेदती चीख। नारियल के गाछ पर से आदमी पुकार रहे हैं। नाव लगी। तर-तर उतर आते हैं छलांग भरने-से काले-काले तीन आदमी।

"धीरे-धीरे, हड़बड़ाओ नहीं, हम हैं।" नाव में देख रहे हैं। पास ही पास एक.. .दो....तीसरा नहीं सका, थोड़ी ही दूर आया होगा कि पानी में छप्प से गिर पड़ा। तुरत कूद पड़े दो जन। पहले रवि, और उसके पीछे-पीछे जम्बू बेहेरा। बई मलिक कूद रहा था, पकड़कर रोके हैं उसे अपनी वज्रमुष्टि में निधि रणा। कहा, "थिर होकर बैठ, इतने लोग कूद पड़ें तो आदमी खोजने किसे जायेगा? अरे, ये दोनों अच्छे तैराक हैं।" गाछ से उतरे दोनों आदमी, लड़खड़ा रहे हैं, मुस्करा रहे हैं, पर वह रुलाई सूखी है। लोगों ने उन्हें बैठाया। "और भय नहीं, पहले कुछ खा लो।" रवि के साथ बाजी लगाने की तरह जम्बू बेहेरा पास ही पास चला गया है। वह जाता आदमी डूबता है, उठता है। जम्बू बेहेरा चिल्लाता है, "हटकर रहना बाबू, बाँहों में भर लेगा!" उस्ताद तैराक ठहरा जम्बू! उसके कन्धे के नीचे हाथ का सहारा देकर कितने ढंग से ला रहा है! नाव पहुँच गयी। वह आदमी पानी से खींचकर ऊपर लाया गया। पानी की धार बह रही है, दोनों ऊपर चढ़ आये। सारी नावों में 'हो-हा'। लोगों ने घेर लिया।

"फिर ऐसे भुस-भास कूद नहीं पड़ना रे बाबू!" जम्बू बेहेरा ने कहा, "अच्छा तैरना जानते हो, सो तो ठीक, पर मजे के लिए नदी-पोखर में तैरना एक बात है, बाढ़ में तैरना और बात है। जिसका अभ्यास है, वही कूदे तो ठीक। हममें कई हैं, नहीं तो—"

रवि हँस रहा है।

वही दोनों आदमी अपनी कहानी कह रहे हैं—रो-रो, हाँफ-हाँफकर। वह शिअल साही था। बाढ़ आ गयी, घर-द्वार गये, उसके बाद—।

तीसरा आदमी पानी की उलटी कर रहा है।

उत्तेजित होकर वे और-और गाँवों की बातें कह रहे हैं, इधर-उधर हाथ दिखा रहे हैं।

हर नाव से बात-चीत कर तय हो गया कि किस-किस रास्ते चला जाये। चार नावें अलग-थलग रास्ता पकड़कर चल पड़ी। दो डिअल गये। जो पानी से खींचकर लाया गया था उसे सँभाला घोवेई मिश्र ने। एक डिअल में रहा रवि के साथ। घोवेई मिश्र उससे साँझ के समय मिलेंगे। और नावें कब मिलेंगी पता नहीं।

अब रवि की नाव अकेली है। तीन माँझी और मोड़नेवाले मँगवाल। जम्बू बेहेरा को छोड़कर उसमें फूलदारा के दधि बेहेरा, ओडंबा डिअलसाही के चंचू डिअल, रवि और वई मलिक थे।

"ओ हो, उधर अमुरी, बँतुली गाँव, भइरिपुर, अरिपण्ड, चोटल, तरणा, सांगेणा, तोरी मजिण, आड़ेणा, नरुआ, अलखंखा हो...उधर, सब जगह एक ही दशा—।" हताश होकर चंचू डिअल कह रहा था।

जम्बू बेहेरा ने कहा, "जो हाथ आयेंगे उन्हें ले आयेंगे, नाव भरकर। एक-एक खेप में—"

चंचू ने कहा, "आदमी रहे हों तब तो!"

वह बच्चों की तरह फफक उठा। तीस बरस का गबरू, ढेंगू आदमी! चौड़े कन्धे, मजबूत कमर, मोटी-मोटी न होने पर भी कसावदार मांसपेशियाँ, हड़ीली काली देह को घेरे हुए हैं। पर उपवास और दुर्दशा ने चंचू की टनक तोड़ दी थी। अपने को तनिक सँभालकर कहने लगा, "तीन दिन और तीन रात जान लिये भूखा-प्यासा उस पेड़ पर पड़ा रहा। क्यों रहा! क्या यही देखने के लिए? सब तो जिधर-तिधर बह गये। हम तीन रह गये, क्या करने?"

रवि ने उसकी ओर देखा। तीस बरस में ही वह बूढ़ा हो गया है। माथे की सलवटें मुड़ी-तुड़ी, धूसर आँखें धँस गयी हैं, गाल पिचक गये हैं, चेहरे पर हताशा और व्याकुलता भरी है। रवि की आँखें छलछला आयीं।

जम्बू बेहेरा ने कहा, "कोई नहीं मरा होगा, यार, क्यों रो रहा है? ये सारा विघटन होने पर जितना भयावह दिखता है, उस तरह आदमी का नाश नहीं होता। कहीं कोई एक-आध, वरना सब थोड़े ही मरते हैं। आदमी ठहरा वह! वह क्या मामूली चिमड़ा है? ऐसे मरना तो कब का उसका गोत डूब जाता, आदमी नाम का शब्द ही न रहता।"

नाव चल रही थी। रवि ने देखा, सचमुच तो, इतनी बड़ी खण्डप्रलय में भी आदमी है। कोई है नारियल के पेड़ पर, कोई बरगद पर है। कहीं किसी पेड़ के तने पर आकर छान का टुकड़ा आ लगा है, उसपर भी आदमी है। और उनमें से कुछ ने देखा, कहीं छान बह न जाये सो तने से कसकर बाँध दिया इस दुर्दशा से बचने के लिए। खाट के चारों पैर उलटाकर खाट से खाट बाँध, उसपर भी कोई परिवार

अपना संसार फैलाये तैरता बहा जा रहा है। कहीं केले के गाछों का भेल यांध गहजन की फली तोड़नेवाली लग्गी को छोड़ की तरह से रहे हैं लोग, कहीं कोई बह रहा है बाँस के भेरे में, कोई काठ के भेल में, कोई खाली हण्डियों को जोड़ उनसे भेल में, नाचता रहे चाहे वह लहरों के मुँह में, बहाव में मुड़ता-लरजता जाता है, जो होगा भाग्य में, इस अवस्था में—यह हमारी स्वाभाविक परिस्थिति है, यही अपनी दुनिया है—माटी की नहीं, पानी की, मुस्थी की नहीं अमुस्थी, उद्वेग, अस्थिरता और अनिश्चितता की, यहाँ जीवन का नाप होता है घण्टों और मिनटों में, बरस और महीनों में नहीं।

और दिख रहा है कि इस प्रलय में भी आदमी आदमी को खोज रहा है, पुकार रहा है। हथेलियों की पतवार बनाकर तैरता-तैरता भेल के सहारे भी बहा जा रहा है—कैसे एक से दो होगा, दो से चार हो जायेंगे।

और फिर तो सामने कहीं से बिजली की तरह बहाव में तैरता आ गया कोई आदमियों से भरा खाटों से बना भेल और पानी में खड़े एक विशाल फाँस गाछ से टकराकर वह उलट गया। तीनों खाटें अलग-अलग छितर गयीं। डूबकर तैर गये कुछ आदमी। फिर भी खाट के पैर पकड़े-पकड़े बहने लगे। कुछ तो वैसे ही पानी में बह गये। नाव से दो माँझियों ने छलाँग लगायी। बई मलिक और दधि बेहेरा कूदे थे, रवि के हाथ को कसकर थामे था जम्बू बेहेरा, "अबकी पारी अपनी नहीं है, धीर रखो, मैं कहूँगा।" उद्धार करने के लिए नाव आगे बढ़ गयी। तभी बह आया एक छोटा-सा बाँस का भेल, जिसपर ठसाठस आदमी-औरतें भरी थीं। ठीक उसी के आगे तीन औरतें पानी में बही जा रही हैं।

"बह गयी, बह गयी—"एक चिल्लाया।

भेल के अन्दर से ऊँची आवाज में कोई चिल्लाया, "और जगह नहीं है, और किसी को नहीं लाना।" दूसरा चिल्लाया, "होशियार, होशियार, और बोझ बढ़ा तो भेला डूब जायेगा!"

परन्तु साथ-साथ कई आवाजें निकलीं, व्याकुल, अनुनय—"अरे, कोई ले आओ, हम देखते रहें और अपनी आँखों के सामने ये डूब मरेंगी!"

भेले के ऊपर से पहले कोई एक कूदा, साथ-साथ और चार आगे-पीछे ही कूद पड़े। केवल वे तीन स्त्रियाँ ही नहीं, और भी चार आदमी बह आये। ऐसे सात जनों को लेकर वे भेले के पास आये। 'लाओ, लाओ!' की चीख और उधर 'जगह नहीं-जगह नहीं' की विरोधी आवाजें कहीं ढँक गयीं। चढ़ गये छहों जने, भेला दब गया। एक और रहा। भेला एक ओर होकर दबने लगा। फिर भी सब चिल्ला रहे थे, "लाओ, लाओ—" फिर दो चढ़े। अचानक भेला दब गया, पल-भर में हड़कम्प मच गयी। ये इतने लोग बाढ़ में डूबने-तैरने लगे। तभी रवि कूद पड़ा, जम्बू बेहेरा भी कूदा। भेला दूर ही दूर बह गया। चल पड़ा आदमियों को उठाने-खींचने का काम। लोगों को

नाव पर लाये जाने के बाद गिनती-शुमारी के बाद पता चला, महि दलपति नहीं मिल रहा है। तीनो औरतों को बचाने के लिए वही तो भेले से पहले कूदा था।

लम्बा-छरहरा गोरा चौबीस-पचीस बरस का जवान, सिर पर फरफराते घने घुँघराले बाल, नाक के नीचे आधी मूँछ, पान के पत्ते की तरह धारदार चेहरे पर ठिठोली की तरह बाँकी हँसी, उसके कन्धे पर चम्पई रंग का मैला-सा गमछा पड़ा था, छाती पर जनेऊ। हाथ में एक लम्बी बाँस को पकड़े वह भेले के एक सिरे पर खड़ा पानी में डाँड़ चला रहता था।

इलाजंग गाँव का महि दलपति। उसका बाप गोकन दलपति गयी बाढ़ के दिनों हैजे में चल बसा। स्त्री भी तभी चली गयी थी। इस भेला में है उसकी बुढ़िया माँ, वही जो काली मुटल्ली, चिल्ला रही है, "अरे—मेरा महि कहाँ गया?—" उस बुढ़िया की पुकार तेज होती जा रही है। अधीर हो चीख रही है, "सब तो आ गये, मेरा बेटा कहाँ गया? नहीं आ रहा है?" उसके पास पाँच-सात बरस की वह छोरी और छोरा है—वे उसी के बेटे-बेटी है। "भाई—हो—भाई—" आवाज दे रहा है। पन्द्रह बरस का उसी की तरह का चेहरेवाला वह छोकरा। नाव के इस सिरे से उस सिरे तक दौड़-धूप कर रहा है। दूर देख रहा है, अनवरत पुकार रहा है, वह उसका छोटा भाई है।

महि दलपति कहीं भी दिखाई नहीं पड़ रहा। चारो ओर निगाह दौड़ाते हुए नाव ले रहे हैं, बहाव ही बहाव में। फादि गाछ के नीचे भँवर पड़ रही है, जगह-जगह गब-गब करता गँदला पानी लहरा रहा है, जिधर देखो पानी ही पानी। लोग फुस-फुसाने लगे—

"भेला पकड़े वह बह गया लगता है।"

"शायद कोई खाट पकड़कर चला गया होगा।"

"नहीं, नहीं, गाछ भी तो बह गया, उसीपर चढ़ गया होगा।"

"कहीं जाये, खुद ही खबर आ जायेगी। नहीं तो बाढ़ उतरने पर वह आप ही चला आयेगा, और क्या?" पर अपनी-अपनी बात पर अनेक को विश्वास न था। वे जानते थे कि वह बह गया है। भेंट होगी तो इस लोक में नहीं।

महि दलपति। इलाजंग का वह विनोदी व्यक्ति। कितनी ही बड़ी बात हो, वह हँसी में उड़ा देगा। कितना ही आदरणीय व्यक्ति आये चाहे, वह हँस-हँसकर बातों की एक-आध चोट कर ही देगा। 'यात्रा' में वह द्वारी हुआ करता है, गाँव-भर के लोग हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते हैं। रामलीला में वह मन्थरा बनता, फिर रावण की माँ नवकेशी बुढ़िया—और फिर रावण के दरबार में दूत बनता, जो युद्ध की खबरें देता, आशान्वित लोगों को निराशा की बात कहता—वह भी हँसता, विकट हँसी।

और लोग उसे कहेंगे—महिया, बेगार करनेवाला आदमी। कम-अधिक सबके कभी न कभी काम आया होगा। लँगड़ी बुढ़िया माताजी उसी के लिए चल जाती थी।

पाँच बरस हुए किधर से आकर इसी गाँव में पहुँची थी। उसके लिए झोंपड़ा बनाया था, कमर कसकर रस्सी और कटारी लेकर खड़ा हो गया था महिया ही तो। आज जलावन नहीं। आज दो मुट्ठी के लिए बुढ़िया भूखी रह जायेगी। कितनी बार किसी की खोयी हुई गाय खोजने गया है। कांजी घर से गाय छुड़ा लाने गया है। गाँव के सामलाती काम में बिना खाये-पिये घूमा है, धूप ही धूप में। लोगों को लगाया है, स्वयं काम किया है। त्रिवेणीश्वर महादेव के पुराने देवल की मरम्मत और पंकीली पोखरी की खुदाई के काम में वही तो अगुआ बना था। पसीने में डूबकर काम किया था। उस जरा-सी पोखरी में आज कांच की तरह साफ पानी है, देवल का अहाता साफ है, चोकोरे पर बैठकर भोग-अन्न लेकर खाते समय, कोई फांक वगैरह नहीं ताकि कहीं से मैला-कुचैला निकले, दो पुश्त ऊँचा विमान सरीखा मन्दिर समय और हवा-पानी के दाग़ अब और नहीं दिखाता, सफेद, पैर जमाये खड़ा है टोले पर, चारों ओर के खेत-बाड़ों पर, अब चारों ओर के जलार्णव के ऊपर।

और उसी इलाजंग के लोग कहेंगे—गाँव के जिन कुछेक लोगों के लिए अखाड़ा घर चलता है, 'यात्रा'—पर्व ठीक समय पर होते हैं, महि दलपति उनमें अगुआ है। वह मृदंग पर थाप देता, यद्यपि उस विद्या में उतना पारंगत वह नहीं है, वह स्वयं कोई अच्छा गायक भी नहीं। पर बरसा हो या अँधेरा, घर-घर घूमकर लोगों को खींचकर लानेवाला आदमी है। भौंहें नचा-नचाकर सिर हिलाकर, मुँह से मुँह सटा हिलते-डुलते ताली बजा-बजाकर गायक-वादकों में उत्साह देने में उससे बढ़कर और कोई नहीं। थाप ही तेज हो जाता, झोंक बढ़ जाती, पंगत मस्त हो उठती। सांझ ढले अखाड़े-घर में कोई पहुँचे। जाते-जाते वह जरूर याद करेगा कि दो-चार जनों को लिये महि दलपति जरूर बैठा होगा, गप्पें मारता होगा। सचमुच ही वह होगा, पहुँचते न पहुँचते दो बातें जोड़ देगा। सोचने की जरूरत नहीं पड़ती, वही का वही कह देगा, "क्यों आज के बच्चों को दूध पिलाते-पिलाते देर हो गयी? देरी भी तनिक होनी ही चाहिए, नहीं तो बड़े-बड़ों के समान होंगे कैसे, सुबह का समय देकर छाया ढलने के समय आना ही ठीक होगा। टगर के फूलों की माला सूख जायेगी, यह क्या हुआ? तो तोरई के फूलों की माला नहीं मिलेगी क्या?" वह क्या कह देता।

एक चिहुँक उठेगा। दूसरा समझा देगा, "महिया की बात का बुरा मानने लगे?"

डूबते आदमी को बचाने वह कूदा था, और अब वह दिख नहीं रहा।

शायद उसकी पीठ पीछे भेले पर बैठे लोगों में से, जिन्होंने आपत्ति की थी कि वह जाती औरतों को भेले पर लाने से भेला डूब जायेगा, उन्हीं की बात उसके मन को छू गयी है, चिढ़ाने की तरह। दुगुना होकर उसकी टनक बढ़ गयी।

शायद उसके रक्त में भर गयी थी एक पुरानी आदिम उन्मा-विपद् में कूदकर मानवीयता दिखाने की बात का विचार आते ही।

शायद चारों ओर की प्रलय में से कोई अनजान पुकार उसके कानों में पड़ी थी। वही जो कभी किसी को सूती अँधेरी रात में बिछौने से खींच लाती है, जैसे कभी सुनाई पड़ जाती है निविड़ अन्धकार में झमझम झिफर पड़ती बरखा के समय, और कभी तॉबई आकाश तले जब राव-राव गरजता हो तूफान, कड़-मड़ाकर टूट रहे हों पेड़-झाड़, घर की छान उड़ रही हो, विराट्-विराट् चिड़ियों की तरह पंख फैलाये साँय-साँय करते उड़ जाते हैं, खण्ड-खण्ड छाया जैसे मेघ। किसी अजीब जादूगरी के साथ एक होकर मिल जाने का नशा, किसी गुप्त रहस्य को खोलने के लिए प्राणों में अमिट प्यास की ज्वाला खोंचकर उसे ले गयी।

नाव-भर के लोगों के मुँह पर उसी की बात। कितने लोग तो हिचकियाँ भरने लगे, घण्टा-भर पहले तो भेले पर खड़ा था वह समूचा आदमी—साफ़ दिख जाता है।

महि दलपति लापता है।

"होगा तो वह खुद ही दिखाई देगा—ठाकुरजी उसे, डाँपे रखे। कितना उपकारी आदमी—" जम्बू बेहेरा कह रहा था। रवि गुमसुम बैठा था, पानी की ओर देख रहा था। हठात् धूप निकल आयी, आँखें झुलसाने की तरह पानी में रोशनी नाच रही है, डूब-डूब होने की तरह बड़ी-बड़ी लहरों पर नाचती-नाचती नाव जा रही है, जिधर देखो, पानी ही पानी। रवि सोच रहा था उसी महि दलपति की बात। उसके लिए दिन वार नहीं, इश्तहार छपे नहीं, कोई जानता भी न था कि यों वह कूद पड़ेगा, वह खुद भी क्या जानता था? जो चला गया, उसके लिए कोई शोक-सभा होनी नहीं है, स्मृति-मन्दिर खड़ा होगा नहीं, इतिहास भी नहीं कहेगा उसकी बात। कोई जानेगा भी नहीं कि वह इतना महाप्राण था, बहसबाजी न कर, जीभ न थकने तक बकवास किये बिना, असल काम के समय उसने काम कर दिखाया। उसका क्या मूल्य चुकायेगी यह दुनिया? यह मानव-जाति? धरती के कितने दूर-दुरन्त पर पड़े हैं मानव भाई, उनका नाम, वर्ण, रंग, सहृदयता, वे जान भी नहीं सकेंगे कि उसने कितना महान् त्याग किया, वे उसकी बात सुन ही नहीं पायेंगे।

चिलचिलाती धूप चुभती जा रही है। पसीना बहा जा रहा है। सफ़ेद-हलद आग की लपट की तरह कतार की कतार लहरें नाच रही हैं उछल रही हैं। काले-काले टुकड़े होकर बहे जा रहे हैं कितने फल, डाल, पत्ते, पुआल, लकड़ियाँ; घनी-घनी होकर कितनी ही नन्हीं मछलियाँ बह रही हैं, कौन हिसाब रखता है! ऐसे ही बहते-बहते गये हैं, कितने दिन कितनी रातें। कितनी मानव-सृष्टि, कितने-हँसी और रुलाई से भरे जीवन। फिर भी ऐसे ही विचार कर छोड़ा नहीं जा सकता उस स्मृति को, वह एक आदर्श, आदमी से ऊपर, और भी बड़ा है।

दूर नजर गड़ाये वह शान्त हो रो पड़ा।

जहाँ आदमी हैं वहाँ भरे-ठुँसे हैं। चारों ओर पानी है और कहीं छोटे टापू पर वे खुले में पड़े हैं। गाय-गोरू, आदमी सब एक जगह, एक साथ। कहीं टीले पर थोड़ा

धस गया है, केवल आँधे भीगा है, वहाँ भी भरे हैं। और जहाँ पानी को पार कर पार-पार होकर गाँव की बस्ती कट गयी है। कितने घर बह गये, छप्पर खो गये, किसी की एक भीत गिरी है, कोई खड़ी है। और जहाँ गाँव का बेशी भाग डूबा है, तीनों ओर या चारों ओर पानी भरा होने के बावजूद, वहाँ आस-पास के गाँवों के लोगों ने आश्रय ले रखा है। आदमी झुण्ड के झुण्ड! कोई मचान के ऊपर, कोई खुले मैदान में, कोई किसी के छज्जे के नीचे टिका है। उन सारे गाँव में पानी न घुसने देने के लिए लोगों ने जगह-जगह डालें डाल माटी कूट-कूट, बाँध पीट-पीट, नाना उपायों से उसे बन्द कर दिये हैं। जगह-जगह दिख जाता है, छोटे भाड़े पर या डोंगी पर चढ़कर लोग आना-जाना कर रहे हैं, कहीं कोई केले के भेले पर। कहीं वंशी डाल रखी है, कोई जाल फेंक रहा है। गाँव के नीचे-नीचे जगह-जगह पर लोग पानी में घुसकर बाढ़ भोग रहे हैं। जहाँ खतरा नहीं, वहाँ मौज भी चल रही है। बाढ़ यहाँ एक प्रकार का चमत्कारपूर्ण देखने लायक दृश्य है। जैसे भिगुरा गाँव के नीचे, बहाव पार करता-करता कोई सियार बहा जा रहा है, किनारा पकड़ने को उसका मन कर रहा है, पर किनारे ही किनारे पर लोग लाठी-डंडा लिये 'हो-हो' करते दौड़ रहे हैं, इधर और एक दल है जो केले के भेले में चढ़कर डाँड चलाते उसका पीछा कर रहा है।

नाव देखते ही यहाँ-वहाँ से पुकारें आने लगी हैं।

"आओ, उतर आओ, हमारी हालत देख लो, हम तो मरे—देख जाओ," आकुलता-विकलता से पूर्ण बोलें। चले जा रहे हैं—यह जानकर गालियाँ भी आ रही हैं। इतनी बड़ी बाढ़ में बाहर के आदमियों का यह पहला स्वागत है। आशा बढ़ उठती है।

लोग बिलखते हुए भागे आ रहे हैं, झुण्ड के झुण्ड तैरते-तैरते आ रहे हैं, कोई गले तक तो कोई कमर तक का पानी पार कर भागे आ रहे हैं, कीड़े-मकोड़ों की तरह घेर रहे हैं।

आशा मुरझा जाती है, यह सरकारी नाव नहीं है, रुपये या थोड़ी-बहुत इस की मदद मिलेगी नहीं। फिर भी पहली खेप इतनी ही। बाद में और-और आयेगी। खबर फैल जायेगी। चिवड़ा या चावल जो मिला उसी में मुट्ठी-मुट्ठी-भर पहले चला जा रहा है सीधा मुँह में। "मुझे-मुझे—हमरो—" बूढ़ा-बच्चा-जवान सबकी आँखों पर वही एक भंगिमा। पेट को कुछ मिले तब जाकर दूसरी बात। और चीजों की जरूरत। नमक चाहिए, चीनी-गुड़ दरकार, सर्दी-ज्वर, दस्त, खाज-खुजली आदि की दवाएँ चाहिए। पान-तम्बाकूवालों के मुँह बेस्वाद हो चले थे, "लाये हो, कुछ दोगे?" छोटे बच्चे, बड़े-बूढ़े, चीमटर गिरते-पड़ते कह रहे हैं, "दोगे कुछ दिखाने को?" वैसे ही किरोसिन चाहिए, किसी को बीड़ी भी, "बस पूछो मत, बाढ़ के दिनों में ये साँप जैसे कर रहे हैं, रात में लट्ठ थामे रखवाली की जरूरत पड़ती है, नहीं तो कहीं-कहीं से यह आयेंगे, घुस पड़ेंगे, जरा-सी रोशनी न रही तो आदमी के जीवन का कोई भरोसा ही नहीं।"

जाँच-जाँचकर बाँटने का काम चल रहा है। परिवार में कितने लोग हैं, वृत्ति-

धाडी सब कैसा है, भूखे कितनी वेला मे हैं, कम से कम कितना चाहिए, पहले क्या फिर क्या, जवानी ही जवानों लोगों से पूछ-ताछकर एक मोटा-मोटी हिसाब लगाकर सहायता का काम चल रहा है। आदमी-आदमी को पाव-भर चावल, आधा पाव चिवडा, सारे परिवार के पीछे पाव-भर गुड़, किरोसिन पाव-भर, मिश्री आधा पाव, चीनी आधा पाव, सागू आधा पाव, मुट्ठी-भर मिरच, एक डला इमली का। घर-घर के लिए एक तम्बाकू का पत्ता, चार-पाँच पान, उसी के अनुपात में सुपारी-सुर्ती। बिलकुल असहाय हालत देखकर किसी को आठ-दस हाथ का कपडा, बुखार के लिए कुनाइन, सर्दी को गोलियाँ, दस्त के लिए सल्फा, किसी को खाज का मलहम, फिर और अन्यान्य दवाएँ। लोगों की भीड में काम करते-करते अपना काम रह जाता। फिर दिन ढले चार बजे उठाऊ चूल्हे पर रसोई शुरू होती, नाव ही नाव में। शाम होने से पहले ही खाना-पीना हो जाता। दोनों वेला का काम चल जाता, यानी सारे दिन में एक ही वक्त।

खबर आती कि कहाँ-कहाँ बाँध टूटे हैं, कहाँ के लोगों की अवस्था कैसी है। एक-एक कर कागज में लिखी जाती। खबर पाकर गाँव-गाँव से नावों पर चढकर लोग आ रहे हैं। कोई अनुनय करने, कोई हाथ बँटाने, और कुछ लोग रह भी जाते, जी-जान लगाकर काम करने।

छोटे द्वीप की तरह दिख रही है विश्वनाथ देवल की कण्डरा-बस्ती। सबके घरों की पिछली भीतें ढह चुकी हैं। आँगन में पानी खडा है। समान स्तर पर फैला है क्षितिज तक। पीछे कही खेत थे, कही पतली-सी 'कानपरा नदी' थी। सब मिलकर एक पाट हो चुके हैं, एक नदी हो गये हैं। घरों में पानी घुसा था, घरों के अन्दर कीचड़-भरे आँगन पर किसी गोबर से दल बह-आकर जडें जमाने लगे हैं। मानो छात के नीचे बन्द-गोभी की क्यारी लगी हो। कैसी एक क्यारी के कीचड पर फटी धोती डाले सो रही है यई दास की स्त्री और उसके बगल में बच्चा। दोनों अस्वस्थ हैं। सामने भीड़ जमाये छोटे-बड़े सब खड़े हैं। जेवडी से बँधी गायें देख रही हैं।

"दो—लाओ, दे जाओ क्या लाये हो!"—आकुल मिन्नत है उस चेहरे पर, आँखों में।

कुछ हटकर बीच में उस ओर जहाँ पानी की लहरें जोर मार रही हैं, उधर डूबी है नेन्ती गढ की प्रसिद्ध दुर्गा देवी। तीन हाथ ऊँची काले पत्थर की प्रतिमा, बिलकुल सजीव लगती है। सैकडों साल पहले की बनी है। थोडा हटकर पानी पर बेंत का झुरमुट सिर उठाये खड़ा है। एक ओर पानी में से उठा है नेन्तीगढ का बाँस-वन। नेन्तीगढ के बाँस की लाठियों की इस आणविक युग में भी गाँव-गाँव में धाक है।

और पास ही विश्वनाथ देवली की कुम्हार-बस्ती है। पानी-कीचड़ में भट्टी चमक रही हैं, आँवा बुझ गया है, भीत गिर गयी है, छप्पर टूट गया है। ध्वंस का एक बीभत्स दृश्य। ढेर के ढेर आदमी भरे हैं। चारों ओर पानी।

"आओ-आओ—" "दे जाओ, दे जाओ—"वही परिचित चिल्लाहटें।

यह आ गयी गवदिहि की धोबी-बस्ती। चारों ओर पानी, घरों के अन्दर पानी। माथे पर हाथ ठोंक-ठोंककर साठ बरस का बूढ़ा राम सेठी व्याकुल होकर रो रहा है। बारह प्राणियों का उसका कुटुम्ब है। घर में पानी भरा हुआ था, अब गिर गया है, भीत से टुकड़े-टुकड़े जा चुके हैं, उनमें डालियों के टुकड़े, बेंत की टाल, पत्ते आदि जो कुछ साथ टूँग दिया है। नन्हा पोता रो-रोकर गवरो हिलाये दे रहा है। "ये पिछवाड़े से तो कल रात एक स्यार घुसा था।—" राम सेठी ने रोते-रोते कहा, "कहाँ से धन आयेगा इस घर को फिर खड़ा करने के लिए ?"

और एक दीप। यह बाउरी-बस्ती है। वही आकुलता-व्याकुलता, वही रोना-धोना। चेहरे पर भूख-प्यास-दुर्दशा और नैराश्य का करुण चित्र अंकित है। जितने बरस के परिश्रम से मजूरे आदमी ने पेट काट-काटकर घर खड़ा किया था, जितने कपड़े-लत्ते जोड़े थे, जितना सब नया-पुराना भरा था। सब चला गया है। इधर यह गोपालिया भोई का घर है। कुटुम्ब चलाने के लिए गोपालिया ने तीस रुपये करज कर लिये थे, बाढ़ आने से पन्द्रह दिन पहले ही कलकत्ता भाग गया, मजूरी करेगा, करजा उतारेगा। घर पर युवती स्त्री, होगी कोई अठारह-उन्नीस बरस की, और उसके चार महीने का बच्चा। दो कोठरियाँ हैं, एक तो बस ढेर हो गयी है, सारी दीवारें ढह चुकी हैं, दूसरी कोठरी की पिछली दीवार में इतना बड़ा छेद, कोठरी की दीवार फट चुकी है। हाण्डी, टोकरी आदि जितनी छोटी-मोटी चीजें थीं, सब बह गयी हैं। बच्चे को छाती से चिपकाये गोपालिया की स्त्री देवी की मूर्ति-जैसी अपने टूटे घर में खड़ी सामने ताक रही है। वह कुछ माँग नहीं रही, बोल नहीं रही, हिलती नहीं, मानो आँखों पर पलक झपकती ही न हो।

और एक गाँव। नाम है भाईया। कतार के कतार झोंपड़े गिरकर सोये पड़े हैं। कहीं एक-आधा घर अभी भी सिर उठाये खड़ा है। घर के किनारे-किनारे लोग-बाग बैठे हैं। पास-पास सटे हुए। उसके इधर से बाढ़ की नाव चली जा रही है। वे उठते नहीं, पुकारते नहीं, अथच उनकी दुरवस्था स्पष्ट पहचान में आ रही है। बीच में पचासी बरस के बूढ़े दादा बैठे हैं, उस जमाने के ठोस हाड़ों के ढाँचे पर चमड़ी झूल आयी है, सोया गोल चेहरा भावहीन दिख रहा है, नाव लगी है। बच्चों ने घेर लिया।

"चले आओ बच्चो, चले आओ !" बूढ़े गोपाल स्वाँई ने आवाज दी।

मंजु शिअल ने कहा, "यह गोपाल स्वाँई, इस इलाके में इतना बूढ़ा और कोई न होगा। खानदानी काश्तकार है। बाढ़ में सब गया। और वो उनका भतीजा भ्रमर स्वाँई, बात का धनी, खाण्डे की धार पर चलनेवाला आदमी। इतने घर-बारी आदमी, आज किस हालत में पड़े हैं !"

दधि अहीर ने कहा, "बच्चों के लिए कुछ चिवड़े नहीं लोगे, दादा ?"

गोपाल स्वाँई ने कहा, "बाप-दादों के जमाने से आज तक हमने कभी भीख नहीं ली। प्राण रहने तक लेंगे भी नहीं।"

बड़े मलिक ने नरमी से कहा, "भीख क्यों लोगे दादा? यह तो समझो तुम्हारा ही धन है, बस इस घर में न होकर उस घर में था। बाढ़ उतरने दो, तुम भी पहले की तरह चाल-लीला करना, देन-लेन करना, अभी तो ले लो।"

भ्रमर स्वाँई गम्भीर बना खड़ा है। उमर पैंतीस होगी। एक टोकरी में पाँच सेर चिवड़ा, एक भेली गुड़, दधि अहीर पकड़े हुए है। कुछ बच्चे ललचाये-से उधर आँख उठा रहे हैं, हिम्मत नहीं हो रही, बार-बार बड़े आदमी के चेहरे की ओर देख रहे हैं। कोई कुछ नहीं कहता। रवि ने बूढ़े के पास जाकर नमस्कार किया। विनय के साथ कहा, "मैं पाँव पड़ता हूँ, दादा आप अनुमति दें!" उसके स्वर से दर्द फूट पड़ रहा था, "दया करो, अनुमति दे दो, बच्चे कुछ-कुछ खा लें। कल को बाढ़ उतर जाने पर तुम हमें खिला देना। समय क्या यहीं खत्म हुआ जा रहा है?"

पीठ मोड़कर गोपाल स्वाँई ने कहा, "अच्छा, ले लो रे बच्चो!" चिवड़ा, चावल, चीनी, गुड़, किरासिन, डिबरी, नाना चीजें बाँटी गयीं।

दूसरी ओर बल स्वाँई का घर। घर के अन्दर घुटनों तक पानी खड़ा है। अहाता, भीत सब ढेर हो चुके हैं, उस पर ढही पड़ी है घर की छान। सामने का गुहाल किसी तरह बच गया है, टूटी भीत के सूखे पत्थरों को फोड़-तोड़कर फर्श पर बिछाया गया है। चटाई पर लेटा है एक नन्हा बालक। एक ओर बाँस की ढेर, उसके ऊपर-नीचे घर-भर का सामान। पागल की तरह खोल-खोलकर बल स्वाँई ने सब कुछ दिखा दिया। दो चटाई। एक छोटा पिटारा, उसके अन्दर एक खाली बोतल पड़ी है, पहले उसमें सरसों तेल रहा करता था। बच्चों के लिए लाये गये शटीफूड का एक खोल। एक छोटी हाण्डी, उसमें दो-चार मिश्री के छोटे-मोटे डले, एक छोटा-सा आईना, एक फटी धोती, और एक डब्बे में चवन्नी-भर तम्बाखू का पत्ता, साड़ी का टुकड़ा, बेटे के लिए उसके मामा ने भेजा था एक चम्मच, दो कटोरे, एक सरोता, एक चाँदी की टूटी हुई चूड़ी, चवन्नी-भर का चन्द्र झूँपा जिसमें लाख भरी हुई है, एक टूटा हुआ सींग का कंघा, चाँदी की एक मुँदरी, एक काजलदानी, एक पेठा-कोरना और मुट्ठी-भर कूड़ा-करकट।

"इतना भर है, और कुछ नहीं। और है दो पाव जमीन, उसमें बालू की ढेर भर गया।"

"क्यों पागल की तरह हो रहे हो—" उसकी मरतली-सी स्त्री उसे बोध दे रही थी।

"लोगों को दिखाने से क्या होगा? बचना होगा, बचेंगे, मरना होगा तो मरेंगे, देह को काठ करने से नहीं चलेगा?" वह मैले आँचल से मुँह पोंछ रही है।

इसी तरह गाँव-गाँव में वे टूटे-फूटे ढेर के ढेर, वैसे ही पानी-कीच, वैसे ही कुलबुलाते लोग। आगे-पीछे सब तरफ फैली हुई है अकूल जलराशि, फेन तैर रहे हैं, लहरें नाच रही हैं, जितनी दूर तक नजर जाती है सिर्फ पानी-पानी-पानी।

और चार नावों में से एक भी लौट कर नहीं आयी। परन्तु स्थानीय मदद कुछ

तैयार की जा सकी। एक की देखा-देखी और कई नावों में फिरने लगे। डोंगी में बैठा नेतपुर का लँगड़ दलेई फिर रहा है, गेटमा आदमी बाँया पैर तनिक लँगड़ाता हुआ, भूख-प्यास बिसर गयी है, पत्थर-सा चेहरा। कितने लोगों को वह निकाल आया है। अपनी जान की उसे कोई परवाह भी नहीं। अपना काम या विपद् कुछ भी बाहुल्य दिखाकर नहीं बखानता। बस केवल सट-साटकर उसकी डोंगी पानी की भँवर की तरह चल देती है, एक सिरे पर परत की परत सोला के गट्ठे लदे पड़े हैं, अचानक अगर नाव उलट जाये तो बैठे लोग अगर अपने पेट के नीचे एक-एक सोला का गट्ठा दबाकर पानी पर हाथ-पैर फैलाये पड़ गये तो उद्धार पा जायेंगे।

लँगड़ा दलेई डोंगी खेते-खेते इस गाँव से भाग जाता उस गाँव, और लोग उत्साह में पुकारते, "हे ई लँगड़ा गया!"

एक बार वह एक साथ छह बिलाइयों को नाव में चढ़ाकर ले आया था। उसकी इतनी अभिज्ञता में यही एक बात मानो उसे मन को भायी थी। वही बात वह बार-बार हाँकता। वे जहाँ धनुवा बड़ी नदी में मिला है, और दिनों भी अकूत पानी रहा करता है, उसे कजला गण्ड (घेर) कहा करते हैं, बीच जगह में छोटा-सा टापू छह सौ हाथ लम्बा और तीन सौ हाथ चौड़ा। मील-भर में और वैसी बस्ती ही नहीं है, खाली टापू पर एक जोड़ा परिवार है—भोवनी बारीक। उसके कुटुम्ब में छह प्राणी, और जन्ह बेरा, उसका बड़ा बेटा, भ्रमर जेना और उसके बाल-बच्चे। घने-घने चार कुचला के पेड़, खूँटे की तरह बेशुमार खजूर के पेड़, ताड़ के पेड़ों के सहारे-सहारे, टापू के बीच घरों का झुरमुट, गाय-गोरू भेड़-बकरे थे, बाड़ी में साग-तरकारी भी उपजी थी, भोवनी बारीक और भ्रमर जेना ने अपनी रुचि के मुताबिक संसार गढ़ा था। फिर रात में आयी बाढ़, पीढ़े पर चढ़ जाने कैसे लोग तो बच गये, सुबह शायद बिसरपुर का अमीर बेहेरा नाव लेकर आया और उन्हें वहाँ से निकाल लाया। और कुछ देर बाद आया लंगड़ा दलेई। कहीं से बिल्ली के बच्चे आकर पैरों में लोटने लगे, म्याऊँ-म्याऊँ कर बिल्लियों ने बिलबिलाहट दिखायी, मानो—"हमें ले चलो—"। वह उन्हें निकाल लाया था।

और घूम रहे थे बाँसवाल गाँव के प्रसिद्ध पाला गायक हृषिकेश सिंहारी—जनता के आदरणीय साहित्यकार। सिर पर घने घुँघराले बालों की लटें लदी हैं, कनपटी पर झूल रही हैं। तीखी नाक खड़ी है, मोटी-मोटी आँखों में भावनाएँ छलछलाती-सी, मुँह पर एक भी बोल नहीं। नाव में चढ़कर घूम-घूमकर जन-सेवा में जुट गये हैं, मानो उसके लिए पागल हो उठे हैं।

एक नाव लेकर चढ़ धाये हैं सान्तरापुर के बिजी बाबू, नेतपुर के बंशी परिडा, इस्कूल के उद काचेरी—तीनों युवक हैं, एक-सा वेश। हाफपैण्ट एक-एक, खुली देह, सिर पर गमछा बँधा है। उनकी नाव में हवा भरी हुई तीन मोटर के ट्यूब हैं, अनेक सोला के गट्ठे हैं, और भी सरजाम हैं, चिवड़ा, चावल, चीनी, किरासिन वगैरह। बिजी बाबू

उनके नेता। दोनों हाथ लटकाये, आगे-पीछे झुके-झुके-से दोनो पैर फैलाये पानी की ओर देखते हुए नाव पर खड़े हैं। छाती और पीठ पर मांस के गोल-गोल पिण्ड हिल जाते हैं, वे मानो इस हवा-पानी के साथ युद्ध करने को तैयार होकर खड़े हैं। नाव में एक विशाल पताका फहरा रही है। दिन तमाम होता आ रहा है। बिजी बाबू कितने डेंगू दिख रहे हैं। रवि की नाव रुकी है उदआली भोई बस्ती के नीचे। भोई बस्ती अब एक छोटे द्वीप-जैसी है, कतार में खडी हैं टूटी दीवारें, धँसी छानें। जगह-जगह इक्का-दुक्का घर खड़ा है, पीछे की दीवार नहीं, पिछवाड़े में दिख रहा है पाट में फैला पानी। उसी ध्वंस के सामने एक जगह खड़ा है सत्तर बरस का अन्धा धरमा भोई, पास ही उसका बाईस बरस का गबरू बेटा बिका, पेट और पीठ मिलकर एक। आगे-पीछे की दीवार नहीं, बीच में कीचड़ पर छान के नीचे बैठी है बिका की स्त्री, फटी मैली छोटी-सी साड़ी पहने है, गोद में तीन महीने का रोगी बच्चा थामे है, बगल में चार वर्ष का बच्चा चिवडा चबा रहा है, नाव की ओर देख रहा है। धरमा भोई के पास ही एक जगह बैठा है साठ बरस का बूढा अन्धा अर्पतिया भोई, तीन महीने पहले उसका गबरू जवान बेटा मरा था, विधवा बहू नन्हे बच्चे को छाती से चिपकाये दूध पिला रही है, उसके पास चौदह बरस की चढती उमर की बेटी, छोटी-सी फटी साड़ी लपेटे अचम्भित-अचम्भित आँखों से नाव की ओर देख रही है, पिछवाड़े में उसके दो ढेर हुए कमरों का मलबा। वैसे ही वहाँ टिमटिमाते देख रहे हैं कुँअर भोई, मणिया भोई, केशव भोई, गोविन्द भोई, भरतिया भोई और उनका बड़ा कुटुम्ब। चीख उठे—

"बिजी बाबू—बिजी बाबू!"

बिजी बाबू परिचित हैं इस बस्ती में।

मणिया चिल्लाया, "अब क्या देखोगे बाबू, हम नहीं हैं, हम तो मर चुके, मिट चुके।"

केशव ने कहा, "चार दिन से निराहार हैं, बाबू।"

गोविन्द ने कहा, "अब कितने युग तक सिर बेचे पड़े रहेंगे कि घर का झोंपड़ा खड़ा करेंगे इस पेट को काट, धन जोड़कर! बस बड़े साआन्त की मनोकामना पूरी हुई समझो। हमारे उठने पर इस जगह बैंगन लगाने की बात कह रहे थे। एक हिस्से में बगीचा लगायेंगे और एक में साग-सब्जी करेंगे अबकी बार।"

बिजी बाबू नाव से चिल्लाकर बोले, "अरे बाढ आ गयी तो आदमी भी कहाँ गये? हाथ में एक लकड़ी हो तो देखो साँप भी नही आयेगा, और बड़े साआन्त या उनका दादा साआन्त भी घुस सकेंगे, हूँ रे? अरे, बाढ़ क्या सिर्फ तुम्हारे ही गाँव में आयी है? मैं तो चार दिन हुए देख-देखकर आ रहा हूँ, बाढ डाल-डाल गयी तो हम पात-पात हैं। लोग किस हीन अवस्था में हैं इस प्रलय के बीच, कोई है और कोई चला गया। क्या करें समय ही ऐसा आ गया!"

बिजी बाबू अपनी बात के बहाव में आप बहे जा रहे थे। मानो किसी जमाने

के साथी हों। रवि से कहा, "सुना, तो आपको देखने चला आया। कल भेंट हुई थी एक ओर फूलसरा की नाव से, थोबेई मित्र बैठे थे उसमें। आप से भेंट होने पर खबर देने को कहा था कि उधर काम की भीड़ है, वे आ न सके। लोग कहाँ छोड़ रहे हैं कि आयेंगे ? आकर भी क्या करेंगे ? बांट-बूंटकर काम करना ही ठीक है। मोटर के ट्यूब का जोड़ा, सोला के गट्ठे, कुछ रखे रहें, कभी काम आ ही जायेंगे।"

उनकी नाव पास आकर लगी।

कुल आध घण्टे की बातचीत। गाँव-गाँव जगह-जगह की खबर, लोगों की दुरवस्था, सहायता के लिए उपाय विचारना। चारों ओर से कुछ-कुछ चर्चा छिड़ी। वहीं विजी बाबू से खबर मिली, वे सुनकर आये हैं कि पाटेली गाँव में जोगी-बस्ती और डोम-बस्ती की सीध में बहुत बड़ी धाई हुई है, वे उधर नहीं गये, थोड़ा घूमकर उत्तर की ओर से आये हैं। उद काबेरी ने घड़ी देख आकर बताया, "छह बज गये, चलना है उधर दलवा साहापुर की ओर ?"

विजी बाबू ने हँसकर कहा, "उद, तुमने अच्छी याद दिलायी। चलो, चलो, बादल फिर घुमड़ रहे हैं।" रवि ने कहा, "रुकना तो पड़ेगा, रात में यहीं रुकूँ तो—"

उद ने कहा, "वंशी बेहेरा सरीखे साथी हों तो फिर अँधेरी रात में भी पाट हमें रास्ता छोड़ देगा। अबतक तो रुके नहीं।"

रवि के सिर में एक ही बात बार-बार कोई कह रहा था, "पाटेली गाँव में धाई टूटी है।"

"हम भी चलेंगे, बेहेराजी !" रविने कहा, "चलो फूलसरा।"

वैसे सीधे खड़े हैं नाव पर पास ही पास वे तीनों जने। आगे सबसे ढेंगू विजी बाबू, दूर जाते-जाते खाली विस्तृति में वे लोग कहीं खो गये। रवि की छाती में छनक-सी पड़ी। एकदम जाना-पहचाना, अत्यन्त प्रिय, किसी जमाने के तीन मित्र मानो दीर्घ विच्छेद के लिए विदा हो गये हों, हालाँकि आधा घण्टे पहले अचानक नाम भी कभी नहीं सुना था।

जगह-जगह उसी स्लेट पर अनजान अक्षर लिखे जा रहा है—वह छलछलाता सफेद स्रोत। रवि देख रहा है।

याद आ रहा है महि दलपति, उससे भी पल-भर की भेंट, वहीं पल-भर के बाद कहीं छिप गया। सोचा, "बचा होगा तो ?"

सरसराती भँवर सफेद अक्षर लिख गयी। मटियाली स्लेट ने करवट बदली। डूबते प्रकाश ने झलक दिखायी। लालिमा लिये झिलमिला गया, कितना सजीव ! अचानक वह फिर बुझ गया, सुनसान छाया, ऊपर नीचे कुछ होगा, अतः सब कुछ थमा हुआ है, कितनी बार इस सन्धिवेला में ऐसा ही तो लगा करता है, कुछ होता है ? कहाँ आरम्भ, कहाँ शेष है ?

दूर-दूर काली रेखा जैसी गाँव की क़तारें दिख रही हैं। किनारे-किनारे अकेले-

डुबेले पानी में टापू जैसे दिख रहे हैं; चारों ओर जलार्णव हो गया है। मेघों से लदे आकाश तले बाँकी रेखा में चल रहे हैं कतार बाँधे चिड़ियों के दल, आँखों में साफ़ नज़र आ रहा है उनका समाज, खस का वन भी अच्छा-खासा है, कहीं पानी में बग़ीचा खड़ा है, बस दिखता नहीं तो एक केवल आदमी; सिर्फ़ कहीं से उग आये जगह-जगह छोटे-छोटे द्वीपों पर छायान्धकार में टिमटिमाती आग की धौंस, उसका चूल्हा, उसका प्रकाश, ये ही उसके हस्ताक्षर हैं।

एक दिन ऐसे ही घेरे था यह पानी सारी पृथ्वी को। ऐसे ही आदमी ने अपना घर-बार किया था, धूप-वातास सहकर वंश बढ़ाया और इतिहास का निर्माण किया था। यह आग उसी का हस्ताक्षर है। चाहे वह न दिखे, पर खोया नहीं। पर यह आग ही खो गयी है उसके मन के विचार में। उसकी साँस फूल उठी है सारे ध्वंस से बढ़कर। उसके मन का अन्धकार इस बाढ़ के अन्धकार से भी घना हो गया है। समाज फट गया है, केवल बाढ़ के पानी में बहते अकेले-अकेले आदमी की तरह। फिर भी वह एक होगा। समय का हिसाब नहीं है। आशा चिरजीवी, जीवन मृत्युंजयी है, आनन्द उसी अमृत का बाह्य प्रकाश है।

खूब धीमे से उसके उत्तर में गूँज उठती है अनकहे संगीत की मूर्च्छना, जो कानों को सुनाई नहीं पड़ती। मिल जाती है जीवन के स्पन्दन में, अनुभूति के रन्ध्र-रन्ध्र में व्यापकर पुलक उत्पन्न करती है।

अबकी वह प्रकृति के साथ एक हो गया है। गोद में भरकर थामे हुए है वही अन्धकार, वही बाढ़ का पानी। कभी-कभी किसी के निःश्वासों की तरह चेहरे और देह में हवा भर जाती है। एक विराट् जीवन्त शरीर की तरह दिखाई पड़ रही है वह स्थूल अँधेरी सृष्टि! उसमें कितने अतीत घुलकर निश्चिह्न हो गये हैं,—उसकी चेतना कह रही है, कितने अनगिनत प्राणियों का उन्मेष और विकास और विलय, पुनः-पुनः आया है नये-नये रूपों में; लगता है जैसे ऐसे ही इसी विराट् शरीर में आत्मा के स्फुल्लिंग की तरह वह रहता आया है युग-युग से, कितने नये वेशों में नये खेल खेले हैं। उसे श्रान्ति नहीं, उसका कभी विलय नहीं।

इसी पवित्रता के स्पर्श के नीचे-नीचे तैर आता है उसकी चेतना के सामने एक स्वप्न। ये जहाँ नाव चल रही है—यहाँ शायद कोई देवालय था। वो रहा देवालय। सचमुच जैसे यहीं है। अभी रात नहीं, साँझ-सी हुई है, ठीक अब सन्ध्या-दर्शन को उसका मन हुआ करता है। रास्ते के दोनों ओर सघन बकुल के पेड़, बेड़े में जगह-जगह दीपमालिकाएँ जल रही हैं, झुण्ड के झुण्ड लोग बैठे हैं, कहीं झाँझ-मृदंग, कहीं खंजरी चल रही है, कहीं केवल फूलों से सजी खटोली रखी है, शास्त्र पढ़े जा रहे हैं। रास्ते के सिरे पर और भी प्रकाश है, कतार की कतार में दीप सजे रखे हैं, सामने गरुड़-स्तम्भ। बहुत भीड़ है, स्तम्भ के दोनों ओर अनेक दीप जल रहे हैं, उसके उधर झक् से आरती का दीप जल उठा है, इस सिरे से उस सिरे तक ठसा-ठस भरे आदमियों की

भीड़ के ऊपर से ठाकुरजी दिख जाते हैं—वो दिख रहे हैं। मानो किसीने विश्व की सीमा बनायी है इस गोलाकार अँधेरे से, दो प्रकाण्ड आलोक मण्डलों के बीच यही अँधेरा काला कोया बन गया है। दीये के प्रकाश में दिख जाता है कि जो अँधेरा-सा लगता है उसमें विन्दु-विन्दु असंख्य आलोक रेणु भरे हैं। मानो अगणित ब्रह्माण्ड अगणित तारे अत्यन्त सूक्ष्म होकर वहाँ टँके हैं। नाना बाजों, पुलकध्वनि के बीच वह देख रहा है—नित्य लीलामय सनातन जीवन के आनन्द की झलक। सामने दिख रहे हैं जगन्नाथ। चर्म-नयनों से देखने पर वे अरूप, निराकार, शून्य, महाशून्य हैं। चिन्तन में साकार रूप दिया जाये तो वे अव्यक्त, अज्ञेय, निर्गुण, निर्लिप्त।

प्रीति पुलक से भक्ति की अनुभूति में धारण करने पर साकार, सगुण, सर्वव्यापी, एक आकार नहीं असंख्य, एक गुणभावापन्न नहीं अनेक। प्रीति के क्षणों में निविड़ भाव से सज्ञान होकर नानारूपों में जिन्हें अनुभव किया जा सके, अपने अन्तर और बाह्य में। वे निर्गुण नहीं सत्-चिद्-आनन्दमय पूर्णब्रह्म हैं।

कौन कह रहा है, कौन समझा रहे हैं? वह मुड़कर देखता है—दीप उठता है गेरुआ धारण किये विशाल मानव, सिर के घने बालों के नीचे ऊँचा प्रशस्त ललाट, आयत नेत्रों में गम्भीर दृष्टि। उस चेहरे से तेज टपक रहा है, उसमें प्रशान्ति, विश्वास, आनन्द, स्नेह है।

"चुपचाप क्या सोच रहे हो?" बई मलिक ने पूछा। रवि का स्वप्न भंग हो गया। बई ने कहा, "कल सुबह पाटेली गाँव।"

रवि हँस पड़ा।

बई हँस पड़ा—"पाटेली गाँव में सिन्धु चौधरी हैं, बहुत भले आदमी, इतने खानदानी घराने के पुराने सामन्त होने पर भी क्या हुआ, बहुत सीधे-सादे हैं। ठाकुरजी जैसे। लोग बहुत चाहते हैं।"

रवि के मन का चित्र मानो बई मलिक के मुँह पर फूल खिला रहा है। आधी हँसी लिये रवि देखता रहा। बई मलिक कहता गया, "उनकी एक ही तो बेटी है—छवि। जिनपर सूरज-चाँद की भी छाया नहीं पड़ती, वे बाहर निकल पड़ी हैं लोगों का भला करने। कितना स्नेह, कितनी सेवा, कितना उदार मन! घर-घर घूमकर दीन-दुखियों की सुध लेना, कलह मिटाकर मेल बढ़ाना और फिर उनकी सेवा-देखरेख। क्या-क्या वे नहीं कर रही! गाँव-भर में धूम मचा दी! उनके पीछे-पीछे और भी कितनी ही औरतें निकल पड़ी हैं, काम कर रही हैं, उनकी देखा-देखी निठल्ले लोग भी मिल-जुलकर काम में लग गये हैं, इतने हिमक हो उठे थे गाँव-भर के लोग! सत्रह गुट, सत्तानबे दल, और अब देखो, जिसके मुँह से सुनोगे, बस गाँव का उपकार कैसे होगा—यही बात।"

रवि हँस रहा था। कहा, "अच्छा हुआ, कल शायद भेंट होगी, क्यों?"

बई मलिक ने कहा, "हमारे साथ मिलकर फूलझरा में काम करती तो कैसा,

अच्छा नही होता ?"

रवि ने पूछा, "फिर पाटेली गाँव का काम ?"

बई ने कहा, "उधर तुम्हारी माँ साआन्ताणीजी दिन गिन रही हैं कि कब के सिर सेहरा देखेंगी। जितनी बार कहो, तुम कानों में बात पड़ने भी नही देते, में उडा देते हो !—"

रवि हँस पड़ा। कहा, "तू क्या कहता है ?"

बई ने कहा, "तुम हामी भर लो, इस बाढ के उतरते ही ब्याह हो जात सिन्धु चौधरी 'नहीं' करते नही। हमारे बूढे साआन्त के तो हाथ में चाँद-सी आ जाती।"

रवि के मन में उथल-पुथल लगी है। और नयी पट्टभूमि बनने लगी। भ झरती है—"आदमी एक होते हैं अपने विचारों से, करनी से, चलने की दिशा से। उद्देश्य लिये पसीना बहाकर वे एक होते हैं। एक देह और दूसरी देह का मिलना-गूँथ संसारी मत से—यह क्या कोई बड़ी बात है ?"

बई ने कहा, "सच, क्या तुम बाबाजी बनोगे रवि भाई ?"

रवि ने समझाया, "अरे बाबाजी क्यों ? मेरा इतना बड़ा परिवार है ! अ इतने आदमी सब जगह हैं, बाबाजी क्या इतने गृहस्थी होते हैं ?"

"तब ब्याह करो, सब जैसे, वैसे ही तुम भी बनो।"

रवि हँस पडा, "वह तो एक छिन का काम है, एक अनुष्ठान, जैसे पूजा चुकने के बाद चरणामृत लेने की तरह—"

जम्बू बेहेरा चिमका मरोड रहा था, मुँह में पकडकर कहा, "ठीक तो क चरणामृत लेने की तरह, बस उस काम को जल्दी ही पूरा कर देना चाहिए, तभी चरणामृत का माहात्म्य समझोगे।"

रवि ने हँसकर कहा, "कितने काम तो अधूरे पडे हैं, क्या वही एक काम है

जम्बू बेहेरा ने कहा, "अरे बाबू, ब्याह की घडी आयेगी तो खुद ही बुला खींच ले जायेगी, नही कहकर जायेंगे कहाँ ?"

बई मलिक उसका हाथ पकड कान में धीरे से कहने लगा, "बहुत अच्छा हो सबकी आशा पूरी होती, कितना भला होता, ऐसा पात्र...."

रवि ने धीमे-धीमे कहा, "देख बई, तू समझता क्यों नही ! जा, तू ब्याह क मैं तो तेरे साथ कब से हूँ। ब्याह से मैं इनकार नही करता, मैं नही कहता कि दुनि से निकलकर अलग बैठ आदमी ऊपर उठ जायेगा।" तनिक रुककर फिर बोला, मा जीभ लड़खड़ा गयी हो, "विवाह की बात होगी तो कहना कि वही बात करो, उसव मत क्या है समझ लो, उनके घरवालों का विचार क्या है।"

आग्रह से बई ने कहा, "बस इतना ही सुनकर साआन्त-साआन्ताणी सब कु अपने आप कर देंगे—चौधरी जी क्या इनकार करेंगे ?"

रवि ने कहा, "पर बात यह है कि मेरा रास्ता थोड़ा अलग है, एक को खोजने जाकर मैं करोड़ों में ही उसे पाऊँगा।"

बई ने कहा, "क्या आप एक करोड़ की बात कहते हो बाबू, मैं कुछ नहीं समझता। ब्याह तो सब करते हैं, तुम भी करोगे ही।"

रवि ने कहा, "क्या इसी के लिए हम मन को पत्थर किये घर से निकले हैं, जीवन की बत्ती बनाकर जला रहे हैं।"

जैसे रूठकर बई ने कहा, "यह काम किये से क्या ब्याह करने की मनाही है?"

रवि ने कहा, "मना कौन कर रहा है? तेरा मन करता है तो तू ब्याह कर ले। मुझे क्यों साथ में लपेट रहा है? मैं तो देख रहा हूँ एक विराट् स्वप्न। जिसे कहते हैं कारीगर का स्वप्न।" तनिक रुका। फिर बात जारी रखी, "स्नेह, मैत्री से नया समाज गढ़ा जायेगा, गाँव-भर परिवार होगा। आदमी का समाज सारा एक होगा। वह सब कैसे होगा, अगर सब लोग अपने-अपने स्वार्थ की ही सोचने लगें?"

बई ने नाक से कहा, "बस ये ही सब कुछ हाँकोगे, मैंने क्या पढ़ाई की है जो इन बातों तक पहुँच सकूँगा या ये बातें समझ सकूँगा? मुझे तो बस एक बात समझ में आती है—लगता है जैसे वह तपस्या कर रही है तुम्हें वर-रूप में पाने के लिए—जैसे पार्वती ने की थी...."

बिजली चमक उठी। काली-काली छुरी की धार की तरह पास-पास में फटे-फटे पहाड़ों के बीच, आकाश के किसी अनजान पहाड़ की खोह में बार-बार धूनी की आग भभकती-बुझती है। अँधेरा दलदला आया। साँय-साँय करता आ गया पानी मिली हवा का झोंका। दोनों चुप हो गये।"

बई ने कहा, "सच, तुम नहीं करोगे?"

रवि ने उत्तर दिया, "सो कौन कह सकता है? वह बात छोड़ो, बिलकुल बूढ़ी दादी की तरह पल्लू में गाँठ बाँधकर बस एक ही रट लगाये हो—ब्याह-ब्याह-ब्याह! दुनिया में अपने ब्याह के अलावा और कोई काम ही नहीं?"

जम्बू बेहेरा ने उस ओर से आवाज़ दी, "हाँ, सँभलना, सँभलना, डाँड गाड़ दे, निधिया, सँभालकर प—क—ड, हाँ अबकी बीच में—"

नाव एक तट से टकराते-टकराते बची। उधर बहाव जोर मार रहा है। नाव वहाँ से खुल कर बीच की ओर हुई। जम्बू बेहेरा ने कहा, "अँधेरा क्या, यह तो घुप्प अँधेरा दिख रहा है। और सकेंगे नहीं। आगे वह दलवा गाँव दिख रहा है, आज नाव वहीं लगायेंगे।"

गाँव दिख रहा है—सब ने मुड़कर देखा। कुछ नहीं दिख रहा। फिर पानी पर के हलके अँधेरे में लम्बी-लम्बी छायाओं की तरह कुछ चले गये उधर बायीं तरफ। नाव मोड़ पर घूमी। बाद में हो-हो सुनाई पड़ी, रोशनी भी नजर आयी। दूर से तैर आयी झाँझ-मृदंग की आवाज। कछार के ऊपर-ऊपर होते हुए आकर कुचला के पेड़ से

नाव बाँधी गयी। उधर से लोग आ गये। चंचू दिमल ने कहा, "ओहो, आदमी बच गया! यही हमारी बस्ती के पञ्चुआ की ससुराल है, मैं उसके घर रह जाऊँगा। और किधर जाऊँगा?"

दलवा गाँव की पधान बस्ती के बीच। लाठी लिये कुछ लोग अपने-अपने घर के आगे फिर रहे हैं, बीच-बीच में लाठी नीचे ठोंककर 'हो-हो' करते हुए हल्ला कर रहे हैं। जम्बू बेहेरा ने कहा, "जहाँ देखो, बस ऐसे ही बाढ़ के दिनों में लोग साँप को घुड़क रहे होंगे।" गाँव के किसी ने कहा, "बस केवल गोखर नाग....ढेर के ढेर। कहाँ-कहाँ से आकर भर जाते हैं। क्या किया जाये?"

पानी-कीचड़ में चपड़-चपड़ करते ऊपर उठकर रवि ने पूछा, "क्या खबर है यहाँ की?"

ठिंगना-सा बूढ़ा था। कहने लगा, "खबर तो सब तरफ़ जो, यहाँ भी वही और क्या? जमीन में बालू भर गयी, गाय-गोरू झुण्ड के झुण्ड बह गये। कितने लोगों के घर-द्वार ढह गये, किधर-किधर से आदमी आकर भरे हैं। बाढ़ के साथ-साथ हैजा भी घुस आया, निचली बस्ती से तेरह जने एक-एक कर गये। और क्या खबर पूछते हो बाबू?"

नाव पर रोशनी जला दी गयी।

चंचू, रवि, दधि अहीर, धई मलिक चल पड़े गाँव की ओर।

सदा की तरह आज रात भी घूम-घूमकर खबर पूछकर मदद करनी होगी भीगे छान-छप्पर, टूटे झोपड़े, भीगे आदमी, पीड़ित लोग।

उसी के बीच रवि को याद आ रही थी धई मलिक की बातें, मन ही मन चित्र सँवार रहा था। इस बरसाती अँधेरे के बीच मानो दीप लिये उसकी प्रतीक्षा कर रही है वो—छवि!'

पाटेली गाँव में—

बरसाती अँधेरे में सिन्धु चौधरी जब छवि को न पाकर अकेले घर लौट आये तो उन्हें दूर से ही लगा, चबूतरे पर कोई लालटेन जल रही है। धुँधली-ललवाँसी पानी की भाप के बीच कोई मूर्ति खड़ी दिख रही है, एक तो कुछ मोटी, उसपर आकार में और अधिक बड़ी दिख रही है, साफ़ कुछ न समझकर छवि की माँ ने ऊँचे स्वर में पुकारा, "क्यों, आ गये सब? अरी छवि?"

तब सिन्धु चौधरी को तनिक अटपटा-सा लगा। याद आया, सचमुच, छवि नहीं लौटी है, अपराधी की तरह सकुचाने-से लगे। चबूतरे पर चढ़कर छाता बन्द किया कहने लगे, "कहाँ से पाता इतने लोगों की भीड़ में? वह कोई साधारण भीड़ है? दस

हाट के आदमी भरे हैं !"

उसने रोते-रोते कहा, "कभी ? जमाकर निश्चिन्त हो जाते ? अच्छा किया, अब चैन से रहो !"

"तुम ऐसा क्यों हो रही हो, बोलो तो भला ? उनके साथ और भी तो कई लोग हैं।"

"गिनते रहो तुम लोगों को। यह रहा तुम्हारा घर। मैं तो जाती हूँ कहीं कुएँ-बावड़ी में—"

"अरे, क्यों हल्ला कर रही हो ? धीरज धरो, वह आ जायेगी।"

"तुम्हारी मुँह लगी है, यह सारा मन्त्र तुम्हीं ने दिया। कहीं तो कहीं जवान बेटी देहरी के बाहर निकला करती है ? यों पानी-कीचड़ में अँधेरे में फिरती ! मौत हो रे ! बुढ़ि, राज-भर को उठाये फिरती है ! अब क्या हो ? मैं क्या करूँ ?"

सिन्धु चौधरी ने बहुत समझाया, घर टूटने की बातें बतायीं, लोगों की दुःख-दुर्दशा की कहानी कही, कैसे छवि तथा अन्य औरतें उनकी सेवा में जुट गयी हैं—सारी बातें एक-एक कर समझाने लगे—"मेरी बात सुनो, तुम्हारी छवि अच्छा काम करती है, छवि की माँ ! नाम को ही बेटी है, असल में कौन-सा बेटा उसकी बराबरी कर सकेगा ? भगवान् जिसे जो बुद्धि देते हैं, जो रास्ता दिखाते हैं, वहाँ हम-तुम कौन हैं !"

सुनते-सुनते छवि की माँ बदल गयी। फिर हिचकियाँ नहीं भरीं। सचमुच लगा जैसे उस विभीषिका का वर्णन उनको मर्मों में भर गया हो। सिन्धु चौधरी कहने लगे, "बड़ी बात इस दुनिया में तुम किसे समझती हो ? ऐसे ही पलक मारते सब चल देता है, किसके लिए यह संचय, किसके लिए घर-द्वार, किसकी खातिर इतना लोभ, इतनी चिन्ता, इस पल की बात अगले पल न होगी। बाढ़-मारा के देश में रहकर अगर यह विचार मन में न आया, तब फिर दूसरा क्या विचार आयेगा ? तुम्हारी अपनी एक बेटी के लिए तुम्हारी नस-नस फटी जा रही है, सोचो जगत्-भर की बात, कितना दुख, कितनी दुर्दशा ! चूहे की तरह बिल में गड्ढे में ठूँसने की तरह कितना कुछ आलतू-फालतू सहेज रखते हैं। अब किसी के छज्जे तले या किसी उजाड़ में है कुछ......"

छवि की माँ सुनती जा रही थी। अपने पति का स्वर अनचीन्हा-सा सुनाई पड़ रहा था। मानो वह किसी आदमी की आवाज न हो, इस अँधेरी रात का स्वर हो, या उसकी ओट में छुपे किसी अशरीरी रूप का हो, जिसका कोई उत्तर नहीं। उसे बुद्धि-विचार से अर्थ लगाकर लिया नहीं जा सकता, वह सिर्फ़ समग्र चेतना में अन्दर तक भेद जाती है। सिन्धु चौधरी भी सुनते जा रहे थे अपनी बात, मानो स्वयं बातें नहीं कर रहे, और कोई कहलवा रहा है। एक उच्छ्वास में झूम उठता है उनका सारा उत्तर....यह अँधेरा....यह मूसलाधार वरसा....यह निशा रात्रि—गाती जाती है अपना दर्शन-तत्त्व। वे स्वयं केवल उसके धारण हैं। सिर्फ़ बाढ़ ही नहीं, कितनी बातें याद आ रही हैं ! ऐसी यह प्रलय की रात, यह आदमी के जीवन में जो घिरती है, कितने उलट-फेर कर जाती

हैं, प्रसन्नता और आशा को धराशायी कर निश्चिह्न कर देती है। स्वास्थ्य जाता है, धन जाता है, घर जाता है; स्त्री-पुत्र, बन्धु-बान्धव चले जाते हैं; स्नेह सपना हो जाता है; और कभी सारी ममता सारी चैन की डोर काटकर माटी का पिण्ड फेंककर छोड़ चली जाती है आत्मा। मानवता की स्मृति भी लोप हो जाती है। यह अँधेरी रात उसी बात को तो चेताये देती है, जगत्-भर की दुख-दुर्दशा की बात, और अन्त में उसी चरम विलय की कहानी, वही अति पुरानी नित नयी—

वही तो है वह! वह अँधेरी रात विराट् मुँह बाये ताक में है अनादि काल से, कितने उजले दिन, कितने जीवन्त इतिहास, कितने हिलते-डुलते हाथ-पैर बार-बार बस उस 'माँ' के अन्दर आकर घुस जाते हैं, और लौटते नहीं...और लौटते नहीं....।

फिर भी रोज खिल रहा है जीवन। नयी आशा, नन्ही-नन्ही नयी-नयी दूब। जाने-मरने-खाने की परवाह नहीं, नयी हो रही है, नयी बनकर प्रकट कर रही है अपना रंग, अपना रूप, अपना इतिहास। बार-बार वही, पल-भर के लिए दिखा देती है महा-प्रलय के सामने अपनी टेक। वही चिरंजीवी कण, वही प्रकाश की जरा-सी बूँद। उस बूँद में ही सृष्टि का आरम्भ है, अणु में प्राण निहित हैं, वही तो युग-युग का मानव का आराध्य देव है, जो जिस रूप में देखें, कुछ भी नाम लेकर पुकारें, ईश्वर कहें, शक्ति कहें, उसी की अपूर्व विजय की परिकल्पना ही तो है आनन्द का हेतु।

"वो सुन—" सिन्धु चौधरी उद्बुद्ध की तरह कहते गये, "काश आदमी ध्यान रखता कि यह जितना 'मैं-मैं-पन' है—मेरी बेटी, मेरी पत्नी; मेरी चीजें, मेरा सुख—कुछ दिन जाने पर कुछ भी नहीं रहेगा। इस जन्म के साथ-साथ ये सब भी लीन हो जायेंगे। छोटी बात तो क्या, बड़ी-बड़ी व्यथा और विपदाओं को भी इतनी बड़ी नहीं सोचता, यह सब तो सपना है, केवल आदमी को भुलाये रखने के लिए एक खेल है, यह खेल भी दो दिन का—"

छवि की माँ ने कहा, "यह बात कौन नहीं जानता? तो उसे छोड़कर आदमी फिर घर-संसार क्यों करता है! शुकदेव की तरह माँ के पेट से गिरते ही चल पड़ता महाज्ञान कहने; भागवत के कपिल अवतार की तरह वह भी माँ-बाप को तत्त्व समझा-कर चला जाता कल्प-कल्प तक योग-साधना के लिए। पुराणों में तो सब कुछ है, पर यह रक्त-माँस की देह उसे समझती है?"

"समझना पड़ेगा। जो सत्य है वह स्वतः होगा। कितनी भी विपयासक्ति, माया-ममता बढ़ाये जाने पर भी सत्य के दाँव से रक्षा नहीं। किसने नहीं देखा कि पेड़ सूखता है, आदमी मरता है। किसने नहीं देखा है कि यह देह चिता पर देखते ही देखते जलती है, फटकर टुकड़े-टुकड़े होती है, जलकर भस्म होती है। कौन-सी ममता रहती है!"

"फिर भी ममता कौन नहीं करता? रोता कौन नहीं? जिसे अपना स्नेह, अपनी ममता कहते हो वह माँ है वही माया। हम उस माया को छोड़ अलग होकर

देखते हैं या सोचते हैं ? उसी माया को ओढ़कर तो हमारी घर-गृहस्थी, पति-पत्नी, माँ-बेटी, तेरा-मेरा का गुँथा-गुँथा संसार है। लोग तो फिर इसी संसार को बढ़ाने के लिए खटते हैं, सोचते हैं, जीवन बिता देते हैं ! उसे काट दो तो तुम अपने अकेले रह गये ! इस संसार से फिर तुम्हें और क्या प्रयोजन ? तुम फिर घर-द्वार क्यों करोगे, किसी के भले-बुरे से तुम्हें क्या काम ?"

"तुम समझती नहीं हो छवि की माँ ! तुम्हारा संसार तुम्हारे पास रहे, उसे कोई छीनेगा नहीं, पर तुम्हारे इस संसार में प्रकाश भरने के लिए, इस जीवन में एक उद्देश्य खोज पाने के लिए, आदमी को दृढ़ता देने के लिए, उसके जीवन में आनन्द भरने के लिए जरूरी है यह बड़ा अनुभव, यह तत्त्वचिन्तन, जिसमें कि तुम केवल अपने ही बारे में सोच-विचारकर छटपटाती नहीं होगी, मन को विस्तृत कर फैलाते-फैलाते, उदार बनाकर तुम आनन्द पाती होगी, शान्ति पाती होगी। यह मानव देह धारण कर आशा और आनन्द साधे बिना तुम इन दुखों और कष्टों से ऊपर उठोगी कैसे ? वरना यह अँधेरा-बरसा तुम्हें डराते रहेंगे। जरा-सी अड़चन होने पर चुभते रहेंगे। 'ऐसा हुआ, वैसा हुआ—' यही सोचते हुए, जलते हुए दिन जाते रहेंगे। बाहरी चीजें कितनी भी बढ़ाओ, क्या होगा ? वह तो अपनी अनुभूति है, अपनी चेतना है, बिलकुल अपने मन के अन्दर की बात है। अपने मन को स्वयं न सँभालो तो पराया कौन सँभालेगा या कौन-सी चीज आयेगी ?"

कुछ क्षण दोनों गुम-सुम बैठे रहे।

फिर सिन्धु चौधरी कहने लगे, "कितनी बार तो प्रलय घिरी है, दीमक को उखाड़ फेंकने के बाद जैसे फिर दीमक भर जाती है, वैसे आदमी कोय-भोय कर इधर-उधर फिर रहे हैं। वह क्या कोई ज्वालामुखी का उत्पात है ! धरती काँप रही है, घर छिन्न-भिन्न हो गये हैं, आग-राख-गोलों के ढेर पड़े हैं सारे राज्य-भर में ! वह क्या बाढ़-हैजा-महामारी है ! बह गये हैं, मरकर सो गये हैं झुण्ड के झुण्ड, अनगिन ! यह कोई आदमी के हाथ की गढ़ी प्रलय है—आग भड़की है, वही चटक पड़ी है ! मारा है, काटा है, जलाकर भस्म किया है ! ये सुनो मेघों की घोर गरज, वो देखो अन्धकार और बिजली की लपलपाती किटकिटाती हँसी ! तुम स्वयं देखो, छवि की माँ ! किसी जनम में तुम भी हो सकती हो उन हतभागों के दल में। कहीं बालू के पाट पर, कहीं जंगल-पहाड़ के घोर अँधेरे के बीच। घार लगी होगी आतुर-व्याकुल कुलबुलाते-छटपटाते आदमियों के समूह की। जीवन रखने, सिर छुपाने के लिए कहीं आसरा खोजते-खोजते, *कितनी शैव्याएँ, कितने हरिश्चन्द्र, ऐसे इस अँधेरी बरसा-बाढ़ में भटकते होंगे !* वह क्या बर्मा से भगाया हुआ है ? या कोई पंजाब अथवा बंगाल का शरणार्थियों का काफला है ? हजार-हजार, लाखों....!

"घर गया, कुटुम्ब बिछुड़ा, बाल-बच्चे-औरतें खो गये, इतिहास की परम्परा की जड़ से उखड़कर किस अँधेरे में फेंके गये हैं। नजर दौड़ाओ, देखो, वे भी अपने

जैसे आदमी है, उनको भी भूख-प्यास है, देह आसरा खोजती है, मन ठिकाना ढूंढ रहा है, वे चैन, स्नेह, आनन्द की तलाश में है। उनके पैरों में भी कंकरियां चुभ रही है, देह थक गयी है, धूप में पसीना छूटता है, जाड़े में देह कांपती है। बाल-बच्चे, गाय-गोरू रख, जमीन खोद, खटकर खाते है। हमारी तरह वे भी आदमी हैं। कोई सफेद, कोई हलद, सारी धरती पर अनन्त अतीत तक दल के दल बेशुमार आदमी! बेघर—अशरण होकर दांव में छटपटाते, इधर-उधर भटकते, कैसी चीख, अकुलाहट, हाय-हाय! कहीं कोरिया की युद्धभूमि में सनसनाती गोलियों के बीच घूम-घूमकर आहतों को कन्धे पर उठाता कोई रेडक्रॉस-दल। कहां जलते नोआखाली के रास्ते पैदल चल-चलकर जानेवाले बहत्तर बरस के बूढ़े महात्मा गान्धी। दुनिया में विपद् घिरने पर सदा 'मैं-पन' को जलावन बनाकर मानवता का विकास करने के लिए सीधी आत्मा में एक कुहुक उठती है, छवि की मां! महाप्राण को बांधकर रखा नही जा सकता। वे चले जाते है अंधेरे में प्रकाश करने, क्षत-विक्षत धरती पर शान्ति, स्थापित करने, उसे ही परिचित कराने को यह बिजली यों फांय-फांय करती है, मेघ मूसलाधार बरसते हैं, अंधेरा ढुलकता है, वासुकी फन टेकता है!"

बातें न सुनने की चेष्टा कर भी छवि की मां उनमें से कुछ-कुछ सुने बिना न रह सकी। बाद में धीरे-धीरे शब्द उनके दिमाग में एकजुट हुए। साफ़ दिखाई पड़ रहा था कि केवल शब्द नहीं, वाक्य मन्त्र की तरह सुनाई पड़ रहे है; परन्तु उन वाक्यों का अर्थ है। बाद में उनमें तन्मयता आ गयी। वाक्य समाप्त हुए, तन्मयता कुछ क्षण रहकर फिर टूट गयी, लुप्त हो गयी। अबकी सुना, पवन नही, मेघ नहीं, वहाँ एक साथ कई मेंढक टरटरा रहे है, आम के पेड़ की ओर से झींगुर बोल रहा है, और कितने ही शब्द मिल जाते है, कान देते-देते अनेकों टूटे-फूटे शब्द अबतक सुने गये शब्दों की तरह सिर में एकत्र हो रहे है। एक छन्द में थाक चुनकर, जगह बनाकर, घुल-मिल जाते है। एकमएक हो जाते हैं। अंधेरा और रात का पहर मिलकर मानो एक नया अर्थ ला देता है, जिसमें कोई एक विशिष्ट पदार्थ आंखों को दिखता नही, या किसी एक घटना का चित्र आंखों के आगे आता नही। फिर भी स्मृति में उठा-पटक चल रही है, गोया अन्तर में कोई मन्थन चल रहा है, टूटे-टूटे कितने ही चित्र कहीं से आकर अपने अन्दर कब भर जाते हैं, कब ढीले पड़कर केवल खिसक जाते है, खो जाते है। और उन्हीं के साथ-साथ याद आ जाता है—कितना कुछ था, अब नहीं है। कितना कुछ आया था, चला गया है; जीवन-भर मानो कुछ घटेगा इसी की सिर्फ प्रतीक्षा है। कान खड़े है, सांस रुकी है, पर घटना घटी नहीं, समय चला गया है।

बच्चों की तरह लगता है—मानो उस धूल से देवल बनाकर प्राचीर खड़ी कर, ऊपर तक टगर के फूल भर दिये। आंचल में जामुन भरे थी न, वे नहीं है। वैसे ही तो खेल रही थी छवि। कोनो ही कोनों से कोये नचा-नचाकर देख रही थी—आया था पहला यौवन—कितना अनजाने ही सिहरन भर गया! छाती फड़फड़, थरथर हो

च्छा नहीं होता ?"

रवि ने पूछा, "फिर पाटेली गाँव का काम ?"

बई ने कहा, "उधर तुम्हारी माँ साआन्ताणीजी दिन गिन रही हैं कि कब बेटे के सिर सेहरा देखेंगी। जितनी बार कहो, तुम कानों में बात पड़ने भी नहीं देते, हवा में उड़ा देते हो!—"

रवि हँस पड़ा। कहा, "तू क्या कहता है ?"

बई ने कहा, "तुम हामी भर लो, इस बाढ़ के उतरते ही ब्याह हो जाता। मिन्दू चौधरी 'नहीं' करते नहीं। हमारे बूढ़े साआन्त के तो हाथ में चाँद-सी बहू आ जाती।"

रवि के मन में उथल-पुथल लगी है। और नयी पट्टभूमि बनने लगी। भाषा भरती है—"आदमी एक होते हैं अपने विचारों से, करनी से, चलने की दिशा से। एक उद्देश्य लिये पसीना बहाकर वे एक होते हैं। एक देह और दूसरी देह का मिलना-गुँथना संसारी मत से—यह क्या कोई बड़ी बात है ?"

बई ने कहा, "सच, क्या तुम बाबाजी बनोगे रवि भाई ?"

रवि ने समझाया, "अरे बाबाजी क्यों ? मेरा इतना बड़ा परिवार है! अपने इतने आदमी सब जगह हैं, बाबाजी क्या इतने गृहस्थी होते हैं ?"

"तब ब्याह करो, सब जैसे, वैसे ही तुम भी बनो।"

रवि हँस पड़ा, "वह तो एक छिन का काम है, एक अनुष्ठान, जैसे पूजा कर चुकने के बाद चरणामृत लेने की तरह—"

जम्बू बेहेरा चिबका मरोड़ रहा था, मुँह में पकड़कर कहा, "ठीक तो कहा, चरणामृत लेने की तरह, बस उस काम को जल्दी ही पूरा कर देना चाहिए, तभी तो चरणामृत का माहात्म्य समझोगे।"

रवि ने हँसकर कहा, "कितने काम तो अधूरे पड़े हैं, क्या वही एक काम है!"

जम्बू बेहेरा ने कहा, "अरे बाबू, ब्याह की घड़ी आयेगी तो खुद ही बुलाकर खींच ले जायेगी, नहीं कहकर जायेंगे कहाँ ?"

बई मलिक उसका हाथ पकड़ कान में धीरे से कहने लगा, "बहुत अच्छा होता, सबकी आशा पूरी होती, कितना भला होता, ऐसा पात्र...."

रवि ने धीमे-धीमे कहा, "देख बई, तू समझता क्यों नहीं! जा, तू ब्याह कर, मैं तो तेरे साथ कब से हूँ। ब्याह से मैं इनकार नहीं करता, मैं नहीं कहता कि दुनिया से निकलकर अलग बैठ आदमी ऊपर उठ जायेगा।" तनिक रुककर फिर बोला, मानो जीभ लड़खड़ा गयी हो, "विवाह की बात होगी तो कहना कि वहीं बात करो, उसका मत क्या है समझ लो, उनके घरवालों का विचार क्या है।"

आग्रह से बई ने कहा, "बस इतना ही सुनकर साआन्त-साआन्ताणी सब कुछ करने आ कर देंगे—चौधरी जी क्या इनकार करेंगे ?"

सिन्धु चौधरी ने कहा, "जिसने ये दशा की है वे ही इन्हें सँभालेंगे—वे ही जानें।" उनकी आवाज़ खोखली सुनाई पड़ रही थी, मानो वे छवि के सामने दब गये हैं, छवि ही बड़ी है, छवि ही मुरब्बी है। वे केवल निःसहाय, दुर्बल आदमी हैं। ठाकुरजी को पुकारेंगे, उनकी बात मान कर चलेंगे। "मुझे तो जो कहोगी। सो करूँगा मैं! लोगों की इस दुर्दशा की घड़ी में और कोई किस बात की ओर ध्यान देता है!"

उन बातों का प्रभाव छवि पर नहीं पड़ रहा था, मानो वह तो किसी और लोक में थी, बस बीच-बीच में केवल बाड़ के रास्ते मुँह निकाल इस दुनिया को देख लेती थी, बस उसने सिर्फ़ इतना कहा, "और कोई काम नहीं, अब नींद। फिर भोर होने पर उठकर वहीं जाना पड़ेगा।"

परन्तु छवि की माँ पर प्रभाव साफ़ दिख रहा था। ऐसी यह रात, यह वेला, छवि मानो दिन-भर घूम-घूमकर पागल की तरह इतनी रात गये आकर पहुँची है, उसके पिता का लम्बा भाषण और अन्त में यह डोम के घर की बहू, मानो सब सनक गये हैं। उन्हें और कुछ कहना नहीं है। पास में छवि सोयी है, सदा की भाँति आज भी। बिस्तर छूते न छूते नींद में। पर विह्वल मन से विचार करने लगी तो वह कितनी परायी-परायी-सी लगी। बेटी नहीं हमजोली-जैसे लगनेवाली कोई और हो, मानो जिसका अपना कोई स्वतन्त्र संसार हो, स्वतन्त्र गति पथ हो और भावना की धारा भिन्न हो।

आँखों में जलन-सी लग रही है। अपना विश्वास अपने ही गालों को तपिश से भरा लगता है। और मानो गरदन से ऊपर की ओर कोई जलन ऊपर उठती जा रही है। अँधेरा तो सदा से है, देह को सहना पड़ा है, पर आज लगता है, यह जो अँधेरा है, वह गाढ़ा अँधेरा है।

मन ही मन याद आ जाता है कि उस कोठरी में डोम की बहू सोयी है। इसी डीह में, जहाँ बड़े-बड़के हैं, जहाँ कितने होम, कितनी पूजा, अर्चना, व्रत-उपवास हुए हैं, वहाँ आकर सोयी है। चौधरियों की हवेली में डोम घुस गया! जो बेटी खूब आडम्बर के साथ ब्याही जाती, उसपर पागलपन सवार हुआ है, पानी-कीच में बाहर फिरती है, छुआ-छूत का कोई विचार ही नहीं रहा। और मझले घर में सोये हैं वे, जिनकी देह पर साबुत कोई कपड़ा तक नहीं, न कोई कमाई, न कोई संचय। कोई सहायक नहीं, बाहुबल नहीं। 'मैं' या 'मैं-पन' का कोई गरब-गरूर नहीं, तेज नहीं। आखिरकार डोमिन को भी घर में जगह देने में गौरव ही समझा। क्या समय आ गया!

धीरे-धीरे विह्वल भावना बहने लगी। क्रमशः क्रोध का पारा चढ़ने लगा। वह भी ठण्डा पड़ा। इसके बाद जितना भी मन करता गुस्सा होने को, वह गुस्सा हो ही न सकी। केवल छटपटाहट। मच्छर फैल गये, रह-रहकर मेंढक टर्राने लगे। मानो कोई नीरस पद बार-बार गा रहे हैं। क्या भला, क्या बुरा, क्या हो रहा है, क्या नहीं, सब कुछ वहाँ निर्विकार, निस्पृह, अनासक्त है।

उन्हें लगा, ये सारी भावनाएँ उनकी अकेली की हैं। यह छुआ-छूत उतर-पातर

के बीच की जाँच-परखकर वंश की मर्यादा और कुल की पवित्रता की रक्षा करना, घर की टेक रखने की बाबत सोचना—सब केवल उन्ही में हैं। सोचते-सोचते फिर उनकी धारणा में कहीं से एक ओर घर आकर मिल गयी। मैं क्यों इतना घुटूँगी?

घर सुनसान लग रहा है। बीच-बीच में सर्राटों की आवाज सुनाई पड़ जाती है। केवल आदमी ही नहीं, रात भी मानो सर्राटे भर रही है। चिन्ता में कुछ उठना-बैठना, उथल-पुथल मची हुई है।

सब पहले-पहल आकर पहुँचा एक सन्देह का प्रश्न, कि ये जितने थे पुराने जमाने के लोग, पुराने संस्कारों से अपने नाक-कान भी बिंधाते थे, हजार पुण्य-पर्व त्यौहार कर हजार छूत-अछूत सभी धी जला ब्राह्मण-भोजन करवाते थे, इतने धारण इतने विचार—अब किस घर में रहा? कौन-सा जमींदार रहा या बड़प्पन की वही खातिरदारी रही? कमर हिल रही है, अभावों से भरे हैं—न आसरा, न बल! जो सुख करनेवाले थे, वे तो भोगकर स्वर्ग में जा बैठे, जो देह दाह होने को है वे छटपटा रहे हैं! इतनी मान-मानता, क़ायदा-कानून, इतने पक्के संस्कार-चलन, दिन-बार छाँटना, उसी में फिर छोटा-बड़ा छुआ-छूत पकड़कर बैठना—भाग्य, धर्म, पुण्य सहेज रखने के इतने उपाय—पर सब किस काम आये?

घर ढह गया! जो जिधर उड़ गये, सेमल रूई की तरह। रहीं सिर्फ डीह की निशानियाँ।

मन दबा जा रहा है कि बड़ा घर था, क्या हो गया!

दस कोस में नाम था—चौधरी घराना! किस पुराने जमाने के सामन्त, जमींदार, खानदान! क़तार की क़तार में घर, प्रस्थ के प्रस्थ डीह, भरे-ठुँसे आदमी, दास-दासी, चाकर, हुक्काम, हाथी की तरह कोठले। कचहरी-घर, विचार-घर, भण्डार-घर, ठाकुर-घर, नाट-घर, बैठक-घर, रावटी-घर, तम्बू में रहने के लिए, कितने कामों के लिए कितने घर थे! जिनकी कोई गिनती नहीं। चबूतरे के नीचे हाथ जोड़े खड़े रहते गुहारी—झुण्ड के झुण्ड। उस ओर गोल जेलखाना। भीमाकार पाइक (सिपाहियों) का दल, बाहर चौक में कभी-कभी पाइकों का खेल, या हो-हल्ला या चित-पट।

याद आ जाती है, जब नयी-नयी इस घर में वे बहू बनकर आयी थीं। एक कोठरी का ताला खोलकर अन्दर देखा तो बस हथियार-ढाल भरे पड़े हैं, क़तार की क़तार, खाण्डा, तलवार, फरसा, बर्छी, भाला, छुरी, कटार—फिर एकनली, दुनाली बन्दूकें, और पता नहीं कितने प्रकार के, जिनके नाम तक वे नहीं जानतीं, घी में घुली सिन्दूर के टीके चक-चक कर रहे थे। कोई भयंकर अशरीरी आत्मा मानो छुपी है उस घर में, घर में घुसने को जी नहीं करता, उस जगह से निकला जा नहीं सकता।

"वो सब क्या देख रही हो बहू?" स्वर सुन चौंककर पीछे देखा, सासजी खड़ी थीं। "इनसे भारी-भारी तलवारें तो पिछवाड़े के कुएँ-पोखर में पड़ी हैं, और इतना ही बस इस कोठरी में रखा है, देवी है न यहाँ! बिना नहाये,कपड़े बदले कोई उस कोठरी में

नहीं जाता। और देखती क्या हो, किवाड़ भिड़ा दो अब।"

आदमियों की आवाज़ें, भीड़-भाड़—। बोझ के बोझ ढोकर, बैलगाड़ी में लादकर चीज़ें लायी जा रही हैं। कहीं से सब्जियाँ, कहीं से चावल, कहीं से घी-दूध। घड़ी-घड़ी पर एक-एक करते आ रहे हैं। आदमी आ रहे हैं। मानो सारा इलाक़ा उठ-बैठ करता रहा है। घूमता है—फिरता है, इस घर के चारों ओर। इन सबको यही हवेली चला रही हो जैसे।

और दिखाई पड़ जाते हैं भरे के भरे सन्दूक। उनमें नाना भाँति के पाटम्बर। इधर-उधर बनौती, रेशमी, मख़मली कपड़े भरे हैं।

आलट-चॉवर, छत्र, पण्डितों के सोने के कुण्डल, नायकजी का मंगलाष्टक, पुरोहित की मन्त्रध्वनि, भाटों का वन्दना-गायन, नौकर-चाकर का हल्ला-गुल्ला, असंख्य-असंख्य कबूतरों की गुटर-गूँ-गुटर-गूँ!

याद आ जाता है हण्डी की हण्डी दूध, सेर औटाते-औटाते पाव हो जायें तो भी थोड़ा। बरगद के दूध की तरह गाढ़ा करना। इतनी मोटी सी मलाई पड़ती। काट-काटकर खाया जा सके ऐसा थलथलाता दही। मनो बड़ी-बड़ी मछलियाँ, पुरुष-भर ऊँचाई के आम की ढेर। घौद के घौद केले, जिधर देखो, उधर ही चीज़ें। फटती हैं, बह जाता है, दास-दासियाँ ले जातीं। आज वह सब देखना सात सपनों की बात हो गयी।

हुकुम देते-देते तो गला बैठ जाता, फूल गूँथते-गूँथते हाथ थक जाते। और फिर जो रसोई का काम—मछली काटते-काटते तो एक पहर बीत जाता। वह कोई मामूली काम था! जितने लोग कुटुम्ब के खाने को होते, उससे तिगुने तो बाहर के हो जाते। अतिथि-अभ्यागत, बड़ा ठिकाना, बड़ी नजर, बड़ी रसोई—सब तो बस बड़ा ही बड़ा था।

सोचते-सोचते मन जाग उठता है, बीच-बीच में जोर से शीतल पानी छींटने की तरह। कड़े मन से निष्ठुरतापूर्वक सोचे जा रही हैं। "जा चली जा, क्यों आ रही है, ये चूल्हे की, रसोई की पिछली बातें। जा उसी अँधेरे में चली जा!" सब तो लुप्त हो गया है।

अच्छी बात है। जिधर से आ-आकर यह घर भर जाता था—उधर से अब नहीं आता। वे और अब मानते नहीं, देते नहीं। अन्याय क्या है? वे आराम से हैं, सलीके का कपड़ा पहनते हैं, पढ़ाई करने लगे हैं। इस देश में अब राजा या जमींदार राज नहीं चलाते। वे लोग ही राजा हैं, जो पहले हाथ बाँधे सिर झुकाये काठ की तरह खड़े रहते थे, एक पोरसा ऊँचे चबूतरे के नीचे। उन्हीं का मत लेकर यह देश चल रहा है, उनका मत और अधिक ठोस होता जायेगा। वे ही साधारण मैले-कुचैले लोग ही तो बलवान् हैं, उनकी संख्या बेसी है, देश में वे ही तो हैं—इस प्रकार बार-बार कहा करते हैं उनके पति सिन्धु चौधरी। उन्हीं की हित-चिन्ता में आँखें छलछलाकर कहते

हैं—मेरा देश, मेरे देश के भाई ! उन्हीं का मंगल होने पर सारे देश का मंगल होगा। पति अगर खुश हैं तो उनका क्या जाता है, उन्हें आपत्ति क्यों होगी ? उनसे अलग होकर और क्या है ?

आने दो, यह भी एक ढंग है। पहले एक घर भरा होता था, अब राज-भर के घर भरे होंगे। एक क्यारी में धान हुआ करता था, बाक़ी सारी खाली, अब सारी क्यारियाँ धान से भरेंगी, खाली कोई नहीं रहेगी। [तब जाकर दिगन्त तक फैला होगा धान का हरा-भरा खेत, लगातार चक, वही तो मेरा देश....उनके पति कहा करते हैं—हरा-भरा लहलहाता, वही उनके सपनों का देश है : सन्तान के नाम से एक इकलौती बेटी, उसका भी तो वही सपना। वही मोह उसपर भी घिरा है। फिर अब बाक़ी कौन रह गया ? वे स्वयं—एक जन। पेट को दो मुट्ठी अनाज, देह को एक टुकड़ा पहनने को, बस इतने की ही तो भागीदार हैं। फिर इतना सन्देह, इतनी आपत्ति किस लिए ? शायद बेटी और पति का रास्ता ही ठीक है। उनके मार्ग के देवता वैरागी भी हैं। वे ही महात्मा गान्धी, जिन्हें उन्होंने कभी देखा नहीं। कहते हैं वे सारी बातें कहा करते थे, जात-कुजात नहीं, सबसे बड़ा धर्म आदमी को चाहना है।

चाहना—किसी का क्या वे बुरा चाहती थीं ! बेटी कह रही थी, घर-द्वार बह गये हैं, जगह नहीं, राह नहीं। कैसी अवस्था है वह ! बह जैसे लुट ही गया चौधरी घराने का वैभव, कहानी खत्म हो आयी-सी। ना—फिर भी यह डीह तो है, ज़मीन भी है कुछ। हाथ चलता है। पर नहीं, यह घर भी तो सचमुच बह गया है। पानी, पानी, तटबन्ध के ऊपर उठने पर जैसा दिखा करता है। और असहाय झुण्ड के झुण्ड। आगे कोई नहीं, पीछे कोई नहीं, वो कोई बहा जा रहा है....कितनी आतुरता से पुकार रहा है....ओः....कोई आओ....कोई बचाओ....किसी का संसार जा रहा है....आदमी ही तो है सब....

और दोबारा बरसा की बौछार पड़ने तक उन्हें नींद आ गयी थी।

भोर हुई न थी। छवि आ गयी। सतुरा की पतोहू कब से उठकर तैयार बैठी है। छवि जाने को निकली, तो जशोमति ने कहा, "चलो मैं भी चलूँ।"

"यह क्या, यह क्या, कोई बहाना बनाती हो ?" छवि ने कहा, "तुझे लाकर यहाँ रखा, झड़-बरसा में नन्हें बच्चे को लिये कहाँ जाओगी ?"

कितना समझाया पर वह राज़ी हुई ही नहीं। मानो किसी सपने से उठी हो। लजाती-लजाती-सी खड़ी है, चाहती तो बहुत-सी बातें कह सकती थी, पर वह कुछ कहेगी नहीं।

सिन्धु चौधरी जाग उठे थे। कहा, "थोड़ा ठहरो, मैं भी चलता हूँ।" और

थोड़ी ही देर में वे तीनों निकल पड़े। छवि की माँ वैसे ही सोयी है।

कुछ दूर से घू-घू की आवाज सुनाई पड़ रही है। थोड़ी दूर जाने पर पता चल गया। सब चीख उठे—पुश्ता टूट गया है। पुश्ता टूटा—!" अहीर बस्ती के पास पहुँचने तक देखा, वहाँ लोग-बाग न थे। बाद में कुछ दूर जाते ही दिखाई पड़ा, वह उधर घाई खुल गयी है, कुलाँच भर-भरकर पानी आ रहा है, दाहिनी ओर तो मानो समुद्र ही उमड़ा आ रहा है, किनारे से हटकर भीड़ किये लोग-बाग घेरे खड़े हैं। हो-हा मची हुई है।

तभी खबर आयी कि जोगी बस्ती के रोहीनाथ और उसकी स्त्री दूलो दिखाई नहीं पड़ रहे, वैसे ही डोम-बस्ती के वात-रोगी बूढ़ा फगु गोछेइत भी, जितना पूछना-ताछना, खोज-खबर सब हो चुकी है। हल्ला हो गया—वह गये होंगे वे लोग....जीते-जी डूब-मरे होंगे?

"हे भगवान्!" सिन्धु चौधरी के मुँह से स्वतः निकल पड़ा। पहले जहाँ जोगी-बस्ती थी, उधर ही देखते हुए वे किनारे पर अवाक् खड़े हैं। नदी के किनारे पर पाँच सौ हाथ का पुश्ता तोड़ घाई का मुँह खुला है, उसी रास्ते मानो चल पड़ी है एक ओर उपनदी, गाँव का सबकुछ एकमेक होकर एक समुद्र बन गया है। उधर अहीर-बस्ती के नीचे तक पानी पहुँच गया है। इधर से उस ओर तक कूल ही नहीं दिखता, कहीं जोगी-बस्ती थी या बाउरी-बस्ती थी, कुछ पता ही नहीं चलता। वहाँ कहीं पेड़ नहीं दिखाई पड़ता, भीत या बाड़ भी नहीं दिखती। सिर्फ 'साँय-साँय' गरजता हुआ नाच-नाचकर उछल-कूद करता पानी चला जा रहा है। घर नहीं, कूल नहीं।

"कहाँ गये! जाना ही पड़ेगा! हम यहाँ आँखें टिमटिमाते देखते रहेंगे और वहाँ लोग बह जायेंगे! भी तो कितने गाँवों में कितने घरों के लोग बह गये होंगे! नाव के लिए कोई गया है?

"ओफ़.! क्या होगा! क्या करें?" बेचैन होकर छवि कहती जा रही है। कभी इसका मुँह देखती है, कभी उसका! आँखों से टप-टप आँसू बह रहे हैं।

"अरी जरा धीरज रख बेटी," पिता उसे समझा रहे हैं, "ऐसे पागल होने से क्या होगा? देखो सावधान रहना, पानी के पास न जाना। क्या वहाँ कगार से कोई बिसरा है, जो ये विकल हो दौड़ रही है? कगार धँसा तो मर जायेगी, बस जान लेना—"

छवि सुनती नहीं। वह तीर की तरह दौड़ जाती है घाई टूटने की जगहवाली पार के पास, आगा-पीछा कुछ नहीं सोचती। पहनी साड़ी उड़ रही है, सिर की चोटी खुलकर लहरा रही है। दौड़ जाती है, अवाक् होकर तट के नीचे से खड़ी होकर सामने देख रही है, बाँए-दाँये देख रही है। आँसू थम आते हैं। चेहरे को छू रही है नदी किनारे की हवा।

पीछे से कोई पुकारता है, "अरे—चली आओ—उधर मत जाओ—" बार-

बार वही आवाज़ कानों के परदे से टकराकर पानी की 'घो-घा' बन जाती है। सामने वही दृश्य, धरती अदृश्य हो गयी है, सिर्फ पानी ही पानी। मूँगिया आकाश—खाली।

परन्तु वह दृश्य नहीं देख रही, सिर्फ चेहरा टिकाये है। मन के अन्दर रूप देख रही है—सब कुछ उलट-पुलट करता तूफान गुजर रहा है जैसे बैशाख में झड़ एक के बाद एक आता है। घर की छान ऊपर की ओर कूद रही है। आकाश में घनी पुआल की आग की तरह धूल, जगह-जगह छान से थोड़ी-थोड़ी जगह से पुआल उड़ने लगे, बाद में और अधिक-अधिक। फिर छान उलट जाती, पेड़ उखड़ जाते, डाल टूट जाती, बिजली कौंधती, तूफान झकोर जाता, क्या कुछ हो जाता। उसी तरह उसका सिर चकराता-चकराता उड़ा चल रहा है प्रलय। आदमी का संसार नष्ट-भ्रष्ट हो रहा है। आदमी का कूल लोप हो रहा है। अचानक तूफान के आगे विराट् खुले आकाश की विस्तृति पर अकेली फड़फड़ाती नन्ही चिड़िया की तरह हाथ फैलाये छाती दिखाये रहने को बार-बार चेष्टा कर रही है। उसका स्नेह—सहानुभूतिमय मानवता। मानो सचमुच जैसे उस प्रलय के संघात से उसमें स्वयं में नशा भर गया है, उस हिले हुए दृश्य की ओट में से दौड़ी आ रही है एक अनदेखे आकर्षण की खींचा-तानी। मन करता है कि वह भी चले उस प्रलय के अन्दर, जहाँ घर बह गये हैं, आदमी बहते जा रहे हैं, संसार उजड़ रहा है—उसी के अन्दर।

पीछे कन्धे को कोई जोर से खींच रहा है, पिता हैं। उस टूटी खाई के तट के सिरे पर खड़े विराट् सिन्धु चौधरी बेटी के चेहरे की ओर ताक रहे हैं। उसे यह क्या हो गया है। पागल की तरह ताकना, आँखों के कोये काँप रहे हैं, वहाँ तूफान और बाढ़ चल रहे हैं, वहाँ प्रलय का-सा वेग है। नन्ही चिड़िया छटपटा रही है।

शान्त स्वर में वे कह रहे हैं, "चली आ बेटी! चली आ। नया देखने पर ऐसे ही लगता है, सिर चकरा जाता है। यह बहुत भयंकर है, चली आ।"

उसका हाथ पकड़ खींच ले जाते हैं।

चेहरा सिकुड़-सिकुड़कर होठ दाँतोंतले भींचती छवि सुबक रही है—"गाँव-गली घर-द्वार पेड़-पौधे, गाय-गोरु—

एक-एक का उच्चारण करती है। छाती उठती और गिरती है तेजी से। देह काँप रही है, "कहाँ गया, क्या हो गया....?"

उसकी वे छलछलायी आँखें, वेदना में रूपान्तरित करुणा का चुम्बकीय आकर्षण उनके शान्त-संयत चेहरे पर भी उसी भाव की तरंगें फैला रहा था। दीर्घ श्वास रोककर के सिन्धु चौधरी कहने लगे, "जाता है फिर नया होकर लौट आता है। यही तो खेल है, आओ चलें।"

"खेल!"

"और क्या है? अपना खेल हम खेलते हैं। दैव अपना खेल खेलता है। तू क्यों इतना छटपटा रही है? देखना, कितने लोग जमा हैं। तेरा घर तो सूखा है, उनके घर

गये। तब वे और करें भी क्या? जब जिसका जो होना होगा सो अपने आप हो जायेगा। पानी छूटेगा, जमीन से बालू हटायी जायेगी, घर खड़े किये जायेंगे, संसार रहेगा ही। चला जायेगा ऐसी बाढ़ में?"

मुँह घुमाकर बूढ़े गोकुलनाथ योगी ने कहा, "गये! अपना भाग! भाग्य को कौन टाल सकता है?"

"और हम यों ही तमाशा देखते खड़े रहेंगे?"

"और कर भी क्या सकते हैं? हमारे रोके क्या वह रुकेगा? नाव आयेगी, खोजा-खोजी चलेगी। तब देखा जायेगा।"

भीड़ बढ़कर लोगों की 'हो-हा' के बीच सुनाई पड़ी, "नाव-नाव—वो नाव दिख—"सच दूर कोई अकेली नाव आ रही है। उजागर दिन है। सुबह आठ बजे सूर्यास्त के बाद की तरह का जो प्रकाश पड़ रहा है उसमें एक-एक दिख रही है। लोग खड़े होड़ ले रहे हैं।

फूलझरा की नाव किनारे पर लगी। घोंबेई मिश्र और उनके दल के लोग उतरकर आये। उधर से भीड़ कर पाटेली गाँव के लोग चार की तरह नाव की ओर बढ़ आये, मानो जैसे स्वर्ग से ईश्वर के दूत आ पहुँचे हों।

लोगों के बह जाने की बात सुनते ही घोंबेई मिश्र चौंक उठे। कहने लगे, "रोने का समय कहाँ? तेज स्रोत में कौन होगा कौन नहीं। हम तो हैं। जाना चाहिए, खोजना चाहिए।"

आनन-फानन में लोगों की सहायता के लिए बन्दोबस्त शुरू हो गया। कुछ चीजें उतार दी गयीं। घोंबेई मिश्र और तीन माँझी—इन चारों को छोड़ बाकी लोग उतर पड़े।

नाव छोड़ने में थोड़ी देर है। छवि उतावली होने लगी, वह भी नाव में जायेगी। तर-तर जाकर नाव में बैठ गयी। आपत्ति करते-करते स्वयं सिन्धु चौधरी जाकर नाव में चढ़ गये। चारों ओर काफी उत्तेजना का वातावरण। सिन्धु चौधरी को लग रहा था मानो उनके पैर भी जमीन से ऊपर उठ रहे हैं।

लोग किनारे पर कह-सुन रहे हैं,—इस विपद् में बेटी को लेकर चौधरी खुद किधर निकल पड़े?

"चले आयें—वे तो आ ही रहे हैं फिर आप कहाँ?"

सिन्धु चौधरी प्रसन्न हो हँस पड़े।

नाव चल पड़ी। किनारे के लोगों में से एक जोरदार 'हरिबोल' ध्वनि उठी। आँखों से ओझल न होने तक वे लोग नाव की ओर देखते ही रहे। धीरे-धीरे उत्तेजना कम पड़ रही थी। चर्चा चल पड़ी—

"आज ही लौटेंगे तो?"

"कौन जाने? उफनती नदी की बात है...."

"जो होना था, हो चुका होगा, जाकर किसे पायेंगे ?"

"सो कौन कह सकता है ? आदमी के वश की बात है चेष्टा करना, फिर...."

हुर्दू सेठी धोबी ने कहा, "जो आता है उसे वहीं गोंद चिपक जाता है। देखो न, अर्पतिया, मागुणिया, सदा, चन्दरा—उन्हीं की दीक्षा में उनके साथ-साथ यों जुड़ गये हैं कि उनके साथ काम करते-करते अब लौटने का नाम ही नहीं लेते।"

बिका मुदुली ने कहा, "कितनी जगह तो फूलझरा की हवा लग चुकी है, एक साथ मिलकर रहने का लोगों का मन है। बाट-घाट में वही बात। थोड़ा-बहुत अपने गाँव में क्यों करते सो क्या बुरा होता ? करो, पहले मैं मिलूँगा—"

चमेई बेहेरा ने कहा, "मैं भी।"

डम्बरू नाथ ने कहा, "अब तो बाढ़ फैल गयी, तेरा गया, मेरा गया—सबका बह गया। पानी हटने पर तो सब समान, मेड़-बाड़ कुछ नहीं रहेगा। तब मामलाती चलन चला दें तो क्या हो ?"

बिका मुदुली ने कहा, "कर गये तो कर जाना, या फिर बस सोचते रहो।"

फूलझरा से आयी अयाचित सहायता का प्रभाव उनके मन पर पड़ा था। मन स्वत. उदार होकर फूल उठा था।

प्राय: दो घण्टे के बाद, सन्ध्या-आरती का समय हो आया। नदी में फिर. कोई नाव दिखी। फिर खबर फैल गयी कि 'नाव आ रही है। नाव आ रही है।' लोग किनारे पर भरे थे।

उधर से नदी ही नदी में बढ़ी आ रही थी फूलझरा की नाव। सहायताकारी नाव के परिचय के रूप में वह सफ़ेद पताका उड़ा रही थी। क़तार में तीन जने खड़े थे। रवि, बई मलिक और जम्बू बेहेरा।

जम्बू बेहेरा ने कहा, "ये आ गया पाटेली गाँव। ओह! कितनी बड़ी घाई हुई है!"

रवि उधर ही देख रहा था।

यही यह गाँव था, यहीं रहती है छवि—वह विचार कर रहा था। समूह के समूह कितने लोग दिख जाते हैं। वह भीड़ में होगी ? यहाँ क्यों होगी ? फिर उसकी छाती दहलाती दीर्घ साँस बह गयी। बाढ़ घिर गयी है, चारों ओर दुर्दशा ! सब जगह जो, यहाँ भी वही—आदमी बुलबुला रहे हैं।

नाव आगे बढ़ गयी किनारे की ओर।

पाटेली गाँव की जोगी-बस्तीवाले जोगी रोहीनाथ और उसकी स्त्री दूल जब अपने घर की टूटी छान को जकड़े अँधेरे-अँधेरे बाढ़ में बहते चल पड़े, तब घबराहट में हक्के-बक्के

उठे। कुछ समय में ही चला गया।

इसके बाद दूल ने कहा, "चलो, अपनी छान को उठा लायें, वरना वह भी कहीं बह जायेगी...."

बच्चेश्वर टीला।

वहाँ बच्चेश्वर महादेव का बहुत पुराना ईंटों से बना देवल है। अतीत इतिहास के नाना चिह्नों के वहाँ नाना टूटे-फूटे ढेर हैं। अनेक मूर्तियाँ, मानो सचमुच आधी पूरी मूर्तियों की खान हैं। पुरातत्त्वविदों का कहना है, ईंटोंवाला देवल यहाँ छठी-सातवीं सदी का है, उसी पुराने जमाने की ये मूर्तियाँ हैं। उस दिन से अबतक इतिहास की सीढ़ी-दर-सीढ़ी नाना युगों की नाना शिल्पकला, नाना धर्ममतों की नाना मूर्तियाँ यहाँ सहेज कर पड़ी हैं। इतना ही नहीं, उससे भी बहुत पुराने समय की। यहाँ बरगद के नीचे जो ऊँचाई है, कहते हैं, वह बौद्ध युग का कोई स्तूप रहा होगा। उसके आस-पास बौद्ध मूर्तियाँ मिलती हैं। उन्होंने आकर कहा कि यहाँ एक दिन कलिंग के समृद्ध इतिहास का जन्मगृह था। यहीं उसकी संस्कृति पनपी थी। फिर वही भूटान, तिब्बत, चीन, निपन, फिलिपाइन, सुमात्रा, मलाया, चम्पा, कहीं फारस, मेडागास्कर, अफ्रीका, और सारे भारत में, हिमालय से कुमारिका तक, सिन्धु देश से कामरूप तक। देश-विदेश में फैली थी।

उस बार वे कोई आये थे। काले पत्थर की तरह सुन्दर सुगम उनका चेहरा और सिर। न बेसी गोरे, न साँवले, धनु की तरह भूलता, तैरती-तैरती-सी आँखें, उनमें कल्पना की लहरें हिलोर ले रही हैं, नासा फूल-फूल उठती हैं। चेहरे पर शान्त प्रौढ़ता, यौवन का ताव नहीं। अति वार्द्धक्य की धूसरता नहीं, वही अवस्था जब चेहरा दिखता है जीवन पुती पत्थर की मूर्ति जैसा, जैसे कि वह उसी तरह युग-युग के लिए रह जायेगा, बदलेगा नहीं।

तब छाया लम्बी पसरी थी, आम के पेड़ पर ढलती धूप झलमला रही थी, तुलंग के गाय चरानेवाले छोकरे, कराग की कठियारिन बाउराणी, अजंग के दो बटोही केवट गोविन्द बेहेरा और नाम बेहेरा—उनके हाथ में जाल की बुनाई का काम था। बच्चेश्वर के भोपा विकर्तन रुककर अवाक् उनके चेहरे की ओर देखते रहे, किस युग किस राज का नाम वे कहते हैं वे नहीं जानते। केवल उनकी वह भंगिमा, उनकी वह भाषा भी उनमें माया की सनक लगाये देती थी, उनके साथ-साथ वे भी सपना देखते थे, कानों से टकरा रही थीं उनकी गुन-गुन सपनों में भीगी-भीगी शान्त बातें, उस भाषा में सचमुच जैसे कोई संगीत था, और उड़ीसा के उत्तरी भाग की बोली की चिलक थी, जो मीठी सुनाई पड़ रही थी।

उन्होंने कहा था, "माटी को चाहिए ध्यान, ध्यान करने पर वह खुद बता देगी, अपनी कथा और कहानी—क्या है उसका इतिहास। इस जगह की मिट्टी पवित्र है, वह इतिहास है, इतिहास। विश्वास रखो, मूर्ति भी बात कहेगी, उसे देखने की एक स्वतन्त्र भंगिमा होती है, आओ दिखाऊँ।"

एक क्यों, सारी मूर्तियों को एक जगह खड़े रहकर देखो तो लगेगा वह तुम्हारी ओर ताक रही है, हँस रही है, तब वो तुम्हें अपने दिल की बातें खोलकर कहेंगी, मन खोलकर कहेंगी।

आये वे कौन थे? गाँव के लोगों को याद नहीं। परन्तु खबर फैल गयी थी। उनके बाद में और एक आये, सुन्दर चेहरा लिये लम्बे आदमी, लाल आँखें, लम्बी नाक, मठे का पंजाबी पहने, तब विकर्तन अकेला था। मुँह पर संबलपुरी उड़िया थी। पहले विह्वल होकर गद्गद स्वर में बातें कही थीं, और फिर रोये थे, विकर्तन की हड़ीली पीठ को सहलाकर वे बोले थे, "देखो विकर्तन, यही मेरे देश का श्मशान है, गजपति पुरुषोत्तम देव ने जिस दिन कृष्णावेणी नदी के कूल पर देह छोड़ी, उस दिन से मेरी जाति का गौरव-रवि अस्त हो गया है। और वह क्या उगेगा नहीं? बोलो, बोलो विकर्तन!" भोंपा विकर्तन की लम्बी गरदन में मोटा टेंटुवा ऊपर-नीचे हुआ, बारम्बार, उसने गमछे के छोर से रूढ़ हड़ीला-भूखा चेहरा पोंछा। "अब मेरे पास समय भी नहीं विकर्तन! गवेषणा—उसके लिए धन चाहिए, उमर चाहिए। कौन देगा? और तुम, विकर्तन तुम्हीं, इतिहास के वास्तविक सेवा करनेवाले तुम्हीं हो, कुछ नहीं तो, कम से कम जगह का नाम तो रखे हो, एक दीया तो जलाते हो, प्रत्येक उड़िया तुम्हारे प्रति कृतज्ञ है।"

अभिभूत विकर्तन कुछ सुनता इससे पूर्व ही जेब से पचहत्तर रुपयों का नोटों का एक बण्डल निकाल थमाकर कहा, "और कुछ नहीं विकर्तन, होता तो देता, विलायत, फ्रान्स, इटली में तुम्हारे जैसे के लिए कितना कुछ लोग उँड़ेल देते हैं। मैं देख आया हूँ। यहाँ शायद तुम दोनों वक्त पेट-भर भी नहीं पाते होगे, माँड़ पी-पिलाकर कुटुम्ब का पोषण करते हुए इतिहास को बचाये बैठे हो।"

तब विकर्तन ने समझा था कि इस जगह की कितनी महान् महिमा है। अपनी कल्पना से उसने रची कितनी ही कहानियाँ, नाना मूर्तियों, नाना देव-देवियों के बारे में, जब उसे जैसा दिख जाता। कोई घोड़े पर चढ़कर घूमता, किसी के पाँच सिर, कोई-कोई एक साथ मिलते। यों ही अनेकों कहानियाँ।

बाद में फिर और कोई बाहर का आदमी खोजने आया नहीं। उजाड़ जैसा था, वैसा ही रहा। मूर्तियाँ जैसी की तैसी पड़ी रहीं। कोई आया नहीं माटी के नीचे से उड़ीसा का इतिहास खोद निकालने।

कराग, तुलंग, अजंग, भुआंग, डगराशाही, सागेणा—इन सारे गाँवों के घेरे के अन्दर है मील-भर लम्बा-चौड़ा धान का चक। उसी के किनारे कराग और तुलंग मौजे की ओर ढलता-सा यह टीला, आकृति में कछुवे की पीठ की तरह, कुछ लम्बा-सा होकर

गोल, बीच में टीला। जमीदारी उठने की हवा लगते ही पिछली तारीखें लिख-लिखकर पावती बाटकर जमीदारों ने बाग-बाड़ी अनावादी सबको पट्टा कर दिया, किस जमाने का बाग कटकर चला गया। तब खेती हुए बिना रह गया बस केवल यह बजेश्वर का टीला, उसके लिए कुछ हद तक दायी हैं महादेव के भोपा विकर्तन रणा की काल्पनिक कहानियाँ और लोगों के मन में धुकुड़-धुकुड़—कि जोत डाला और कहीं कुछ हो गया तो! इतने देवी-देवता, इतनी मूर्तियाँ हैं—कौन कह सकता है!

बीच में जहाँ टीला सबसे ऊँचा है, वहीं बजेश्वर का ईंटों से बना देवल है। टीले को धार से दिखता पर पेड़ों की ओट ठहरी, विशेषतः वहीं जो खूब ऊँचा खूब घनी डालवाला बरगद फैला-पसरा है उसी के कारण। बीस हाथ ऊँचा देवल, पर ईंट का बना हो, ऐसा लगता नहीं, किसने कितनी बार उसपर चूने-बालू के पुट लगाये होंगे, दिखता जैसे आजकल का साधारण पत्थरोंवाला मन्दिर हो। परन्तु ये प्रकाण्ड-प्रकाण्ड ईंटें, हाथ-हाथ-भर लम्बी, कच्ची थी तब गारे पर तुस लपेटकर ईंटें पकायी गयी थीं, वैसे ही हैं जैसे सैकड़ों बरस पहले जब बनी थी, और फिर बनी नहीं। गर्भगृह के अन्दर पाताल तोड़ महादेव! कहते हैं जागर (शिवरात्रि) के दिन स्वतः क्षीरस्नान होता है। बाहर देवल की देह में जगह-जगह पर आले, उनमें काले पत्थर की आश्चर्यजनक सुन्दर-सुन्दर मूर्तियाँ, विस्मय में भर देनेवाला वह भास्कर्य।

वो पास ही शिव-पार्वती। महादेव का बायाँ पैर मुड़ा हुआ है, दाहिना नीचे झूल रहा है। बायी जानु पर विराजमान हैं पार्वती, दाहिनी मुड़ गयी है। बायाँ नीचे झूल रहा है। दोनों बैठे हैं खिले पद्म-फूल पर, दोनों के पैरों में खड़ाऊँ! किस चमत्कार-पूर्ण ढंग से परस्पर को देखते बैठे हैं, कितनी सजीव भंगिमा है, कितनी भावामय! कैसा शोभन है वह रूप, कितना सूक्ष्म शिल्पमय है उस देह के आभूषण! आसन के नीचे सिंह और वृषभ मैत्रीपूर्ण भंगिमा में देखा-देखी कर रहे हैं।

पास ही कार्तिकेय। काले पत्थर पर चन्द्रिका खुदी है, मयूर देख रहा है। उसके दोनों ओर दो पैर झुलाये घोड़ा चढ़ने की तरह कार्तिकेय योद्धा-वेश में बैठे हैं, दाहिने हाथ में तलवार है।

अगले आले में गणेश, यहाँ पेट प्रधान नहीं, प्रधान है उनका ऊँचा मुकुट, नाना कलाकारी से खचित, पेट मोटा नहीं, पर छाती चौड़ी है, हाथ में लम्बा फरसा।

एक जगह सिंहवाहिनी बारहभुजा दुर्गामूर्ति, चिकना काला पत्थर। सीधी तनकर बैठी हैं। चौड़ी नासा, तीखी नाक, गोल चेहरा, छोटी चिबुक। सिर पर तीन वेणियाँ। छाती पर रुद्राक्ष की माला लटक रही है। एक दाहिने हाथ में सिर पर खाण्डा टिकाये हैं। एक हाथ में त्रिशूल, एक हाथ में गदा, एक में धनु, एक में ढाल, एक में घण्टा, एक में तूणीर, एक में पद्म, एक में सर्प और एक में कमण्डलु धारण किये हैं। सिंह महिषासुर को दबोचे बैठा है।

सावित्री-सत्यवान्, चतुर्मुख ब्रह्मा, चतुर्भुज विष्णु, किरीटवन्त सूर्य, नाना वाहनों

पर चढ़ी मातृकाएँ, किसी का चेहरा सिंहमुखी, किसी का वराह, कोई किशोरी, कोई वृद्धा, किसी का वाहन मेंढक, किसी का सुग्गा, किसी का मगर, किसी का सियार, तो किसी का वाहन बत्तख है, किसी का मृग, किसी का मुर्गा, किसी का सिंह, किसी का कच्छप, किसी की मछली, किसी का भेड़ा, किसी का हाथी, तो किसी का वाहन शव है। किसी के हाथ में वीणा, किसी के हाथ में टूटा छाज, किसी के प्रकाण्ड घट, किसी के हाथ में साँप लिपटा है, फन फैलाये है, कोई खड़ी है मूसिक पर, हाथ में धनु धारे गुण तान रही है, अत्यन्त सुन्दर स्नेह से भरपूर चेहरा। कमर से नीचे की ओर पतली सूत-सी, अत्यन्त बारीक साड़ी, कमर से ऊपर खुला है। हाथों में चूड़ियाँ, बाहु में कण्ठी, गले में पतले-पतले हार, कानों में बड़े-बड़े गोल फूल लगे हैं, सिर पर अनेक मालाएँ, और माथे में बड़ा-सा जूड़ा बना हुआ, जो एक ओर तनिक ढुलका-सा लग रहा हो, एवं उसके नीचे फूल की पंखुड़ियाँ। सबकी आँखें अधमुँदी सी दिख रही हैं, चेहरे की भंगिमा शान्त, प्रसन्न, अति सुन्दर है। देवल के आलों में भरने के बाद अर्द्धचन्द्र की तरह उसे घेरकर मूर्तियाँ सजी रखी हैं।

देवल के बाहर टूटी ईंटों की कुरी। कहते हैं वहाँ चण्डघण्टा देवी का मन्दिर था, काले पत्थर की प्रकाण्ड वैष्णवी मूर्ति एक जगह रखी है।

और भी विचित्र है वह बरगद की जड़। वहाँ नाना प्रकार की मूर्तियाँ। भूमि-स्पर्श मुद्रा दिखाते पद्म पर बैठे हैं, वज्रधर, वरद मुद्रा में तारा, अनेक बुद्ध मूर्तियाँ, वहाँ सूर्य की मूर्ति है, शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुज रूप में प्रकाण्ड माधव मूर्ति, विशाल काले पत्थर पर शेषशायी अनन्त शय्या विष्णु की मूर्ति। पाद तले लक्ष्मी बैठी चरण दबा रही है, सिरहाने काले पत्थर के वासुकि का फन, छाते की तरह सात हैं। उसपर पृथ्वी। भोपा विकर्तन ने पिता से सुन-सुनकर याद रखा था, कहता—

"सात फन सात नीति के हैं, उनपर वासुकि सारे संसार को सँभाले हैं, उन सातों में से एक भी न हो तो संसार को उठाकर रखना सम्भव नहीं होगा, वह डगमगा जायेगा। अभी कलयुग में सातों के सातों हीनबल हैं, अतः संसार में शान्ति नहीं।"

ठेंगू, हड़ीला विकर्तन रणा, पान खाता नहीं, दाँत गाय के हाड़ की तरह, सिर में पीछे की ओर थोड़े-से बाल, उनमें एक लम्बी-सी चोटी, गड्ढों में धँसी आँखें, माथे-पर लकीरों के पास गोल चन्दन का टीका, फफूँद सूखे बाँस की तरह दोनों बाँहें। जैसे-तैसे अपना नाम लिखना-भर जानता है। बरगद के आगे जो ढूह है उसपर बैठकर गायों के रखवालों को या पत्तर बीननेवालों को या खेतों से लौटते हारे-थके धूल-पसीने में भरे किसानों के आगे वह वासुकि के फन का तात्पर्य बखानता। कहता, शास्त्र कहते हैं—

"गोभिः विप्रैश्च वेदैश्च सतीभिः सत्यवादीभिः।
अलुब्धैः धर्मशीलैश्च सप्तभिर्धार्यते मही।"

आश्चर्यजनक तरीके से बिलकुल शुद्ध सुनाई देता उसका उच्चारण, पर उसमें यह संकीर्तनिया स्वर का संयोग-भर करता। मूर्तियों की ओर हाथ दिखाकर कहता, "वो देखो, सब पत्थर हो गये। किसी का और मुँह नहीं खुलता। उनपर चिड़ियाँ बीट करती हैं, सियार हगते हैं, चाम्चियाँ उड़ रही हैं, धूप-बरखा खाकर माटी से चिपटे पड़े हैं। और अब करें भी क्या, घोर कलजुग जो आ गया!

श्रोता सिर हिलाते, औरतें दीर्घ साँस छोड़तीं। भोपा विकर्तन की आँखें चमक-कर धुँधला जातीं। कहता—"गोभिः—अरे गोचर मैदान को तो सारा खेत कर डाला, इधर उड़द का भाव हो गया रुपये का पाँच पाव, सेर-भर। गायों का हाड़ का ठठुर-भर रह गया। इधर बस इंजेक्शन भिड़ाते रहो, लाते रहो पंजाबी साँड़, और अब कैसी गोभिः रे! विप्र तो हो गये विकर्मा। पढ़ाई कर बन गये बाबू, कि खाट के तले टोकरी में अण्डे भरे होंगे, कर्म में जो रहे उनके पेट-भरन की पूछता है कौन? वेद तो छूट गये, उसके बदले आया है यह विदेसी वेद (उलटा) पाठ, सती बिगड़ेंगी। जगन्नाथ दास (उड़ीसा के प्रसिद्ध भागवतकार कवि) ने कहा है, असती सिर उठायेंगी। सत्यवादी की तो बात छोड़ो, सब सत्यवादी बनेंगे। अलुब्ध कौन रहा, जिसे देखो ठाकुरजी को खाकर उनका खटोला भी निगलने को तैयार। धर्मशील होने का नाम चढ़ा। और अब वासुकि को क्या गरज पड़ी है! जाये यह डूबे, डूबेगी तभी सत उपजेगा।"

विकर्तन का सूखा पेट पीठ से सट जाता। धक-धक पेट की चमड़ी उठती-गिरती। बूढ़े बैल की तरह उसकी छाती, बड़े-बड़े हाड़, पंक्ति के पंक्ति, उनपर धूसर चमड़े का आवर्तन लुहार की धौंकनी की तरह उठती-गिरती। विकर्तन उसी जंगल, पत्थर, रास्ते, धान के खेत में श्रेणी-उमर-ज्ञान निर्विशेष से श्रोताओं को सुनाकर अपने मन की कहता—

"इतने देवी-देवता हैं कि उनके मुँह में दो बूँद पानी देने के लिए एक अंगुल जमीन नहीं! बच्चेश्वर। पूजा करने पर बहू का चूड़ा वज्र का हो जाता है, आदमी का भाग वज्र का होता है। कौन नहीं जानता? साक्षात् देवता हैं! पुजारी तो हाँ करते हैं। इतनी जमीन थी, कहाँ गयी? कहो, किसकी जीभ में हाड़ है? इतनी दूर से भोपा आयेगा, क्या उसके बाल-बच्चे खायेंगे? छोड़ो, हमारे पितृ-पुरुष सेवा करते थे, कोई पूछे या न पूछे, हमारा काम हम कर जायेंगे, जीते-जी कैसे देह सहेगी?"

जमीन में पानी देने के लिए कुआँ खोदते समय अनेक खप्पर, ठीकरे निकलते हैं, लवनी लिपटे होने की तरह उसपर चमचमाता पुट। निकलते हैं माटी से बने सुन्दर-सुन्दर अलंकार। प्रवाल, नीले लाल पत्थर की कण्ठी, हाथीदाँत की मुँदरी, पुराने जमाने के ताँबे के कलसे। कितने ही कुओं के तले दीवार पड़ जाती है। किसी-किसी ने सोना भी पाया है। एक जमीन का नाम है कविडीह, एक विराट् वापी का नाम अमात्य वापी, वैसे ही यहाँ साधव खेत है, राणक सर है।

इस टीले पर नाना ओर से चुन-चानकर मूर्तियाँ लाकर किसी ने एक जगह

बरगद के नीचे लड़का दो हैं। जगह-जगह और भी कई हैं। कितनी टूटी-फूटी, खण्ड-विखण्डित। कितनी ही काले पत्थर की मूर्तियाँ पानी की चोट खाकर घिस गयी हैं, फिर भी उनपर है चेहरे की गम्भीर छाप, अंगभंगिमा के लालित्य की। किसी के ऊपर पेड की जड़ें फैल गयी हैं, सबपर लगी हैं काई, फफूँद, थोड़ी-बहुत स्याह-स्याह-सी छाया, बीच-बीच में चूने का पानी छोटने की तरह दिख जाता है। कितनी मूर्तियाँ ढँकी पड़ी हैं, उन काँटों की झाड़ियों तले, माटी-पत्थर तले।

युग-युग से एक मत पर दूसरा मत थोप देने की चेष्टा कर अपनी-अपनी रुचि और धारणा को मूर्तिमन्त करते हुए लोगों ने स्वरूप आरोपित किया था, हिन्दुओं पर बौद्ध, शैवों पर वैष्णव, सबके ऊपर शक्ति, और अब सबको ढाँपे है झुरमुट। माटी फैल गयी है।

सुनसान। कोई आता नहीं इधर। कभी कोई, अगर किसी का जी किया तो मनौती करने आता, किसी गाँव में रोग का सिलसिला शुरू होता तो यहाँ चलता ठाकुर-जी के आगे उद्‌बोधन, देवी का पूजन। गले में ढोल डालकर जमीन की छोटी पगडण्डियों, खेतों की मेड़ों के रास्ते बजानेवाले आते हैं, बाजा 'ढांव-ढांव-ढांव' बजता है, फिर चुप हो जाता है।

और आज—

खेतों के ऊपर अकूत पानी, करांग के पास बज्रबाण नदी में घाई टूटी, कराग और तुलंग वो एकदम धुल-पुँछ गये, गोपा विकर्तन ने कराग से भागकर आश्रय लिया आइतलंग में। घाई के टूटने पर सारा पानी एकत्र आकर मिल गया, वज्रेश्वर का टीला बन गया एक छोटा-सा द्वीप।

देवल के पिछवाड़े में पुराने अमरूद के पेड़ आठों के आठों फलों से लदे हैं। चम्पा के फूल खिले हैं, लम्बी-लम्बी कलियाँ अँगुली की तरह, हाथीदाँत के वर्ण की श्वेतचम्पा, तपाये हुए सोने के रंग की कनकचम्पा। एक बूढ़े आम के पेड़ में बूढ़ी मालती लता लिपटी पड़ी है, कुछ-कुछ फूल खिले हैं। बेल के वन में नागेश्वर का पेड़ सघन पत्तों से आच्छादित है। चारों ओर से तैरती आती है मीठी-मीठी केवड़े और केतकी की मोहक गन्ध। देवल के आगे खुली जगह के कुछ उधर काठचम्पा के अनेक पेड़, फूलों से लदे हैं।

फूल, पत्ते, पुराना देवल, टूटे-फूटे अवशेष, उधर झुरमुट। एक जगह में नहावा-सा कुचला का पेड़। चिड़ियाँ हलचल मचा रही हैं। वज्रेश्वर का टीला पानी में तैर रहा है। वहाँ दो आदमी—रोहीनाथ और दुली।

अमरूद खाकर पेट भर चुके थे। दिन तमाम धूप ही धूप में कट गया। रोही और दुल पानी के किनारे खड़े होकर देख रहे थे। धूप के ताव में पानी दिप रहा था झिलमिलाता, आँखें चुँधिया जातीं। ग़ौर कर रहे थे, शायद कोई नाव आती हो। सिर पर गों-गों करता हवाई जहाज़ उड़ गया। सुबह देखा, तनिक दूर से एक नाव निकल

गयी, बहुत तड़के पुकारते-पुकारते गला फट गया, आवाज़ नहीं पहुँची, फिर भी आशा बलवती हो गयी थी।

बाद में जब समय चढ़ गया था, एक और नाव तब दिखी थी, अबकी उतनी दूर न थी, पर सीधी बढ़ रही है ठीक बाढ़ के बीचो-बीच। प्राणपण से रोही और दूल ने आवाज़ लगायी—"हो ओ ओ ओ ! ..."

उनकी पुकार नाव से टकरायी है। नाव की गलही मोड़ी। प्रतिध्वनि की तरह नाव से भी आवाज़ गूँजती आयी। वे आ रहे हैं। हाथ पटक, आवाज़ कँपाती दूल अस्थिर हो उठी। न, अब और कोई चिन्ता नहीं। गद्गद होकर रोही रो पड़ा, "गोरख ने हमारी गुहार सुन ली ! सुनार के घर सीसा तपाकर पीकर पार कर गये ! अष्टांग साधकर सिद्ध हुए थे। अनकटा-अनबँटा उनकी आशा से पक रहा था, वे उसे खाते थे। सब कुछ छोड़ पवन आहारी होकर अजर-अमर हुए थे। उनके लिए कौन-सी बात अनजानी है ! तनिक दृष्टि पड़ते ही वारिधि में बाँध खड़ा हो जाये। सब उनकी ही दया है, उनकी ही महिमा !" विपद् से उद्धार पा रहे हैं—यह सोच कृतज्ञता उपजी अपने आदिगुरु गोरखनाथजी के प्रति। उनके मन में वही उस समय अदृश्य भगवान् का प्रतिरूप था।

यह क्या हुआ, "अरे देख, दूल, नाव ऐसे क्यों हो रही है ?" कलबल होकर हड़बड़ाकर रोही उधर देख रहा था। झटासट नाव बढ़ती आ रही थी। लम्बे-तगड़े चार नाविक डाँड़ लगा रहे थे। आगे सिरे पर बूढ़े मंगुवाल के पास खड़े थे दो जन। टीले के पास आते-आते अचानक नाव ने कहीं जोरदार धक्का खाया। दोनों नाविक छिटक पड़े। बहाव के ज़ोर से नाव एक घेरा घूम गयी और पीछे की तरफ़ खिंच गयी। बाद में तैरते-तैरते दोनों माँझी नाव पर चढ़े। फिर अपनी-अपनी जगह पर खड़े हो गये। उद्वेग बढ़ गया, खिंचा रींचना, पतवार से ठेलना, बहाव के साथ जी-जान से युद्ध। नाव फिर रास्ते पर आ गयी। फिर टीले की ओर बढ़ चली, अबकी दूसरे रास्ते से, अब उसकी गति सीधी न थी। घायल पंख लिये चिड़िया के उड़ने की तरह, तिरछी होकर, हिलती-डुलती, घूमती-फिरती।

पानी में छुपा था कोई सीधा खड़ा बड़ा-सा काला पत्थर, उसपर किसी ज़माने में कोई पुरुष मूर्ति खुदी थी। मानो पुरुष पत्थर से निकल पड़ते-पड़ते ठहरकर खड़ा हो गया है, वैसे का वैसा। किसकी मूर्ति है उसकी कोई जानकारी नहीं। कोई कहता ये नन्दी हैं, कोई कहता ये कोई ऋषि हैं, कोई कहता ये बक्रेश्वर के पहरेदार हैं। परन्तु बहुत दिनों से लोगों ने उसपर सिन्दूर पोतना शुरू कर दिया, परत की परत। उनका कहना है कि यह ज्वर का देवता है जिसकी पूजा करने पर ज्वर छूट जाता है। उस सिन्दूर के नीचे कोई जुड़ी के रोगी का रूप है, सिर के बाल फरं फरं सूखे-रूखे। आँखें और गाल गड्ढों में धँसे, पतले-पतले हाथ-पैर, पेट फूला-फूला-सा। सच जैसे वह ज्वर से काँप रहा है, रोंगटे खड़े हुए हैं उसके। जगत्-भर का ज्वर उसने अपनी देह में लेकर

सबको अभय दान दिया है !

फूलदारा की नाव उसी ज्वर देवता की देह से ढाँय कर टकरा गयी थी। क्षति-ग्रस्त हो गयी थी, उसमें पानी घुस रहा था। उसी नाव में रवि था। नाव किनारे पर लगी। वे सब उतरकर जल्दी-जल्दी काम में लग गये। चीजें बाहर निकालकर रखी गयी। दो जन अनवरत चेष्टा करते रहे नाव से पानी निकालने की, वे पानी फेंक रहे थे। एक जगह छेद हो गया था। ठक-ठाक ठक-ठाक पट्टे की तली लगाकर काम शुरू हुआ। तेज हाथों से निधि रणा मांझी का काम करता जा रहा था।

कुछ समय गया। सूरज फिर ऊपर झुक गये। बाढ़ के पानी पर लाल आग की घाँस की तरह ताज खिल रहा था। सभी ओर एक नाव दिखाई पड़ी। वई मलिक ने कहा, "ये तो अपनी ही नाव है! सिरे पर वहाँ कौन खड़ा है? धोवेई मिश्र ही तो है?" उसने आवाज लगायी। वे भी इधर ही आ रहे हैं। रवि देखता रहा। आश्चर्य में भरकर नजर टिकाये रहा कि नाव में धोवेई मिश्र के पास है सिन्धु चौधरी, छवि। वे हँस रहे हैं। रोहीनाथ देख रहा है उसकी बस्ती का रघुनाथ और सदा गोछंइत भी है। चीन्हे, परिचित लोगों को देख उसका उत्साह बढ़ता जा रहा था। दूसरी ओर से ये लोग खुशी में हिल-डोल रहे थे। दूसरी नाव पास आती जा रही है। भेंटने-स्वागत करने की हलचल और उत्तेजना बढ़ती जा रही है। उसी के बीच रवि और छवि परस्पर की ओर देखते बैठे हैं। रवि की दृष्टि के भीतर नाव खिचती-सरकती चली आ रही है, पास और पास—और उसमें है छवि।

उत्तेजना से रवि की देह काँप उठती है। लगता है जैसे इस उजाड़ में वह खुद को नये सिरे से आविष्कार कर रहा है, दूसरों का उपकार कर नये समाज को गढ़ने के लिए खुद को उस विराट् उत्साह उद्दीपना में उसने बहा दिया जरूर है, पर वह भी साधारण आदमी ठहरा। छवि के प्रति जो उसकी कामना है—वही तो प्रेम है!

खुद को वह आंक रहा है। फिर धड़कन तेज हो रही है इस पल-भर की उत्तेजना से—स्वयं को भुलाये दे रहा है—फिर जब चिन्तन करने बैठता है तो सोचता है—मानो यह उसके जीवन का स्वाभाविक ढंग है, अपने को लेकर इस सत्य को वह नकार सकेगा नहीं! नाव पास आती जा रही है, वह इस लड़की को चाहता है, अन्तर में इसके साथ एक निविड़ सम्पर्क रखे बिना वह जी नहीं सकेगा, यह सम्पर्क चिरकाल का ठहरा। जब वह स्वयं अनुभव कर पाता है तो उसे लगता है कि उसके अन्दर है यह प्रेम।

उसके प्रति यह अपने एक दायित्व का अनुभव कर रहा है, क्यों इस दुःसाध्य के बीच विपद् में चली आयी! इतनी बाढ़-वरसा?

नाव कितनी तेजी से पास आ रही है, रवि को लग रहा है, जैसे ये आ गया उसका भाग्य। आ रहा है उसे खींच ले जाने के लिए, छाती धक्-धक् हो रही है। मुग्ध होकर देखते-देखते नाव किनारे आ लगी, उन सबने उसे नमस्कार किया, उसने

प्रत्युत्तर में हाथ जोड़े। इसी बीच धीमे से मुसकराकर उसके चेहरे की ओर देखकर छवि ने कहा, "जी, नमस्कार!" रवि ने सकपकाकर उत्तर में हाथ उठा लिये। उसे लगा जैसे उसकी छाती उलट पड़ेगी, अपने-आप को भूलकर छवि की आँखों की ओर देखने में लगा है, छवि की भ्रू-लताएँ शायद थिरक उठीं—वह सोच रहा था, और देख रहा था, छवि की सजल आँखों में धीरे-धीरे भर गयीं अचल प्रकाश की लहरें, और फिर तीर की तरह सनसनाती चली आयीं उसी की आँखों की ओर। वह विभोर हो गया, अवश हो गया, सलज्ज हो गया। उसने सिर झुका लिया।

फिर सिर उठाया तो देखा, छवि उसकी प्रतीक्षा कर रही है। इतने लोग रुके हुए हैं, इतनी बातें पड़ी हैं, पर छवि उसी की प्रतीक्षा में खड़ी है। उसकी ध्वनि में श्रद्धा, आँखों में कुतूहल, मुसकान भरकर शान्त-धैर्य दिखाती वह प्रतीक्षा में खड़ी है कि रवि शायद कुछ करने को अभी कहे, वह कोई आदेश देगा, सो उसके मुँह की ओर इसी प्रतीक्षा में देख रही है।

उसी के अपने व्यक्तित्व में से एक खण्ड है यह—छवि। अपना वही अधूरा अंश पूर्ण करेगा केवल उसी के द्वारा, तब वह शान्त होगा, सच जैसे उसी खण्ड को खोजते-फिरते यहाँ उसका सन्धान मिल गया हो, अतः उसकी दृष्टि वहाँ चिपक गयी है।

उसे लगा, यहाँ काम चल रहा है, वह खुद भी उस काम को कर रहा है, हाथ का काम, उपदेश। कितने हलके मन से वह बातें कह पा रहा है! मानो इस वर्तमान में कोई उत्तेजक बलकारक औषध खाकर हुलस उठा है। अत्यधिक आनन्द, उत्तेजना। परिस्थिति अति रुचिकर हो गयी है। उसकी दृष्टि और भी सतेज और प्रफुल्ल है, उसके भावों में और भी उदारता है, स्नेह और सहानुभूति है। कदम उछलते-से पड़ रहे हैं। उसके उत्साह से सब भर उठे हैं। वह कह रहा है—

"बाढ़ का प्रकोप प्रबल होता है, पर आदमी की शक्ति उससे भी बढ़कर है, जीते जी वैसी कितनी ही दुर्दशाएँ भोगनी पड़ती हैं, आखिरकार तो मरण है ही; परन्तु, आदमी जब स्नेह से मिलकर एक होता है, मरण भी उसे डरा नहीं सकता, फिर नदी की बाढ़ कौन-सी बड़ी बात है?"

धोबेई मिश्र ने हँसते-हँसते कहा, "उसी स्नेह के मेल से मुट्ठी मजबूत कर बाढ़ को भी छान-छानकर आदमी खोये-भटके लोगों को यहाँ खोज पा सका है, नहीं तो इतना भाग्य हमारा होता!"

रोहीनाथ ने हँसते-हँसते कहा, "भाग्य सारा तो मेरी इस घरवाली का है। पता नहीं इसे किसने आसीष दी थी, कि तेरी चूड़ी वज्र की हो, पत्थर की लकीर की तरह उसकी बात अटल रही, वैसे की वैसी ही रही, नहीं तो बाढ़ के पानी में हम दोनों पता नहीं कहाँ पहुँच जाते, और इतना बड़ा भाग्य होता कि हम लोग इन लोगों के दर्शन करते!"

रवि ने कहा, "वो देखो अब साँझ घिरने को आयी। चलनेवाले लोग अब

अपनी नाव में बैठे हैं, चले जायें। हमारी नाव को रात में रुकने के लिए कहा गया है। नाव के साथ मैं भी रुक रहा हूँ। हम सब कल सुबह जायेंगे।"

घोबेई मिश्र ने कहा, "आधे जाकर आधे रहेंगे, यह कभी हो सकता है, जी ?" अनेक ओरो द्वारा आपत्तियाँ उठने लगीं—"नहीं-नहीं-नहीं !"

घोबेई मिश्र ने मुड़कर सिन्धु चौधरी की ओर देखा। कहा, "नाव में आप चौधरीजो पधारें, आप की कन्या जायें, यहाँ जो ये दोनों जने मिले हैं, वे भी जायें, गाँववाले और जो लोग जायेंगे जायें। नाव उन्हें रातों रात पहुँचाकर फिर सुबह कल लौट आयेगी। तब हम सब जायेंगे।"

किसी ने जब कुछ न कहा, सिन्धु चौधरी ने आपत्ति की, "नहीं, सब रहेंगे, हम भी ठहर जायेंगे।"

रवि और घोबेई मिश्र ने आपत्ति की, पर बाकी लोगों ने सिन्धु चौधरी की बात का समर्थन किया। आखिर यह तय हुआ कि सब रुकेंगे। छवि अबतक चुप थी। घोबेई मिश्र की ओर मुँहकर बोली, "क्या सिर्फ़ हम ही लोगों के लिए इतने लोग हड़बड़ी करते। इतने निकम्मे हैं हम !"

सब हँस पड़े। घोबेई मिश्र ने कहा, "नहीं, नहीं, यह किसने कहा ? ठीक है, आप की ही बात रहे।"

हँसी-खुशी में सब बिखर गये। साँझ ढलते-ढलते, रात के लिए तैयार होना पड़ेगा। उधर नाव की मरम्मत करनी है। चल रही है निधि रणा की खटा-खट खट-खट। नाव के पास कुछ लोग रह गये, बाकी सब निकल पड़े टापू देखने के लिए। भोपा विकर्तन नहीं है, उसका काम किया रोहीनाथ और दूली ने। सच जैसे कि यह टापू इन दोनों के ही राज्य का है, और ये जितने लोग आये हैं सब इनके मेहमान हैं।

वक्रेश्वर के ईंट से बने देवल के सामने जहाँ कितने जमाने पहले की मूर्तियाँ सजावट की तरह रखी पड़ी हैं, वहाँ एक-एक मूर्ति देखने-दिखाने में लग गये दोनों लम्बे आदमी, आश्चर्य करने की, प्रशंसा करने की नाना आवाजें आने लगीं।

हर-पार्वती की मूर्ति को देखकर कुछ लोग पंक्ति बाँधे खड़े हैं। दोनों सिरों पर रवि और छवि उस अद्भुत मूर्ति को कोने से देखते-देखते दोनों की निगाहें मिल गयीं। छवि दीर्घ साँस छोड़कर काँप-सी उठी, सिर झुका लिया। रवि की देह में सिहरन-सी दौड़ गयी।

बई मलिक ने कहा, "यह देवता का योग सूत्र है। किस जमाने से यों ही पड़े हैं, आज हम यहाँ दीप जलायेंगे।"

रवि ने कहा, "पुराने पीठ पर दीप जलेगा नयी दुनिया का, यही तो हमें चाहिए। तुम जीवन की शालीनता को, बड़प्पन को, पत्थर पर शिल्पकला के रूप में आँककर चले गये। तब वास्तव में अपने जीवन में समाज में, वहाँ तक तुम उसे साध सके थे—यह तुम ही जानते हो। पत्थर पर इतनी बड़ी कला खोदने की, आँकने की हम

में शक्ति नहीं। हम खोजते हैं कि आदमी का जीवन ही सुख-शान्ति आनन्द उच्चादर्श की चिरन्तन कला हो, समग्र पृथ्वी हो जाये एक विराट् मानव-परिवार, सब आदमी भाई-भाई—"

घोंदेई मिश्र ने कहा, "ठीक, बिलकुल वही बात है। तुम्हारा देवल ढह गया है, सामलाती घर टूट गया है, सौ-सौ हजार-हजार बरस पीढ़ी-दर-पीढ़ी इस संसार में बिताकर जिस महान् सत्य को आविष्कार कर रख गये तुम, अपने उत्तरकालीन वंशधरों के लिए, वह सत्य कहीं धूलि में खो गया है। केवल हिंसा, वाद-विवाद, स्वार्थ, 'मैं—पन' रहा। हमारी इस छोटी-सी बाती को आशीर्वाद दो, बल दो, साहस दो। शान्ति आये, आदमी में, अन्दर-बाहर, समाज में, संसार में—सब जगह भरी रहे शान्ति, समन्वय, आनन्द और भाईचारा—"

लम्बा दधि अहीर अपनी देह को कन्धों को उचकाये मानो खुद को खींच-खींचकर और लम्बा-सीधा कर खड़ा हो रहा है। दोनों पैरों को सटा दिया था, उसके गोल-मटोल चौड़े कन्धे मानो आदमी के नहीं, पत्थर की मूर्ति के हैं। वैसे उस पत्थर की मूर्ति की तरह उसकी दोनों आँखें अधमुँदी टिमटिमा रही हैं। गद्गद होकर उसने कहा, "हूँ, इतनी दया करें ठाकुरजी, भाईचारा बढ़े, सामलाती बढ़ता रहे, एक के लिए दूसरे का हृदय रोता रहे। सब तुम्हारा, सब सबका, तेरे-मेरे के भेद-भाव की बातें आदमी के मुँह ही क्या सिर में भी न रहें।"

रवि ने कहा, "लोग खोज रहे हैं हजार देश, हम खोजते हैं सिर्फ एक। उसका नाम है पृथ्वी। लोग बना रहे हैं हजार-हजार जातियाँ, हम खोज रहे हैं सिर्फ एक जाति, उसका नाम है मानव-जाति। गढ़ी है असंख्य श्रेणियाँ, हम खोजते हैं सिर्फ एक श्रेणी रहे, उसका नाम मेहनतकश आदमी।"

गम्भीर होकर सब खड़े हैं। सिन्धु चौधरी ने खड़े-खड़े आँखें मींच ली हैं। अन्तर में जैसे कुछ हो गया है। बरसों में पायी गयी अनुभूति के पत्थरों के ढूह को हटा उलट-पलटकर उच्छरित हो रहा है मुक्ति पाया हुआ झरना। कितनी बार वह पुकारते-पुकारते रुक गया था, खुल गया है। स्वयं को आँक रहे हैं, नये विस्मय के साथ।

ऐसे तो स्वयं में आया था आलोड़न, क्या तब उसे रोक सका था ?

क्या हो गया है यहाँ ? कौन हैं ये लोग ? किस युग के हैं ? कौन बोल रहा है ?

न, यह कोई उपासना है ? नये युग की नयी पूजा ?

आँख खोलकर देखा। सूना द्वीप, दिन ढलने की उदासी-सी। रोशनी में आगे खड़े हैं घने पेड़, और भाँति-भाँति की मूर्तियाँ पड़ी हुई हैं। बगल में पेड़ों के झुरमुट के बीच एक मन्दिर है।

और साधारण से कुछ-एक लोग हैं।

उसी साधारण में से कुछ फूट निकल रहा है, अतीत के इतने युगों की तपस्या से तैयार आदमी, वह जीवन की बड़ाई करता है, जड़ की नहीं। स्नेह-शान्ति-आनन्द-

मन्त्री की बड़ाई करता है, स्वार्थ और प्राप्ति की नहीं। ये तो चल ही रहा है, और भी। धोवेई मिश्र कह रहे हैं, "किसने कहा था कि आदमी पहले पशु है फिर देवता। उसने ग़लत कहा था। किसने कहा था कि स्वार्थ, लोभ और हिंसा आदमी के निदान गुण हैं, दबे रह सकते हैं, मरते नहीं, मिटते नहीं—उसने ग़लत कहा था। आदमी बदलता-बदलता चल रहा है, दस्यु रत्नाकर हो गया है ऋषि वाल्मीकि। राजपुत्र हो गया है बुद्ध, युग-युग के सिद्ध सन्त बनकर आदमी ने दिखा दिया है कि यह भी सम्भव है। काँटेदार नागफनी अकण्टक हो सकी है। आदमी ज्ञान में बढ़ता ही चला जा रहा है, मारण के लिए नहीं, तारण के लिए।"

फिर सिन्धु चौधरी ने आँखें मींच लीं।

छवि देख रही थी—आग धधक रही है। जलाकर साफ किये दे रही है—जो कुछ कुसंस्कार था, संकोच था और शंका थी। आग की झलक में अनुभव कर रही है पवित्रता, आनन्द; अनुभव कर रही है कि वह एक अखण्ड तेज का स्रोत था, है, बढ़ता चलेगा, युग-युग तक।

हृदय के भीतर से आनन्द छलछला उठता है, झलक उठते हैं विश्वास, आशा और स्नेह। पहले जो रास्ता साँझ के अँधेरे झुरमुट में अस्पष्ट दिख रहा था, वह स्पष्ट दिख जाता है—चौड़ा, खुला, दूर तक चला गया है। उस रास्ते की भाषा हृदय से टकरा रही है। उद्वेग भर रही है, लुभा रही है।

वही भाषा बोल रहा है रवि। वह रवि की बात नहीं, उसी के मन की बात है, उसके मर्म भावों का निरन्तर स्रोत।

रवि कह रहा है—

"संसारी आदमी आनन्द खोजता है। अपने हाथों आनन्द के स्रोत का मुँह बन्द कर देता है। जब वह अपने-अपने लिए खुद सख्त खोल गढ़ता है, चारों ओर से बन्द कर गढ़ता है, तो वह पाता है अन्धकार। प्रकाश नहीं तमिस्रा। अपनी देह को, मन को, श्रम को, चिन्ता को सबका मंगल साधने के लिए उद्यम में लगा सके तो उसका जीवन होगा मधुमय, आनन्दमय, शान्तिमय—"

धोवेई मिश्र ने कहा, "आनन्द हमारा जन्मगत अधिकार है, आनन्द के लिए उपाय, दूसरों के मंगल के लिए चिन्तन और परिश्रम। पुराने चलन को केवल पुराना होने के कारण आदमी उसका सम्मान नहीं करेगा। नये चलन को नया जानकर ही उसका आदर नहीं कर सकेगा। वह सोचेगा, स्थिर करेगा, काम करेगा, पुरानी क्यारी में स्वतः नया शस्य अंकुरित होगा, उसी का नाम युग-परिवर्तन है। विचार हों विप्लवी, बुद्धि जो निर्देश देगी, हाथ केवल वही काम करेंगे—"

सिन्धु चौधरी ने कहा, "तुम्हारा आदर्श अक्षय हो, बेटे! तुम्हारा उद्यम सिद्ध हो। बुद्धि ने निर्देश दिया है बारम्बार, परन्तु हाथों ने काम किया नहीं। पैर चले नहीं। हम युगों के बाद युगों तक निरन्तर न्याय, नीति, तत्त्व की खेती करते-करते

पसीना-पसीना हो रहे हैं, मुँह तक सूखा है, प्राण के एक पत्ते को भी निराशा नहीं। मेरा जीवन क्या है—अपने इस निठल्ले बेकाम उजड़े जीवन के बारे में उपसंहार के रूप में बस इतना ही कहूँगा—।"

उनकी इस आन्तरिकता से सब अभिभूत हो पड़े थे। उनके पास जाकर उनका हाथ पकड़कर छवि ने धीरे से कहा, "बापू!"

गम्भीर विषण्ण चेहरे पर हँसी खिलाकर कहा, "क्या हुआ, बेटी?" उनका स्वर काँप रहा था।

छवि ने कहा, "ऐसा क्यों कह रहे हो, बापू?"

"क्या कहा? ठीक ही तो कहा।"

अब की बार बोला रोहीनाथ, "आपका जीवन अगर बेकाम रहा तो किसका जीवन काम का रहा, सामन्तजी? सात गाम के गाँवों में, पूछ लें, कोई दूसरी बात कहेगा? किसी के घर पर अशान्ति पैदा होने पर आपके मुख से दो शब्द सुनकर हृदय शीतल हो जाता है। कौन है जो कहेगा कि उसने आपसे कुछ नहीं पाया, नहीं लिया; कभी तो लिया ही होगा। धन-द्रव्य चुकने पर भी मुँह की मीठी बातें। बस इसी मूर्ति का ध्यान करते हुए तो लोग मन ही मन बल पाते हैं—।"

सिन्धु चौधरी बोले, "मैंने कुछ नहीं दिया, मैंने किसी का कुछ नहीं किया—"

रोहीनाथ कहते गये, मानो उनकी बात सुनी न हो, "पराये के लिए चिन्ता करते जब पूरा नहीं हुआ, सामन्तजी तो अन्त में आपने पराये लड़कों को आदमी बनाने के लिए चटसाल खोली, कौन है जो कहेगा कि उसने आपसे कुछ नहीं पाया?"

और दूल ने कहा, "इतनी बड़ी बाढ़ में जीवन की बाजी लगाकर हमारे जैसे मरे-गये लोगों को खोजने दौड़े आये आप स्वयं! आपके हृदय में साक्षात् बैकुण्ठ है।"

दधि अहीर ने कहा, "तुलसी अगर अपने पैरों चलकर किसी के दरवाजे न गयी तो क्या मन में बुरा करेगी कि वह तुलसी नहीं है! कोई करता है, कोई कराता है, किसी को देखने पर करने को मन होता है, सब घट में जो ब्रह्म को जानता है, उसके लिए जीवन होगा असार!"

बई मलिक ने कहा, "आप बुद्धिमान् आदमी ठहरे, आप हैं गुरजन! ठाकुरजी बनकर केवल खटोले में बैठे रहने भर से ही हमारा साहस कितना बढ़ जायेगा। हमारे विचार, हमारा रास्ता, आपको अगर अच्छा लगे तो लीजिए आप यह भार, घर के मुखिया बनें—हम निश्चिन्त होंगे।"

"वाह-वाह-वाह, रे बई भाई! वही तो चाह रहे हैं!"

सिन्धु चौधरी अकबकाये चारों ओर देख रहे थे, और कोई चारा न देखकर बोले, "मैं-मैं—"

"हाँ आप!", धोबेई मिश्र ने कहा, "पुराना नये को ग्रहण कर ले, दोनों मिलकर बनेंगे परम्परा। संस्कृति की यही तो रीति है। विवर्तन में ध्वंस नहीं,

परिवर्तन है।"

सिन्धु चौधरी के उस व्यक्तित्व के अन्दर कहीं गोपन में भी कुछ था। लोग जिसे सिन्धु चौधरी के नाम से जानते थे, परिचित थे, उसी की ओट में कहीं कुछ छुपा था जिसका अपना स्वतन्त्र परिसर था। वह दूसरों की आँखों से ओझल था। मानो उसने वहीं आत्मप्रकाश किया था, फिर चेष्टा कर रहा था पुनः छुप जाने की। मानो मूल से पल-भर के लिए बाहर चला आया था अपने अनजाने ही, वैसे ही वह सुप्त हो जायेगा, बाहर तो वही रोज का परिचित, पानी की सतह की तरह नित-देखा आदमी, परिवेश का प्रतिबिम्ब वह अपने में झिलाकर दिखायेगा, अपना गहन तल अप्रकाशित रहेगा, छुपा-छुपा, अनजाना।

परन्तु ठीक इसी समय मानो बाहरी लोग उसे पकड़ रखने को व्यग्र हैं। वे पकड़े गये हैं, वह और छुप नहीं सकेंगे।

मुग्ध दृष्टि से जब छवि उनकी ओर देख रही थी, जम्बू चेहेरा ने अपनी उन्मुक्त भाषा में कह दिया, "अब और अपने साथ आँख-मिचौली की जरूरत नहीं साआन्तजी। कितने दिन का है यह मानव जीवन ? इसमें डर किसका, भय किससे ? मन पुकारता है कि यह रास्ता अच्छा है—तो चलने दो उसी रास्ते नाव को।"

हँस पड़े सिन्धु चौधरी। इधर-उधर लोगों के चेहरों पर नजर घुमायी। अपने ही कानों को अपनी आवाज मानो नयी लग रही थी। कहा, "अरे—ये सब—तुम लोग यह क्या कह रहे हो ? मैं कौन-सी चीज हूँ ?—मुझसे एक तिनका भी टूटनेवाला है क्या ?"

उत्साह में भरे सिन्धु चौधरी कहते गये, "नहीं-नहीं, तुम्हारी तरह मैं भी एक हूँ, मेरे हाथ-पैर थके नहीं, आँखों पर जाला छाया नहीं, अब भी मैं खोज रहा हूँ सुख, आनन्द, इस संसार से लोभ कटा नहीं। ठाकुरजी बनकर खटोले पर बैठने से तो आदमी मरा समान समझो, और नहीं तो क्या ? मैं मरा नहीं, मैं भी तुम्हारे साथ होकर चलूँगा, गिरूँगा, उठूँगा। जिस रास्ते इस पृथ्वी को सुख-आनन्द मिले—वही रास्ता मेरा है, मैं कुछ करूँ या न करूँ। तुम्हें आशीर्वाद देता रहूँगा, ठोकर खाते रहो, गिरते-पड़ते रहो, परन्तु थको नहीं, फिर उठते रहो, लगे रहो!"

प्रकाश धीरे-धीरे बुझता आ रहा है, अब होगी साँझ, किस जमाने का वह पुराना ईंट का बना मन्दिर छाया में घुलकर दिख रहा है कितना बड़ा, मानो इतने जमाने का हवा-पानी और शून्य की अनुभूति से मण्डित होकर वह विस्तार पा गया है। दूर से भी उसके स्पर्श का अनुभव किया जा सकता है। और ये बेशुमार पेड़, ये अनगिनत मूर्तियाँ जो उस अन्धकार में एक साथ हिल-मिल गयी हैं, सब एक जगह मिलकर जैसे एक सजीव व्यक्तित्व है। जिसकी कोई उमर नहीं, ऐसा व्यक्तित्व है।

जब काम आरम्भ ही किया था, ऐसे ही एक दिन आये थे बूढ़े नन्द तहसीलदार, बाद में और कहीं देखी उसने यह दृष्टि।

बरसा नहीं, आकाश कितना लिपा-पुता साफ़ है। चाँदनी सचमुच जैसे पानी में घुलकर पेड़-पौधों, धरती-झाड़ सब जगह लगी हुई है। टीले के कगार पर एक जगह दोनों नावें बँधी हैं, पेड़ों की ओट के कारण दिख नहीं रहीं। आवाज़ सुनाई पड़ रही है, कोई कुछ बतिया रहे हैं। अचानक निधि रणा का गीत सुनाई पड़ा। नाव पर चित लेटे आकाश को देखते यह ओड़िशी छन्दमाला बिखेरे हुए है। कानों से सुने संगीत में से होकर आ रहा है—नया रूप, नयी अनुभूति, नया भाव, देखी-परखी स्थूलता में बँधा हुआ नहीं। उस नये परिवेश में से नयी वाणी निकल रही है—कि जीवन आनन्दमय है, उसका आसरा शान्ति, स्नेह और विश्वास है।

मिली-जुली फूलों की महक तैरती आ रही है—केवड़ा, मालती, चम्पा, काठ-चम्पा। देवल के आगे जो थोड़ी-सी खुली जगह है वहाँ काठचम्पा की पीठ कर, थोड़ा-थोड़ा हटकर ताड़-पत्तों से दो कुटिया तैयार हुई हैं। एक छोटी, उसमें छवि और दूल सोयेंगी। दूसरी खूब लम्बी बनायी गयी है, उसमें और लोग रात बितायेंगे। कितने जमाने के बाद आज देवल के द्वार पर दीप जल रहा है। उसके इधर भोजन पकाना चल रहा है, आग जल रही है, मानो सचमुच कोई महोत्सव होगा। एक घर-परिवार की तरह सब हिल-मिल गये हैं।

वहाँ से ही तो, अधिक दूर नहीं। केवल वह देवल जगत्-भर को ओट में लिये खड़ा है। उसकी पीठ पीछे अमरूद के तले खड़ी हो चौंककर छवि ने देखा, उधर तनिक हटकर खड़ा है रवि।

दोनों ने एक-दूसरे को एक साथ देखा। ठीक इसी समय इस जगह अकस्मात् यों भेंट कराने के लिए स्वतः मानो उनके अन्दर की प्रवणता उन्हें इधर खींच लायी है। यह मानो सच नहीं, जो स्वप्न बीच-बीच में इस संसार में दोनों आदमियों को एक जगह करता रहा, वह फिर वैसा ही है। परन्तु तब छवि अनेक प्रश्न पूछती, उत्तर पाती। यहाँ वे प्रश्न नहीं हैं, वहाँ आनन्द से उत्तेजना से वह जैसे मूर्ति बन गयी है, उसके हाथ-पैर भी मानो अन्दर खिंच जायेंगे, देह और चेहरे की भंगिमा बदली-बदली अपरिचित-सी हो जायेगी; साधारण संसारी दृष्टि से सुन्दर-असुन्दर कहने को साधारण आदमी जो माप जो मानदण्ड लेकर आँकता है, उससे नापा न जा सकेगा।

रवि उसके पास खिंचता-सा आकर खड़ा हो गया। वह सोच-विचारकर नहीं आया, बस विह्वल होकर चला आया। उसके मन में पवित्रता-अपवित्रता का द्वन्द्व नहीं उठा, उद्देश्य या लक्ष्य का अनुभव नहीं किया। बस आने का अनुभव किया है, और चला आया है।

प्राचीन देवल के पिछवाड़े उसी प्राचीन स्थल पर परस्पर की ओर दिखते चुप-चाप खड़े हैं दो व्यक्ति। वे भी मानो उसी देवल के आलों से उठकर आयी दो मूर्तियाँ

हों, चांदनी और पेड़ों की छाया ने रिस-रिसकर, बूंदें बनकर उन्हें चित्रित कर जैसे एक नया रूप दिया है, परन्तु कोई किसी को आकृति या अवयव देख नहीं पाता। दो प्राणी सान्निध्य का अनुभव कर रहे हैं, दो भावरूप छाया की तरह कुछ-कुछ परिसर लिये पास-पास थमे हुए हैं, परस्पर को ओर बढ़ रहे हैं दो इतिहास, बीच में योग-सूत्र स्पष्ट दिखाई पड़े, वैसा नहीं है।

उनके व्यवहार में कुछ असहज न था। आँखों को अटपटा नहीं लग रहा था। यह सुनसान द्वीप, यह चाँदनी रात, इस पुराने परिवेश के साथ मेल खाता देवल, पेड़, ठूंठ, टीला-ढलान की तरह इतनी माया के रूप में वे भी यहाँ बिलकुल स्वाभाविक हैं। किसी में कहीं भी कुण्ठा नहीं।

मानो नींद टूटती आती हो। सपना—सच, सच सपने को चेतना का अनुभव कर रहे थे। कलौंसी सरसों-फूली चांदनी रात, बाढ़ के पानी पर कुहासे का आवरण, उसके इधर चमकता-चमकता फिर अँधेरा-अँधेरा बाग-बगीचे की तरह का टीला। दूर से आता निधि रणा का गीत उनके कानों में टकराया। विभिन्न फूलों की हलकी भीगी महक उन्होंने अनुभव की थी, फिर उसके बीच खाना पकाने की धुआँ की गन्ध, उस ओर की बात-चीत के शब्द। देह में सिहरन भरने से पूर्व वे शान्त होकर सामने की ओर देखते खड़े रहे। उस सान्निध्य के वे किस जमाने से अभ्यस्त हैं। साधारण घर-गिरस्ती का ही स्वाभाविक चलन है। एक ही काम पर दोनों जाकर फिर साँझ ढले लौटे हैं एक ही जगह। पूछने को कुछ न हो, कहने को कुछ न हो।

बाद में वह चेतना भी पिछड़ गयी, मानो आँखों के आगे समूचा पट खुलता जा रहा हो। उधर से कितनी ही बात-चीत की हलचल हुई, वह हलचल पहले से ही थी; परन्तु नयी होकर अनुभूत हुई। छवि ने विस्मय से देखा, जैसे रवि उस ओर खिंचा जा रहा है, तनकर छावनी की ओर लौटता जा रहा है।

छवि की छाती धड़कने लगी। अमरूद के पेड़ के सहारे टिके ही उसने आँखें मींच लीं। अनुभव हुआ जैसे देह लड़खड़ा जायेगी, उसका सिर चकरा रहा है, देह काँप रही है।

चौंक से हड़बड़ाकर खड़ी हो गयी। अत्यन्त उद्वेग से क्षोभ में भर उसने याद किया। चंचल-सी होकर कहा—यह क्या हुआ? वह पूछ भी न सकी!...."क्या कहते हो बोलो! चुप क्यों हो? बोलो, मेरे जीवन का क्या होगा? क्या कहते हो?...." पर एक शब्द भी न पूछ सकी वह! अथच वह आया था, प्रतीक्षा की थी, और फिर वह चला गया!

उसकी आँखों में विन्दु झिलमिला आये, लुढ़कने लगे। गाल भीग गये। आँख पोंछते-पोंछते उसने परिस्थिति की ओर देखा—कितनी चमचमाती चांदनी रात, कितना सुनसान, कोई कहीं नहीं। देवल के इधर यह विचित्र सोयी दुनिया, कितने ही लोग तो थे, वे सब सो चुके हैं शायद। बगीचे का हलका-हलका झुरमुट खड़े-खड़े सो चुका है,

उसपर रुपहली चाँदनी। लग रहा है जैसे किसी चादर से ढाँप दिया गया हो। यह दूर सोयी दुनिया के खर्राटे की आवाज सुन रही है। सब लग रहा है विचित्र, केवल माया-स्वप्न। सब सो चुके हैं, जाग रही है तो वह स्वयं—अकेली। कान लगा रही है। उधर से हलचल की आवाज सुनाई पड़ रही है, दो दुनिया, पास-पास, प्रकाश और छाया मिलकर रहने की तरह।

सचमुच क्या वह सपना देख रही थी? फिर सब याद आ जाता है। चंचल-सी मुड़कर वह भी लौट चली। इस बाढ़ में से जैसे कोई अजीब लहर आयी थी, वह जैसे समूची चाँदनी-जैसी हो, उसे कितने ऊँचे उठा गयी। ना, वह लहर उसे छोड़कर नहीं गयी, वह स्वयं समूची लहर है, सारा आनन्द है।

वह चिड़िया की तरह फुदकती चली आयी। छावनी के पास पहुँचने तक उसे लगा जैसे वह आकाश से माटी पर उतर आयी है। फिर मन के अन्दर अटूट प्रश्न का उलझा तार...कि क्या हो गया! वह पूछ भी तो नहीं सकी!

"ओह, किधर थी, मैं तो चारों ओर खोज आयी!" दूल कह रही थी, मर्दों ने आज हण्डी सँभाली है तो पास भी फटकने नहीं देते। वह जो माँझी है न, बहुत बातूनी है। क्या कहता है, सुना तो? आदमी कितना हँसे! कहता है, देखना ठहरो, ऐसी सुवादी रसोई तुम लोगों ने कभी खायी ही न होगी, हाथ चाटते रहोगे! बड़े आये! सच री, तुम कहाँ थी, कितनी देर हुई ढूँढते-ढूँढते!"

छवि ने हँसते-हँसते दूल को बाँहों में भर लिया और उसके मुँह से मुँह सटा दिया। "देख, देख!" कहते-कहते दूल ने भी उसे भर लिया। छवि अकारण ही उसे बार-बार भींच रही थी, सच जैसे वह उसकी किसी जनम की सहेली हो, अथच एक गाँव की होने पर भी जोगी-बस्ती या उससे आगे कभी जा न सकी, या कभी दूल को देख न सकी, उसे पहचानती तक न थी। वे सचमुच जैसे चन्द्रमा पर पृथ्वी के आदमी हों, कोई किस प्रान्त का है, पर वहाँ वे सब एक गाँव के हैं—उस गाँव का नाम है पृथ्वी।

उसके लाड़-भरे आदर को दूल ने उसके मुक्त मन का अकपट स्नेह मानकर ग्रहण किया। वह कृतज्ञ थी, गौरव का अनुभव कर रही थी। स्नेह में बहकर उसकी इच्छा हो रही थी कि ऐसा कोई रास्ता दिख जाता जिससे वह छवि का कुछ उपकार कर उसकी आत्मा को सन्तोष देती।

परन्तु छवि दूल को दूल जानते-समझते भी उसपर इतना उल्लास उँड़ेल रही थी सो नहीं, वह लहर की तरह फूल उठी थी, लहर की तरह ढुलक पड़ रही थी।

दूल के पास से हटकर वह पिता को खोजने चल पड़ी। आग के पास वे समूह के अन्दर बैठे हैं। चूल्हे की धौंस ललाई पोतती किसी-किसी के चेहरे पर कहीं-कहीं लगी है।

बगल लिये बैठा था रवि। आग की लाल धौंस उसके माथे पर पड़ रही थी।

छवि को देख एक सरल हँसी हँस उसके चेहरे की ओर ताकने लगा। छवि ने मुँह फेर लिया और देवल के दरवाजे की ओर देखने लगी। छवि की दृष्टि का अनुसरण करते हुए रवि भी उधर ही देखने लगा। दीप उज्ज्वल होकर जल रहा है, दीप-शिखा धमकती-सी नाच रही है।

छवि देखती रही। देवल का मुँह खुला पड़ा है। दीप जल रहा है। कहाँ है उसके प्रश्न का उत्तर ?

उसी भीड़ के बीच से सिन्धु चौधरी ने कहा, "मना कर रहा था, चली आयी, उधर तेरी माँ को आज नींद नहीं आयेगी।"

छवि को अपनी माँ की याद आ गयी।

लगा, जैसे अनजाने वह कोई दोष कर चुकी है, मुड़कर देखा, रवि उसी की ओर दृष्टि किये है। सिर झुकाये उसने दुर्बल कण्ठ में पिता की बात का उत्तर दिया, "मैं क्या जानती थी !"

सिन्धु चौधरी ने कहा, "तभी तो बड़े बुजुर्गों की बात माननी पड़ती है ! यह जो मौसम, यह जो बाढ़, घर से पैर निकाल नाव चढ़ यहाँ आकर—घर पर कितने चैन से खा-पीकर सोयी रहती !"

छवि का मन कहीं और था। उसकी छाती में धुक-धुकी हो रही थी, सच जैसे उसके अन्तर के समुद्र में चाँद उग आया है। बस इतना याद था कि रवि उसे देख रहा है। पिता की बात के अन्तिम कुछ शब्द मानो वहाँ ज्वार पर कुछ अवान्तर असामंजस्य-पदार्थ की तरह पड़ गया हो। अति उल्लास में उच्छरित होकर उस अवांछित पदार्थ को कूल पर फेंक देने की तरह उसने कहा, "अब और कौन-सी असुविधा हो गयी ? घर के कोने में बैठे रहने पर ऐसा दिन कभी देखने को मिलता ? यह तो मानो कोई मेला-त्योहार हो गया !"

क्या कुछ उसके मुँह से निकल गया, वह रोक न सकी। बाद में उसने सुना, सब हँस रहे हैं। अपने पिता की हँसी वह साफ पहचान रही है, वह निरीह खुले मन की अबाध हँसी ! रवि हँस रहा है, उसने देखा। उसकी बात को सब जैसे कौतुक-सी समझ रहे हैं। और फिर वह लजा-सी गयी।

रवि के साथ आमने-सामने बात करने की उसे जरूरत नहीं पड़ी। शायद कभी अवसर आ न जाये, वह डर रही थी। उसका मन चंचल हो रहा था। जरा कहीं कुछ खड़ की आवाज होती तो वह चौंक पड़ती। भोजन का समय हो गया था। दूल के साथ वह परोस रही थी। पहली बार परोसकर दूल रसोई के पास चली गयी थी। छवि ने देखा, रवि की पत्तल खाली पड़ी है, दूल जरूर आयेगी, शायद आती ही होगी। परन्तु रवि खाली पत्ते के पास बैठा है, और पत्ते पर अँगुली से लकीरें खींच रहा है। उसके मन में तनिक दुख हुआ। पास जाकर खड़ी हो गयी, फिर झुककर फिसफिसाती आवाज में पूछ बैठी, "और कुछ दूँ ?"

रवि के पास बई मलिक और उसके पास रोहीनाथ बैठे खा रहे थे। उन्होंने भी उसकी ओर देखा। रवि ने सिर को पीछे झटक लिया। उसके माथे पर से दो-चार लटें पीछे की ओर छिटक गयी।

रवि ने कहा, "और क्या होगा?"

छवि जैसे ज़िद करती हुई बोली, "थोड़ा-सा और!"

रवि ने कहा, "अच्छा तो दो, जो देना हो।"

उसने उससे बात की। छवि वहाँ से दो छलाँग भर मुड़ आयी। वसन्त के प्रारम्भ में रात बीतने पर कभी ऊष्म, कभी सिहरन लगने की तरह उसे बहुत लाज-संकोच हो रहा था, फिर कभी उत्साह के आवेग में जैसे पैर जमीन पर नहीं पड़ रहे थे।

वह जी-भर रवि के पत्ते में भात, दाल, तरकारी और खटाई उँड़ेलती जा रही थी। कभी कुछ अधिक हो जाता तो रवि हाथ बढ़ाकर 'नहीं-नहीं' करता, रोकने के लिए, तभी मानो उसका उत्साह दूना हो जाता।

खाना-पीना हो गया। सोने के लिए जाने से पूर्व सब एक जगह घेरकर बैठ गये। छवि का सकोच टूट चुका था। दूल और वह उस भीड़ के बाहर एक ओर बैठी रही। बीच-बीच मे इधर-उधर की गप्पें चलती। मानो वे एक गाँव के एक डीह के आदमी हैं, ऐसे कितनी बार आँगन में बैठकर बढ़ती रात को देखा है, अनुभव किया है, रात की आवाज सुनी है। उस एक समन्वय में मिला दिया है उसने अपने नि.श्वास का शब्द, कई ससक, कितने लोचों में खेलता फिर रहा था नाना कण्ठों से निकला भाषा या संगीत। उसी संगीत में कभी किसी के घर के बच्चे की रुलाई मिल गयी है, कभी अँधेरे से किसी बुढ़िया की खाँसी, कभी गाय का रँभाना।

वैसे ही तो यहाँ भी—छवि को अनुभव हो रहा था जैसे वह घर ही घर में है। छाती के अन्दर धक-धक हो रही है, खुशी की एक उत्तेजना उसके अन्दर दबी हुई है, कभी-कभी बिजली की तरह उसकी चमक एड़ी से चोटी तक चौंकाकर फैल जाती है, देह थर्रा रही है, कभी-कभी थम जाती है। सिर में मोह फैला है, लगता है जैसे उसे नींद घेर रही है, और फिर वह अनुभव कर रही है मानो उसकी आँखें खुली ही तो थी, वह सोयी नही, जाग रही है।

बचपन में गुरु की माँ कोई कहानी कहा करती थी। गुरु की माँ नही, डीह में और कोई बुढ़िया थी। याद आ जाते हैं उसके लम्बे कान, जैसे कि मोम से बने हों, वैसे कुत्थई रंग के, नीचे-ऊपर के किनारे झूल गये थे, उन्ही कानो पर जूट की तरह घने सारे बाल मटियाले, हवा में फरफर उड रहे थे। और याद आती है एक छोटी नाक, उसका सिरा मोटा, कितना निरीह, कितना स्नेह दिखता, मान-सम्मान नही चाहिए, या कि मेरी तरफ से कोई कुछ करे-धरे। कहानी कहती जाती—बस वही उसका आनन्द।

और उसके साथ-साथ तैर आयी दो आँखें।

वह किसी राजकुमार की बात थी, उसका पक्षीराज घोड़ा, घोर वन के अन्दर कोई पुता शिव मन्दिर, पास में पत्थर काटकर बनायी बड़ी पोखरी, काँच की तरह थिर-साफ पानी। सीढ़ियों के पास नागेश्वर का पेड़, फूलों से लदा खड़ा था। पोखर में कमल खिले थे, कमलों पर भौंरे मँडरा रहे थे, झुण्ड के झुण्ड कनेर के फूल लदे, जाल की तरह पेड़ों की कतार पोखरी पर झूल रही थी। पोखरी में कमल के फूल, कमल की कलियाँ हटाते-हटाते, कमल के पत्ते टालते-टालते दल के दल राजहंस तैर रहे थे। सूरज उगते आ रहे थे। सीढ़ियों से राजकुमारी ऊपर उठ रही थी। उसके चेहरे के चारों ओर भँवरे मँडरा रहे थे। पीठ की ओर उसके घने घुँघराले बाल लटक रहे थे, टखनों तक। चोवा, चन्दन, मेथी, अगरु, खस की जड़, गुग्गल की महक बिखर रही थी। उसके माथे के बालों से सुगन्धित जल चू रहा था, कुकुरमुत्ते की तरह गरदन उचकाये सफेद छोटे-छोटे हंस पानी पीने के लिए उसके पैरों के पास घेरते हुए-से चल रहे थे।

तभी उसने देखा जैसे पक्षीराज आकाश से नीचे उतर रहा है, राजकुमार उतरा। सच, जैसे वह द्वितीय सूर्य हो, मानो राजकुमारी को ताव छू गया, वह झुलसने लगी हो, कुछ उसी तरह झुकी-सी खड़ी रह गयी।

और फिर—

रवि बैठा है। वे लोग बैठे हैं। कोई कुछ बात कह रहा है। कान देने को मन करता है। कभी-कभी एक-एक बात छवि के दिमाग में भर रही है। बाढ़। मही दलपति। बाढ़ की लपेट में आये लोगों का रख-रखाव। खेती। गाँव का गढ़ना। चीन। अमेरिका। रूस। दक्षिण अफ्रीका। भागवत। तेल की घानी। महात्मा गान्धी। एक पृथ्वी। एक परिवार।

फिर-फिरकर मोह घिरता आ रहा है। फिर जैसे चाँव से चौंका गया। पक्षीराज घोड़े पर चढ़कर राजकुमार उड़ जायेगा क्या?

साथ राजकुमारी को घोड़े पर चढ़ाकर उड़ेगा तो!

साँस रोके ऊपर की ओर ताक रही है। वर्षा छूट गयी है। कहीं दूर ही दूर हटकर खण्ड-खण्ड काले-काले मेघ तैर रहे हैं, किसी क़तार में सफेद, नारंगी, बीच-बीच में से बड़ा चिकना आकाश। चाँद झिलमिला रहा है। कलौंसे रंग के साफ़ काँच पर चाँदनी पड़ रही है। धुँधला चाँद। प्रकाश और अँधेरा घुलकर ऊपर से नीचे बरसाता जा रहा है, उसपर इतने रूप-रंग बिखरे हैं। यह आदमियों की छोटी-सी भीड़, उधर पुराना देवल, खम्भे-खम्भे लगा यह घना बरगद, एक-एक ये इतने पेड़, ठूह। जमीन की ढलान। जो आदमी नहीं, वह भी मानो आदमी की तरह दिख रहा है। उसपर भी पता नहीं कोई भाव खिल रहा है। पुराना देवल मानो प्राचीन काल का दादा-परदादा हो, बड़े गाँव की तरह—उसके विस्तृत वंश की सुख-दुख की चिन्ता में ग्रस्त होने का

भाव ! उसकी यह ध्यानस्थ-सी अवस्था संसारी-सी लगती है। और यह जो बरगद है, एक ओर पसर गया है, उस जुग की बुढ़िया दादी की तरह हाथ-पैर पसार गोद में किसी को सुलाये हुए है—कितने तेल-हल्दी लगा चुकी है, रात-रात-भर उजागर रहकर कितनी सेवा की है। सेवा में लोटती माँ की मूर्ति। अपना सब कुछ देकर पालती है, बढ़ाती है, उसका धीरज टूटता नहीं, आग्रह मुरझाता नहीं। बिलकुल उसकी अपनी माँ की तरह।

और छन् से माँ याद आ गयी, जैसे वह बार-बार याद आयी है, और वह मन ही मन उस उजाड से उड़ती चली गयी अपने गाँव, पाटेली गाँव को। क्या होगा? गुरु की माँ समझाती होगी। बस्ती की और भी कौन-कौन आयी होगी....आज उसकी माँ की एक विह्वल रात....।

उसने गहरी-गहरी साँस खींचकर भीगी-भीगी मालती की महक अपने अन्दर भर ली। पीठ की ओर धरती पर दोनों हाथ टिकाये बैठी वह आकाश की ओर निहारती रही। और फिर उसके कानों से टकराया कि दूर कहीं चिड़ियों का जोड़ा कितने मीठे स्वर में एक-दूसरे को बुला रहा है। उसे लगा जैसे वह अपने घर से बहुत दूर चली गयी है। उसे दिख रहा है सुबह जैसे छान से झूलती उसकी माँ की साड़ी सूख रही है, और छान के ऊपर पास-पास कई कद्दू के फूल खिले हैं, सिरे के उस ओर पुआल के ढेर में कुकुरमुत्ते उग आये हैं, करेले की घनी छायी लतर की बाड़ के उधर बड़े-बड़े भिण्डी के फूलों से भरा पौधा खड़ा है। कुछ-कुछ बगीचे की छत की तरह हो गया है। धब्बे-धब्बे-सी नारियल की फुनगियों की छाया, कुछ परिचित घरों पर भी, दूर और दूर होती जा रही है, वह हटती जा रही है। और लगता है जैसे सब जगह वही घर है, वैसा ही सुख-दुखवाला आदमी, वैसी है माँ। सब जगह वैसे ही स्नेह के भूखे आदमियों के चेहरे, सबके घर की-सी बेटी वह स्वयं!

कितनी विशाल है यह सृष्टि, यह आकाश, यह व्याप्ति—जिसका कोई अन्त नहीं।

यह नन्ही-सी बदली अचानक कहीं से उड़ी आ पहुँची है, ठीक उसके माथे पर। देखते ही देखते बढ़ उठी है, भर रही है। कितनी झीनी है उसकी साड़ी। वह पोशाक काली, लाल, हलद, नीली, नारंगी, कितने रंगों से चित्रित हुई है। अरी लगी बाँकी-बाँकी परतें हिल रही हैं। इतने क्षणों के पूर्ण यौवन से उसकी देह उस पतले आवरण की ओट से धकेल-धकेलकर बाहर आ रही है, उसमें तेज फैल रहा है। चन्द्रमा के साथ वह रूप की होड़ लगा रहा है, कैसे समान होगा चन्द्रमा उसके, चन्द्रमा तो एक ही वर्ण का किंचित् तेज है, और बीच में वह अबोध-विस्मय है, वह जो ज़रा-सा काला चिह्न है। इस दाग रंग-रंग में झूलती माथे की मणि की तरह यह भरी बदली ही श्रेष्ठ, आकाश की रानी है। और फिर एक ओर बहती जाती है, पहले उसका नाम-पता तक न था, बढ़ती-चढ़ती आ रही है, पहलीवाली से बड़ी-चढ़ी। पहलीवाली का रूप

बदल गया, प्रौढ़ा, नहीं, वृद्धा। देह लरज-लरज रही है, कोई विशिष्टता नहीं, और वह मिल गयी कहीं, विस्तृति के काले अन्धकार की तरह वह उधर जो थमी हुई नदी पसरी है, काले मेघों की नदी, उसी में कहीं।

बाद में आकाशी-परी बरसकर झर जायेगी, गिर पड़ेगी। अकेली वही नहीं, वैसे कितने बादल, वही बरसा तो सार है। न पाने का लोभ, और न कोई परिचय-प्राप्त। बस एक उद्देश्य कि सेवा और करुणा में सब उँड़ेल देते होंगे। ऐसा दान देना ही तो जीवन है।

कुण्ठा नहीं, क्षोभ नहीं, क्लान्ति नहीं। रुकना नहीं, केवल मन की खुशी में विपुल आग्रह से अपना सारा बल, सारा सम्बल, सारी सेवा, सारी सुरभि, सारे कल्याणकर गुण इस संसार के मंगल के लिए उँड़ेलकर खुद निरिच्छ हो जाना—

यही तो जीवन है।

अवश्य वह नन्ही बदली स्वयं को उसी तरह उँड़ेल देगी।

उसका कण-कण टूटकर गिर पड़ेगा कहीं का कहीं; कितनी घास के रस पर, कितने फूलों की पंखुड़ियों पर, कितने जीवन्त प्राणियों की देह पर। किसी के गढ़ने, किसी के बढ़ने में कहीं कुछ सहायक होगी, अथच कोई उसे पहचानेगा नहीं या जानेगा नहीं। उसी में उसकी सार्थकता है!

किनारे पर पत्थर के टीले से नदी में छलाँग लगाने की तरह वह अपने मन के उस भाव रूप में रह अति उल्लास से छपाक् से बात के झरने में कूद पड़ी। उस समय चौबेई मिश्र चर्चा के अन्त में दुनिया की परिस्थिति को लेकर उपसंहार कर रहे थे। उन्होंने कहा, "बहते स्रोत से खुद को थोड़ा दूर कर रखने से साफ दिख जायेगा कि कैसे सब जगह हिंसा-भेद-स्वार्थ ही बढ़ता जा रहा है, सिर्फ घर में ही नहीं, गाँव में ही नहीं, सब जगह, सब क्षेत्रों में यही तो दिखाई पड़ता है। हिंसा-अशान्ति-कलह-निष्ठुरता-वाद-विवाद लगे हैं। इसमें जो जिससे आगे बढ़ सका वही उसकी बहादुरी है। ऐसे चलन का भी कोई मतलब है? आदमी स्वयं को गढ़ सका नहीं, आँख मूँदे लग-पड़कर चीजें गढ़ रहा है, तरह-तरह की चीजें। स्वयं को आयत्त कर न सका, बाहर की दुनिया-भर की चीजें आयत्त कर रहा है, विज्ञान में बढ़ोतरी कर रहा है। इस एक उपग्रह का उचित उपयोग तो वह कर न सका, और कितने उपग्रहों में जाने के लिए वह पैर बढ़ा रहा है।"

इतनी बड़ी गम्भीर विज्ञोक्ति को प्रचण्ड वेग से आघात कर वह कह उठा, "ओह, ओह, यह हिंसा-द्वेष, हिंसा-द्वेष सुनते-सुनते कान सुन्न हो चले। नाना मन्त्रों की तरह यह भी हो गया जैसे कोई मन्त्र। बाप रे! इस मन्त्र के हाथ से आदमी को भगवान् ही बचायें! क्या कहती हो दूला देवी!"

कुछ न समझ रोहीनाथ पहले हँसते-हँसते कहने लगा, "अच्छा साखी मिल गया—गेल्हा देवी या दूला देवी या फूला देवी!"

दूल हँसकर कह उठी, "उई, मैंने क्या कसूर किया?"

ज़ोर से हँस पड़ा जम्बू बेहेरा—"सच कहा। देवी, मुझे ये तन्त्र-मन्त्र से बहुत डर लगता है।"

सिन्धु चौधरी ने ज़ोर से आवाज़ कर गला खँखारा।

और उसी हँसी में निधि रणा, बई मलिक, दधि अहीर ने भी हँसी मिला दी।

घोबेई मिश्र ने मानो बात पकड़ ली हो। उत्तर पूछने लगे, "मन्त्र तो आदमी की अभिज्ञता का सार है, जीवन पर जीवन बिताकर आदमी ने जो पाया है, जो देखा है, अपने अंग में सहा है, उसे ही तो मन्त्र के आकार में बाँध दिया है। पर इसे सुनने पर आदमी का अनिष्ट कैसे होगा?"

रवि उत्सुक होकर कान लगाये था।

तब छवि ने कहा, "अभिज्ञता को जो अपने अंग से सहता है, उसके लिए वह सच है, उसके लिए स्पष्ट दर्शन है। उसके व्याख्यान को जो सुनता है उसके लिए वह मन्त्र है। गम्भीर सुनाई पड़ता है, बार-बार गाने पर नशा-सा छा जाता है। इधर कार्य में वह खिलता नहीं। सत्य, अहिंसा, महात्मा गान्धी के लिए हो गये थे अपने जीवन की स्पष्ट सत्यानुभूति, वह पद उनसे स्वतः निकल पड़ता था, औरों ने उस पद का यथेष्ट गान किया, जिस तरह कि गाया था 'रघुपति राघव', उनके लिए वह हुआ मुँह से गाने के लिए मन्त्र, मुख-शुद्धि होगा, उस छन खूब पवित्र-पवित्र-जैसा लगेगा, बस इतना भर, कार्य में फलेगा नहीं।"

रवि तर्क का उत्तर देते हुए कहने लगा, "आपने जो कहा, मैं उसे मानता हूँ। सब नहीं, कुछ लोगों के लिए केवल मन्त्र है, और कुछ होंगे जिनके जीवन का वह दर्शन होगा, केवल मन्त्र-भर नहीं, अति-वास्तविक अनुभूति होगा।"

छवि ज़रा भी हिचकिचायी नहीं, लजायी नहीं, मानो उसके भीतर से कोई भाषा दे रहा है, कोई उसके स्वर को संगीत और शक्ति प्रदान कर रहा है। उसने कहा, "होंगे, होंगे, ज़रूर, महात्मा गान्धी से भी बड़ी यह मानव-जाति है, वे महात्मा हैं; परन्तु वे आदि-अनादि नहीं। और भी होंगे, फिर भविष्य में भी होयेंगे। परन्तु महात्माजी मन्त्र नहीं बोलते थे, वे कर्म करवाते थे, वे लोग भी वही करेंगे।"

रवि ने कहा, "पर यह जो मिश्रजी ने कहा, वही तो सर्वत्र दिखाई पड़ रहा है, हिंसा, वाद-विवाद, स्वार्थ बढ़ रहा है, यह बात कहने में हर्ज क्या है? खुद चेतकर औरों को चेताना भी तो उचित है।"

छवि ने कहा, "वास्तव में खुद चेत सके, चेतकर काम-धाम कर सके तो उसकी बात सुनकर और भी तो जाग उठेंगे। हमारे घर में माँ-बाप कभी भोर से उठकर किसी को नहीं कहते कि उठो-उठो, उनके उठने के पीछे-पीछे हम खुद-ब-खुद उठ जाते हैं।"

रवि को अनुभव हुआ कि छवि सचमुच उसी के मन की बात कह रही है। उसका तर्क दुर्बल पड़ गया; पर तर्क के बहाने उसने कहा, "हिंसा, झूठ और स्वार्थ बढ़ रहा है, यह कहने से असुविधा क्या होगी, आप ही बताइए मुझे?"

घोबेई मिश्र ने पूछा, "हाँ; कहिए, मैं भी वही बात पूछना चाहता हूँ।"

सिन्धु चौधरी ने बात दबा देने के उद्देश्य से कहा, "पगली है, क्या तो उसने समझा है और क्या वह कहेगी? बच्ची है। कुछ सोचकर बिलबिला उठी है। जा, सोयेगी नहीं?"

छवि ने कहा, "असुविधा होगी। आप मान लेंगे कि सर्वत्र स्वार्थ है, सब जगह झूठ है, सब जगह हिंसा है। जो यह मान लेगा फिर उसकी आँखों को दिखेगा—सब जगह अँधेरा, मानो सब जगह निराशा भरी है। ऐसा अगर होता तो यह संसार फिर न होता। झूठे होने पर भी उसके पास-पास सच है, उदारता है। एक आदमी में भी ये उभय है। पूरा भरोसा कर वह बाहर आ नहीं पाता, उसे साहस नहीं होता, सन्देह जाता नहीं। साहस, आशा और उत्साह मिलने पर निकलना। किसी से मन्त्र सुनने पर गीत सुनने से वह मिलेगा नहीं, काम देखने पर ही मिलेगा।"

रवि ने कहा, "परन्तु—"

उसकी बात काटकर तनिक उत्तेजित-सी हो वह कहती गयी, "वे जो लोग अपनी-अपनी रीति के अनुसार समाज को 'ऐसे गढ़ना चाहिए, वैसे गढ़ना चाहिए,' कहकर हमारे देश में हलचल मचाकर मन्त्र बोल रहे हैं...."

घोबेई मिश्र चोट खाये व्यक्ति की तरह कह उठे, "ओह मन्त्र!"

छवि उसी ताव से कहती गयी, "हाँ, मन्त्र बोल रहे हैं, कोई धर्म के बारे में, कोई समाज-नीति के बारे में। कहते हैं, मानव समाज को यों चलना चाहिए, त्यों चलना चाहिए, उनमें से कितने सम्प्रदाय अपनी कही बात के अनुसार रूप गढ़ सके हैं? अपनी नीति के अनुसार उन्होंने देश को गढ़ा है या गाँव को गढ़ा है? दूसरों को अकल बाँटने में सब अगुआ हैं, पर उस अकल को काम में लगाने की जब बात उठती है तो बात दूसरी हो जाती है। इसीलिए मैं कहती हूँ कि जो जिसे उचित समझता है वह उसे कर दिखाये, अच्छी होगी तो स्वतः औरों को रुचेगी, वे भी वैसा करने लगेंगे।"

सिन्धु चौधरी ने चौंककर छवि की ओर देखा, फिर चारों ओर नजर दौड़ायी। कितने विज्ञ आदमी की तरह बोल रही है! कौन कह रहा है! उस बरगद के नीचे जो मूर्तियाँ सजी हैं, क्या उन्हीं में से कोई एक, कोई सोयी हुई प्रपितामही, इस धुंधले चाँद तले इस उजाड़ में वे अवस्थित हुई हैं। फिर उसने जो कहा, उसे सुनकर और भी आश्चर्य हुआ, देह सिहर उठी। छवि कह रही थी, "इस देवल को देखें, कितना पुराना है, और यह माटी जहाँ हम बैठे हैं। सौ-सौ, हज़ार-हज़ार वर्ष तक यहाँ जो आदमी थे, उन्होंने भी अँधेरा देखा है, हिंसा, झूठ, वाद-विवाद कितना कुछ देखा होगा! पर आदमी अँधेरे को देखकर डरा नहीं, साँस फूली नहीं, प्रकाश चाहा है, पाया है। हिंसा-

झूठ-वाद-विवाद कोई स्थायी नहीं हैं, उन सबको न मानकर कुछ काम कर दिखायें तो स्वत. वे चले जायेंगे, जायेंगे ही।"

रवि अभिभूत होने की तरह विनीत होकर कहने लगा, "हम चेष्टा कर रहे हैं।"

घोवेई मिश्र ने पुलककर कहा, "वाह! वाह! कितना अद्भुत है! आश्चर्य! आप जो कह रही हैं, हम बिलकुल नहीं सोचते हैं। पर कभी-कभी इतने स्पष्ट विचार नहीं कर पाते। इस अद्भुत प्रतिभा की सहायता आप हमारे संगठन को दीजिए। कभी पधारें फूलशरा।"

स्थान और समय भूलकर रवि कह बैठा, "सच, आइए न कभी।"

छवि एक अजीब भाव से हँसकर कहने लगी, "आप लोग तो करते जा रहे हैं, मैं सिर्फ देख रही हूँ। कभी मेरे द्वारा कोई काम हो सकेगा, फूलशरा जाने की योग्यता होगी, तो जाऊँगी काम तो सब जगह हैं।"

वही मूर्ति! वही सजीव बनकर बातें कह रही है! सिन्धु चौधरी स्वप्न और यथार्थ के बीच झूल रहे थे। कभी अस्पष्ट लग रहा था—यह भाषा तो मेरी ही है! किस उमर की, किस अवस्था की? किस गहराई में थी? आवाज़ दी, "बेटी! बेटी!"

"क्या बात है बापू?"

कुछ कह नहीं पाते, कहने को कुछ याद ही नहीं पड़ता। कहा, "जा, सोयेगी नहीं, जा—"

रवि उठ खड़ा हुआ। हँस पड़ा। चाँदनी उसके हँसते-से चेहरे पर पड़ रही थी। छवि ने ध्यान से देखा। उसी चेहरे के अँधेरे-अँधेरे में मानो उसके मन के अन्दर अपना चित्र भर दिया हो। उसने आँखें मूँद लीं। उसके कन्धे पर हाथ रख दूल ने कहा, "अब चल, सोयें!"

छवि उठकर चल पड़ी।

कितनी देर तक उसे नींद नहीं आयी, बाहर वही चुनचुनी रात, मानो जादू-भरी हो। अनचीन्ही धरती पर दो छावनियाँ, कुछ हट-हटकर बनी होने पर भी आमने-सामने हैं।

सच, लगता है जैसे उधर सामने से आकर लपट उसकी देह से छू रही है। अन्दर गरमी, छाती धकधक, कान चौकन्ने, पेट के बल लेटे वह दूर देख रही थी। तनिक कुछ खड़कते ही उसकी देह सिहर उठती। कभी-कभी मन का नशा और नींद का नशा एक साथ घुलकर उसकी चेतना को जब आच्छन्न कर देता, तभी अचानक लगता कि उसका शरीर चौंक उठता है। उसका मन कहीं उड़कर चला जाता। कभी-कभी लगता जैसे वह वहाँ नहीं है। शून्य ही शून्य में कुछ तैरता फिर रहा है।

उन्हीं बादलों के उस ओर कहीं चाँद छुपा है, मानो रात न हो, 'रज' पर्व की भोर

हो। और कुछ देर बाद बावरी-बस्ती से मुर्गा कु-कड़ूँ-कूँ कर उठेगा, गुरु की माँ आकर आवाज लगायेगी, 'आओ री, नदी चलें,' माँ फिर निकालेगी मलने के लिए हलदी का गाठड़ा। चोया, खस की जड़ और बकुल की महक, भोर के तड़के में नदी के पानी की ऊष्माहट, और पिछवाड़े में चिवड़ा कूटने की धम-धम का छन्द। चौंक पड़ी। कब आयेगा वह ?

और यहाँ यह अनचीन्हा परिवार। कितना अजीब ! केवल पिता, दूल, रोहीनाथ, बस इतने ही तो उसके गाँव के, बाकी सब भिन्न जगहों के भिन्न-भिन्न लोग हैं !

सभी !

याद आ गया रवि। लगा जैसे सब तो उसके अपने हैं। और वह सोचती गयी—सच, क्या वह भी उसकी बाबत सोच रहा होगा ? मन्दिर के पिछवाड़े एकान्त में वह जिस रूप को देख आयी है, उसमें दृष्टि और लास्य का आरोप किया। उच्छरित आनन्द का स्रोत उसके सम्पूर्ण अस्तित्व के ऊपर से बह गया, उसने आँखें मूँद ली, अँधेरे में उसके होठों के कोनों पर लाज-भरी बहू के चेहरे की-सी स्थिति आ गयी। वो आ रही है उसकी सुहाग रात। बचपन से पुराण सुनते-सुनते, लीलाएँ देखते-देखते इस माटी की जो कल्पना और जो सपना उसकी नस-नस में भर गया है, फैल गया है, उसके आच्छन्न आवेश में मानो वह यहाँ एकत्र जमा होकर रूप धर हिल उठा है। यही वह क्षण है। बाहर खुली यमुना, धुँधली चाँदनी फैली है। नाना वन-फूलों की भीगी महक, ताजा महक, अँधेरे-प्रकाश की धूप-छाँही कुंज के नीचे।

गालों पर सिहरन-सी लगी, धीरे से कुछ बूँदें आँसू की चू पड़ीं। छनछनाती-सी वह उठ पड़ी। यह क्या ? उसके अन्तर में कोई आवेग घुमड़ रहा है, कोई वेदना कसमसाती-सी। कुहनी पर टिकी दूर देखती पगली-सी सोचती रही, क्या आदमी का आनन्द इसी खींच-तान में है ? परिणति ये कुछ बूँदें हैं ? अन्त कहाँ ?

भावना बदल गयी। अचानक लगा—वह स्वार्थी है। उसने चाहा, खींचकर बाँध लेगी, सब कुछ चतुराई कर रखेगी अपने पास, सब कुछ जोड़कर वह होगी एक दम्भ-भरी 'मैं', फूल उठेगी, बढ़ेगी, हुकम चलायेगी। वह दूर देख रही है। वही दुकेता गहन-गाँठी लगाये, पलकी पर बैठी साज-सँवार रही है, उसका घर-बार। पति भी अपना है, अपनी बात मानने वाला।

'झूठ-झूठ, कभी नहीं, नहीं'—

मानो अपने अन्दर ही और कोई जोरदार प्रतिवाद कर उठा हो, यह सब उसने नहीं चाहा, कभी नहीं। वह सिर्फ अञ्जलिका, निवेदिता, वह सिर्फ बोतल में बन्द एसेंस ही नहीं, वह फूल का सौरभ है, स्वयं को सहेजकर रखना चाहा नहीं, दुनिया की सेवा करेगी, आनन्द देगी, वही तो उसके आनन्द का सपना है।

क्या है उसका रास्ता ? क्या योजना है उसकी ? उसके लिए कितने तर्क-वितर्क उठते, सेवक अपने भीतर कलह लगाते अपने-अपने रास्ते की टेक उठाकर। उनमें चली

धर-पकड़, ये जिनके बड़े-बड़े दिमाग़ हैं, ख़ूब बल है, ख़ूब पढ़े-लिखे हैं। छवि मौन रही है, वह सिर्फ़ हृदय का दिमाग़ और हाथों का काम जानती है, रास्ते-रास्ते उसके हाथ जहाँ तक पहुँचे वह आनन्द देती-लेती जायेगी, मैं या मैं-पन का अहंकार उसमें नहीं है, बस स्वयं को कर्म में विनियोग कर देगी।

रास्ते का कूड़ा साफ़ करना, यह भी काम ही है, किसी के आँसू या नाक पोंछना भी। काम का कोई नाप नहीं, अपने चैन का माप है, वही उसका आनन्द है।

क्षितिज का घेरा बाँधे है इस टोले के ऊपर का घना पेड़ों के झुरमुट का अँधेरा; परन्तु छवि की आँखों के आगे झलमलाता फैला था अटूट नदी की बाढ़ का पानी, वही जो देखती-देखती आयी है।

कितने घर बहा ले गयी, कितने गाय-गोरू, भेड़-बकरी, जिन्हें लोगों ने युग-युग से सहेजकर रखा होगा, सब चला गया इस बाढ़ की लपेट में।

गाँव में तटबन्ध पर पड़े होंगे जोगी-बस्ती और पाल-बस्ती के लोग, नन्हे बच्चे को लिये सतुरा पाल की पतोहू यशोमती क्या करती होगी? वहीं रोती होगी। याद आया कि अपने घर बुलाकर ले जाने समय कितनी खुसुरफुसुर-खुसुरफुसुर गयी थी। मूसलाधार बरसा में उजाड़ में खुले में बाहे पड़ी रहे, ऊँची जात के आदमी के घर में घुसे में रहने की भाजन वह नहीं, यही विचार इतने ज़माने के धर्म और न्याय की धारणा ने उसे दिया है। बेचारी।

इस तरह कितने अछूत, मैले-गन्दे लोग, साबूत तन पर कुछ भी जिनके नहीं, न सिर पर... और यह बाढ़ आ रही है उन्हीं का सत्यानाश करने।

टूटी छान पर बैठे बहते जा रहे होंगे लोग, पास न कोई सगा होगा न कोई सहोदर, पुकारने पर कोई आयेंगे नहीं, दूर किसी किनारे पर अँधेरी लकीर-सा टिमटिमाता प्रकाश बुझ जाता होगा, बस कल-कल, छल-छल करता पानी।

घनघोर बाढ़ का दृश्य वह देख रही थी, सहस्रभुजा होकर। वह वहाँ जुटी पड़ी थी काम में। किसी का बच्चा सँभाल रही है, किसी का हाथ पकड़ निकाल ला रही है, किसी को भोजन पकाकर परोस रही है। ओ हो! आदमी! कितने युगों का दुख है उसके भाग में? छलछलायी आँखें, सोचते ही सोचते मुँद गयीं। अब की वह माँ की गोद में सोयी है।

आराम है। सुख है।

जितनी देर से चाहे सोयी, सुबह सबसे पहले वही उठी। याद में डूबी; परन्तु तब तक तो उधर का शिविर ख़ाली। वे सब चले गये हैं यह देखने कि टूटी नाव की क्या स्थिति है। नीलम-सा दिख रहा है, सुबह का प्रकाश पूरा खुला न था। खंजन एक-दूसरे को आवाज़ लगा रहे थे। उस बाढ़ के पानी के घेरे में उजाड़ ढूह पर अटल-निर्विकार भाव से खड़ा था बजेश्वर का ईंटों से बना देवल। उस भोर में चारों ओर निगाह फेरी तो छवि के मन में भर गया अपार विस्मय। कल नाव से उतरकर ठीक

से देखने का समय नहीं मिला था।

मेघ बहुत टलते गये हैं, कल रात, और आज सुबह पंख-झाड़ा है दो बार—एक बार कोई मामूली-सी झड़ी हुई थी। आकाश की ओर दृष्टि घुमाकर छवि ने देखा, मेघ लदे हैं, किसी भी क्षण छलक सकते हैं। भीगी धरती पर यह जो पत्तों से चू पड़ता है टप-टप कर, यह एक-आध बूंद टपककर विशाल जल राशि में मिलकर वहीं किसी की बाड़-बांध तोड़ेगी।

कितना सुनसान!

यहाँ एक दिन हलचल लगी होगी। तब यहाँ रहा होगा बड़ा कोलाहल, शहर या गाँव, और आस-पास भी वैसे ही। अतः यहाँ यह देवल, इतनी मूर्तियाँ, इतने बग़ीचे। कहीं से पत्थर, कहीं से कारीगर, मास-मास बरस-बरस बीत गये होंगे, पत्थरों को खोद-तराशकर मूर्तियाँ गढ़कर रखने में। तब कितने महोत्सव, कितनी हरि-ध्वनि हुई होंगी, उन्होंने विश्वास किया होगा, कि यह जो घर खड़ा किया गया, यह जो मन्दिर उठाया गया है, ये जितनी मूर्तियाँ जीवन्यास पा गयी हैं—रह गया युग-युग के लिए यह सब, यह थल भरा-पूरा रहेगा।

किसने तोड़ा? किसने उजाड़ दिया? क्या काला पहाड़ ने? पिता कहते हैं, जानकर लोग कहा करते हैं, कि जहाँ-जितने मन्दिर टूटे हैं, मूर्तियाँ विकलांग हुई हैं, सबको उसी ने चूर-चूर किया था। तो उसे बहुत समय लगा होगा, बहुत श्रम करना पड़ा होगा, दिन-रात कितने दूर-दूरन्त घूम-फिरकर पत्थरों के साथ युद्ध करना पड़ा होगा।

परन्तु उससे भी बड़ा और कोई है, वह काला पहाड़ नहीं, महाकाल है, जो लोहे को जर्जर कर देता है, काठ में दीमक लगा देता है, जो फफूंद भरता है, घुन लगा देता है, कुँए धँसा देता है, भीत ढहा देता है, पत्थर के मन्दिर के शिखर पर कहाँ-कहाँ से लाकर पीपल रोप देता है, उसी ने तोड़े होंगे शायद!

धीरे-धीरे प्रकाश खुलता जा रहा है, छवि की आँखों में मानो वही विस्मय बनकर भरता आ रहा है, सोचती जाती है—क्या हुआ? कहाँ गया?

युगों के बाद युग बीतते गये, कितने घर, कितनी पीढ़ी के लोग! उसकी ही तरह असंख्य बेटियाँ पैदा हुई होंगी, घर बसाया होगा, चली गयी होंगी।

तारा की मूर्ति के पास झुककर देख रही है छवि। सोच रही है। कुछ उदासी-सी लगी। सच जैसे जाना-पहचाना चेहरा हो, काला चमचमाता, स्वनि मला हुआ-सा चमकदार, सिर पर सूक्ष्म कारीगरी पर चिड़ियों की बीट। यही चेहरा—किसी की माँ या बहन का, इसी रूप को वह पत्थर पर खिलाकर देवता बना गये हैं। कोने से नज़र घुमाकर देखा था, छन-छन प्रकाश में वह चेहरा मानो उसे देखकर हँस रहा है—छोड़कर जाने को जी नहीं करता।

यह चेहरा तो लाड़ करने लायक़ है, आदमी क्यों इससे डरे, इस के पास पना चँडेले, धूना जलाये? केला की पत्नी अगर गोरी न होकर चिकनी स्याह होती तो ऐसा

ही लगता उसका चेहरा। मैना को इसी की माँ वेश पहनाकर उजाड़ में बरगद के तले बैठाकर मन ही मन वह कौतुक का अनुभव कर रही थी। सोच गयी—सहज को असहज किये बिना मानो मानव मन को शान्ति ही न हो!

ढेर की ढेर ये मूर्तियाँ सिर्फ गढ़ी ही नहीं गयी होंगी, इन मूर्तियों में अवश्य प्रत्येक के साथ एक-एक को लेकर नाना कहानियाँ भी रही होंगी। कोई किसी का बेटा-बेटी, भाई-बहन, किसी की स्त्री, कोई किसी का मित्र या आज्ञाकारी, बिलकुल इसी देश के, इसी स्थान के मनुष्य-समाज की तरह ही उन आदमियों की कल्पना में उन देवताओं का समाज, कोई किसी स्थान का अधिपति, कोई किसी के अधीन। जिस काल का समाज, वैसा ही देवता। वैसे ही नाना समाजों के, नाना देशों के, अवश्य होंगे।

युग-युग से उन्हीं असंख्य देवों के पास सिर नवाते-नवाते लोगों ने अगणित पुकार लगायी होगी—घर भरो, शत्रु को मारो, देह नीरोग रखो, संकट काटो, बेटे-बेटियों को आदमी बनाओ। परन्तु काला पहाड़ चाहे भूल जाये, महाकाल किसी को नहीं छोड़ता। रोग आया है, बाढ़ आयी है, हैजा आया है, कोई चिरकाल के लिए सुख न भोग सका, कोई सदा जी न सका। किसी की सहेजी हुई चीजें सदा नहीं दिखती रहीं।

आदमी ने अपने हृदय की कामना और भय से घुल-मिलकर अपने जाने-पहचाने चेहरों के साँचों में गढ़े हैं—ये देवता। अपनी-रीति-नीति, रुचि-अरुचि के अनुसार उन्हें समझने न समझने का क़ायदा भरा है, खुद चले जाने के बावजूद भी रख गया है स्मारक के पत्थर। कोई उन्हें पूछता है, कोई नहीं, कहीं दीये की बाती जलती है, कहीं नहीं।

भृकुटी पण्डित कितने बेल के गोंद में जनेऊ माँजते हैं, कितने तिलक-छाप लगाते हैं, नाक से चीं-चीं करते मन्त्र पढ़ते हैं, परन्तु वे ही मुट्ठी-भर हाड़-चमड़ी धड़-धड़ होते रहते, कमर लड़खड़ाती रहती, घर की अवस्था भी सुधरती नहीं।

धोबिन रुपेई की माँ में कभी-कभी 'भूसा' आती। वह हुकुम देती। कहती—"मैं वन देवी हूँ," उस बार जब उसका मन्त्रित पानी पीकर, बावन महान्ती की विधवा भावज उलटी करती मर गयी, बावन महान्ती ने आकर कितना कलह-झगड़ा किया था, चेतावनी दी थी, और रुपेई की माँ को 'वन देवी' नहीं लगी उसके बाद।

कन की माँ सात बस्ती गाँव-सयानी। वह किसी गाँव के बाबाजी के चित्र की पूजा दोनों जून किया करती है। बाबाजी के सिर पर एक झुण्ड घेरदार जटाओं का लदा है, दो हाथ ऊँचा, लम्बी दाढ़ी झूलते-झूलते जाकर मिल जाती है। भालू की तरह छाती के जंगल से। बड़े मटके की तरह पेट। पलथी मारे बैठे हैं, नीचे बाघ की छाल बिछी है। बाबाजी को कभी कन की माँ ने देखा नहीं।

परन्तु उसका कहना है कि वे सब कुछ देख सकते हैं, जान सकते हैं। काँच में बँधी बित्ते-भर की उस फ़ोटो को वहाँ स्थान पर रखकर कन की माँ दुनिया-भर के फूल लाकर चढ़ाया करती, धूप-दीप देती, गुड़ का भोग लगाती, पीतल की

छोटी-सी घण्टी हिलाती टिंग-टिंग कर। फिर सिर्फ होठ हिलाकर कोई मन्त्र बोलती-बोलती आरती करती, बाद में माथे को तीन-चार बार धरती पर टिकाती। वह कहती, उसके बाबाजी स्वयं अवतार हैं, अतः वह उनके चरणों में तुलसी-पत्र चढाती।

भाँति-भाँति के बाबाजी। जात-जात के ठाकुरजी, युग-युग में, जगह-जगह। कौन-सी बात रुकी, बाढ़ या हैजा? उनके पीछे समय बीता है, भला-बुरा सोच-विचार रास्ता ठीक करते-करते आदमी के स्वाधीन विचार-धारा पाकर अटकाव आया है। उनपर झूठा विश्वास, आँख मींचे निर्भरता, हाथ थामकर बैठे मन्त्र-जाप, माथा टेकना....

"दिलवा दो, करवा दो सब। उसके मन में सुख भर जाये, धन पूर जाये।"

इसी तरह सोचती जा रही थी छवि।

इसी माटी तले कितनी ही वैसी मूर्तियाँ होंगी, कौन कह सकता है? कितने पूजास्थल, कितने यज्ञस्थल कहाँ-कहाँ नहीं होंगे। सिर्फ माटी तले ही क्यों, घर-घर में वैसे ही, प्रत्येक आदमी के मन की कन्दरा में, अधिक बुद्धि न लगाकर, अधिक परिश्रम न कर। फिर बार-बार रोग में, अभाव में, दुर्दशा में छटपटाकर आदमी विश्वास थामे है कि जादू होगा, मन्त्र कारगर होगा, अतः वह शक्ति-भर ढोल 'ढाँव-ढाँव' पीट रहा है, धूना गुग्गल जला रहा है, धरती पर सिर टेक रहा है, घी जला रहा है; उपवास करता है, फुंकारता गरम साँस छोड़ मन ही मन गुनने की तरह इच्छा-शक्ति का प्रयोग कर रहा है कि यह हो, अमुक मिले। होने पर कहता है, मेरे देव ने सुन लिया, वरना कहता है कि विधाता वाम है।

महाकाल घुन की तरह लगा हुआ है।

रुकता नहीं।

ऊँचे-ऊँचे पेड़ों के उधर सूरज महाराज उग आये। पूर्वीय आकाश पर लदे मेघों में सचमुच जैसे आग लग गयी! केवल भीगी घास, कुछ पेड़-पौधे, जगह-जगह दूह, चिड़ियाँ, तितलियाँ, कीड़े-मकोड़े हैं, आदमी, वह अकेला है। छवि की आँखों में एक नया प्रकाश भर रहा है। वह इधर-उधर घूम रही है। समय का बोध नहीं है।

एकाधार में नाना स्रोत, एक छवि में नाना रूप, खींचा-तानी, छीना-झपटी करते आदमी इस सृष्टि में सुन्दर हैं या असुन्दर?

मिल सका तो सुन्दर, श्रद्धा कर सका तो सुन्दर, नहीं तो इस मेले में वह अचेत है, कुत्सित है; किसी का नहीं।

उसका पागलपन का मोह तोड़कर हलचल आयी आदमियों के कलरव की, और वह अपनी चेतना की स्थिति में लौट गयी। बाढ़ आयी है। चेतना में फैल गया दिगन्त-स्पर्शी गँदले पानी का प्रलय-समुद्र।

माँ क्या करती होगी? क्या सोच रही होगी?

वह जल्दी-जल्दी मुड़ गयी भीड़ की ओर। रवि नहीं पहुँचा है। पिता हैं, और लोग हैं। "आ, चलें, बेटी!" पिता ने कहा।

टूटी नाव की मरम्मत हो चुकी है। उसी नाव पर खड़ा है रवि। उधर दह के कगार से चले आते दल की ओर देख रहा है। चेहरा चमचमा रहा है। उसके पीछे आबू की तरह मोटे पत्थर सरीखा जम्बू बेहेरा।

"आप लोगों को घोबेई भाई उस नाव में लेकर पाटेली गाँव छोड़ देंगे।" रवि ने कहा।

"हाँ, यही हो!" घोबेई मिश्र ने हँसकर कहा, "यदि रुकेंगे तो नसडीपुर या कंकालपाटना में रात में भेंट होगी।"

"बाढ़ के काम में क्या हम कुछ भी काम नहीं आ सकते?" छवि ने घोबेई मिश्र से पूछा। वह लजा-सी गयी।

"आपके गाँव में तो बाढ़ है, आपकी अभी वहीं जरूरत है।"

सिन्धु चौधरी ने कहा, "हाँ, वही तो पहला काम है। गाँव में पहुँचते ही, मरद-औरत सबके लिए वहाँ काम है। आशीर्वाद दे रहा हूँ बेटे, आशीष, आशीष!"

दो नावें दो ओर चल पड़ी।

दोनों दल परस्पर की ओर देखते खड़े हैं।

दूर जहाँ बाढ़ के समुद्र में ताडवन ऊपर उठा है, वहीं रवि की नाव बायीं ओर मुड़कर अदृश्य हो गयी। छवि उधर ही देख रही है। पानी पर ताप नाच रहा है। बीच में कहीं थोड़ा-बहुत झाग।

बड़ी-बड़ी आँख फाड़े रोही और फूल उस पानी को देख रहे हैं। अपनी देह पर सही गयी वही विभीषिका मानो पुनः आँखों के आगे साकार हो जाती है।

राणावन्दी गाँव के किनारे से जाते समय घर के छज्जे तले औरतें नहा रही हैं, बच्चे पानी में छपाछप कर रहे हैं। कछुवे की पीठ सरीखे गाँव में ऊपर-नीचे कहाँ-कहाँ के लोग, गाय-गोरू ठसाठस भरे हैं।

तनिक हटकर शुआपोखरी के पड़ंगियों का नारियल का बगीचा कमर तक पानी में खड़ा है। कितनी टूटी छान, पुआल के ढेर के ढेर; काठ, बाँस वहाँ अटके पड़े हैं। दूर से तैर आती है तीव्र दुर्गन्ध, मानो उबकाई दिलानेवाली। ऊपर अनेकों गिद्ध चक्कर मार रहे हैं, नारियल की फुनगियों पर पक्षी फड़फड़ा रहे हैं। अनेकों गाय-गोरू की लाशें नारियलों के तनों से उलझी हैं।

और कोई आदमी की लाश भी टँग गयी है, फूलकर कैसी दिख रही है, लम्बे काले-काले बाल उलझे जाल की तरह बिछे हुए हैं। पानी में पड़ती नारियल की फुनगियों की छायाएँ जुड़कर फिर खोयी हैं।

"यह क्या? ए, क्या?" छवि चीख-सी पड़ी।

कोई कुछ कहता इससे पूर्व घोबेई मिश्र ने बताया, "यह बाढ़ है। हाँ, सिरा मोड़ दो।"

पानी का बहाव काटकर नाव चली जा रही है। गरज से आकाश को थर्राता

कहीं से अचानक दिख जाता है एक हवाई जहाज, भँवरा-भँवराकर घूम रहा है। सब उसकी ओर ताकने लगे।

इस साल बाढ़ आयी है, चारों ओर वही हलचल है, महानदी में पानी पहले सबसे ऊँचा जितना उठा था, उससे भी तीन हाथ बेसी गया है इस साल। ब्राह्मणी नदी में पिछले साल जो भयानक बाढ़ आयी थी, उससे भी चार हाथ ऊँचा गया है पानी। सौ-सौ घाइयाँ टूटीं, सैकड़ों गाँव समूल धुल-पुंछ गये, लाखों लोगों के घर-बाड़ी, गाय-बकरी, जीवन-भर की जमा पूँजी सब कुछ बह गया, कितनी सौ लाशें इधर-उधर फैली दिखाई पड़ीं, वे सब बाढ़ से मरे या रोग से पता ही न चल सका; कितनों का तो अभी तक पता न चल सका, भरे या गये जगह-जगह पहाड़ों पर, टीलों पर, चार-चार पाँच-पाँच कोस के तटबन्ध पर आदमी कीड़ों-मकोड़ों की तरह भरे पड़े हैं, गाय-गोरू भी। बरसा ने मारा है, पीने को गँदला पानी, सिर पर छान नहीं, वैसे ही खुले में खड़े रहे चार-चार पाँच-पाँच दिन। कितनी जगह रेल के पुल टूटे हैं, जगह-जगह घाई के बहाव में रेल के नीचे जमीन कट गयी है, मीलों तक। वहीं रेल की पटरी अधर में लटक रही है, कहीं कोस-भर का रास्ता बह गया। रेल बन्द। गाय-गोरू की लाशें सड़-सड़कर जो दुर्गन्ध कर रही है कोस-कोस तक साँस लेना दूभर हो गया है। खींच ले जाने के लिए सियार-गीदड़ भी नहीं, वे भी मरकर तैर रहे हैं। जंगल से खिसक आये थे दो हाथी, तीन बाघ, हरिणों का झुण्ड, एक जोड़ा बड़े-बड़े साँभर। मर चुके थे। विराट्-विराट् पेड़ बह गये हैं। जहाँ गाँव के सटे-सटे घर खड़े थे, वहाँ अथाह पानी का जमाव हो गया है। जिन गाँवों ने कभी अपने इतिहास में बाढ़ नहीं देखी, वे भी बाढ़ के दाँव में पड़कर अदृश्य हो गये हैं। इस बरस खण्ड-प्रलय मच गयी है। यही चर्चा लोग जगह-जगह कर रहे हैं, भीड़ की जगहों पर बीच-बीच में नाव रुकती। दिख आते स्थल की ओर से बाढ़ देखने आये कई तरह के लोग, खबर और फ़ोटो लेनेवाले लोग, किसी के हाथ में कैमरा, किसी के दूरबीन, किसी की आँखें छलछलायी, किसी के मुँह पर लाउडस्पीकर। वहीं पानी के सहारे नाना प्रकार की तत्परता दिखाई पड़ती। कगार जहाँ खा गया है, बाँस गाड़कर बालू के बोरे पर बोरे लादे जा रहे हैं, ट्रक में लदकर पत्थर लाकर ढेर किये जा रहे हैं, पानी के हिलोरों के साथ संघर्ष चल रहा है। नाना प्रकार के दृश्य। विपद् रहित आस-पास के भागों में थोड़ा-बहुत नाव में फिर आते। और वहाँ से सहायता भी मिलती। चिवड़ा, चावल वग़ैरह अन्यान्य चीज़ें, दवाइयाँ। और कभी-कभी कार्यकर्ता आते। सचमुच जैसे स्थल के लोग सहायता करते झटपट उस जगह तक दौड़े आते हैं, उसके आगे फिर हाथ पहुँचते नहीं, पैरों को थाह मिलती नहीं।

फिर चल पड़ती नावें उस अटूट बिछे पानी की छाती पर, काले कत्थई आकाश

तले मेघ गुर्राते, तूफान गरजता, जीभ लपलपाकर दहाड़ती कूदती लहरें कतार की क़तार आती, यहो जलार्णव के बीच छोटे-छोटे टूह पर अकेला-दुकेला पेड़, और वह भयावह दृश्य—टूटे-उजड़े गाँव, डूबी हुई बस्तियाँ, पानी कुदाती धाइयाँ, बिजली की गति का स्रोत, आँखें जहाँ तक जा पाती हैं, केवल सब बहता जा रहा है, कीड़े-मकोड़ों से लेकर घर की छान तक—हण्डी-कुण्डी, गाय-गोरू, बड़े-बड़े पेड़, नहीं तो पानी टपक-टपककर चीजें सड़ रही हैं, दुर्गन्ध भर रही है। खेत में धान सड़ गया है, रान सड़ा-सड़ा सड़ रहा है, पानी में डूबकर घास भी सड़ी जा रही है।

अचानक किसी पेड़ पर से किसी की आवाज सुनाई पड़ती, देवल पर पताका की तरह पेड़ों पर पताकाएँ दिखाई देती। पहचान के लिए आदमी संकेत कर रहा है। कहीं नाव देख तैरते-तैरते लोगों की धार आ जाती, छान टूटकर अटक गयी है, दीवारें ढही पड़ी हैं, कहीं टूटी दीवारें खड़ी हैं, आड़े पड़ी हैं, समूची साबूत एक भी नहीं। जगह-जगह थोड़े-थोड़े टापू में गायों की लाशें फँसी पड़ी हैं। कंकाल की तरह पड़े हुए हैं। जीते गाय-गोरू अवश होकर छलछलायी आँखों से बढ़ आते आदमी देखकर, नाव की ओर वह अपलक डबडबायी नीरव दृष्टि से कह जाती—अपना करुण इतिहास। उन आँखों में आशा की कोई कणिका दिखाई नहीं पड़ती।

वे नावें कभी एक जगह मिलतीं, कभी तीन दलों में बँटकर तीन ओर कहीं की कहीं बिखर जातीं। तारीख या वार कुछ याद नहीं रहता, बादलों के अँधेरे में कब दिन उग आता, कब बुझ जाता, जीवन का यहाँ एक नया ही माध्यम है, कार्य की नयी परिभाषा है, नाव ही नाव पर जीवन, पानी-गारे में काम, लोगों को यहाँ से लेकर वहाँ छोड़ना, पास चीजें हुईं तो सहायतार्थ बाँटना और साहस बँधाना, सहानुभूति जताना।

तेरह दिन बीत गये इसी तरह। पानी घट आया था। धाई टूटने की जगह अभी भी नयी धार में पानी जा रहा है, पाट में, गहरे गड्ढों में, खेतों में अभी भी पानी भरा है। जहाँ-जहाँ से पानी हट रहा था उधर दूर-दूर कोसों तक चमचमाती बालू की परत बिछी दिख जाती, वही जहाँ एक दिन अन्न का भण्डार उपजानेवाली धरती थी, कहीं दो-तीन पोरसा गहरा गड्ढा कर दिया है, पहले जहाँ घर-बार था, ज़मीन-बाड़ी, पेड़-पौधे थे। और जगह-जगह पटू फैल गयी है। चीन्ही धरती अनचीन्ही बन गयी, एक नयी सृष्टि—धुली ज़मीन, सड़ी फसल, निश्चिह्न हुए निवास स्थल, कीचड़-दलदल से भरी धरती पर एक-एक हाड़-कंकाल, अब भी थोड़ा-बहुत मांस चिपका हुआ है, इधर-उधर कौवों और गीधों के समूह। ये बाढ़ छूटने के दिन ही विशेष असुविधा के दिन हुआ करते हैं। गाँव के किनारे पर नाव तो लग सकेगी नहीं, बैलगाड़ी भी जा न सकेगी, जिस गाँव में भी जाओ, कीचड़ होकर पैदल चलो, कहीं कीचड़ में घुटनों तक डूबना, तो कहीं छाती या गरदन तक पानी, चारों ओर भीगा चिपचिपा मैला-कुचैला। पंजे और अँगुलियों के बीच बालू भर जाती है, पिंडलियों में जोंक चिपट जाती है, मच्छर और मक्खियाँ बेशुमार भर गयी हैं, खाँसी, सर्दी, बुखार, दस्त धू-धू कर बढ़े

जाते हैं, जगह-जगह हैंजा आ पहुँचता है, उधर सहायता के लिए कोई साधन-सुविधा नहीं रह जाती।

उसी सड़ी-गली दुनिया पर सुबह-शाम घने कुहासे की भाप ढँके रहती, रात में इधर-उधर हिलती-फिरती डायनी लपट, कीच में चपचपाते दूहों पर नारियल की फुनगियाँ, ताड़ की फुनगियाँ या डालों की बनी छोटी-छोटी झोपड़ियों में प्रतीक्षा करते पड़े रहते गुनगुनाते आदमी, किसी का दस्त बहा जाता। खें-खें खाँसी सुनाई पड़ती, मरी हुई माँ के अनाथ बच्चे की रुलाई सुनाई पड़ती। कभी किसी उड़काये किवाड़ों से गीदड़ घुसकर घूम-फिर चल देता। जहाँ थी ठेले-ठेले लोगों की बस्ती, वहाँ छिन्न-भिन्न-सा लगता। बस पानी, कीचड़, बालूचर। विध्वस्त मानव-सृष्टि के अन्दर किसी कोने में बूँद-बूँद मानव-गोष्ठी कहीं छुपी रहती, उसका पता भी नहीं चलता।

पता चलता सुबह होनेपर, जब इस कुलच्छनी दुनिया में आदमी निकलता आहार खोजने, तब वैसे भूखों-नंगों के दल कहाँ-कहाँ से निकलकर धार लगा देते, कोसों लम्बी रिलीफ-केन्द्र की ओर, पेट में लपलपाती भूख, आँखों में आग।

फूलदारा दल का स्वेच्छाकृत सहायता कार्य पूरा होने को आया। जो चीजें लायी गयी थीं, कब की दी जा चुकीं। दूसरों पर भार न बनने के लिए दल के पास थोड़ी-बहुत खुराक बची है, दिन में दो मुट्ठी खाकर किसी तरह काम चला लेने की बात। कितनी सरदी, खाँसी, बुखार, पेट दर्द झेला है। कितने दिन कितनी रातें बीतीं, कभी आँखें मुँदी नहीं। पूँजी चुकने पर भी काम रुका नहीं, पुकारने पर लोग हुँकारा भरते, जिसके पास है वे देने को आगे निकले हैं।

और आँखें छलछलायीं, होंठ थरथराये, कितनों के दरवाजे खुल गये। बाहर निकल पड़े कंगन-चूड़ी पहने जोड़े के जोड़े कितने हाथ, "आहा, लो, लो भई...."

अब लौट जाना पड़ेगा। बाढ़-सहायता-कार्य की चारों ओर व्यापक व्यवस्था हो चुकी है। सरकारी सहायता की व्यापक व्यवस्था चल रही है, उसके साथ मिल-जुल गयी हैं अ-सरकारी सहायता करनेवाली संस्थाएँ। देश पर इस विपद् की घड़ी में चारों ओर से कुछ न कुछ सहायता आ पहुँची है। एकदम काश्मीर से लेकर केरल, गुजरात, आसाम—सब प्रदेशों से। दान के साथ सहानुभूति का स्वर एक साथ मिलकर प्रमाणित कर रहा है—भारत एक है, देश के लोग सुख में दुख में एक है।

नदी में पानी छूट गया है, बहाव तेज है। अब घर की ओर लौटना है। पहले एक नाव लौट गयी, बाद में एक और, दो दिन बाद तीसरी नाव में रवि लौट पड़ा। घोबेई मित्र, वई मलिक, दधि अहीर, जम्बू बेहेरा और गुल केवट भी थे।

यही नदी, इतना पाट, इतने गाँव, इतने दिन की बाढ़ के काम में परिचित हो गये हैं। फिर हो जायेंगे अनचीन्हे। वे देख आये रोती-बिलखती वेला का आकुल दृश्य। अगली बार वह दृश्य न होगा, वही चिरपरिचित गाँव-गली का दृश्य झलकता होगा— घर-बारवाला गोत्र, छाती तक ऊँची फ़सल, जिक-जिक घास के मैदान में चरते निर्द्वंद्व

गाय-गोरू—देवल से घण्टी आ रही होगी, पोखरी-घाट से गाली-गलौज की आवाज, बस्ता काँख में दबाये चटशाला की ओर दौड़ते बच्चे !

वही बात रवि सोच रहा था, आगामी दिनों का चित्र आँक रहा था। सामने वही गँदले पानी का समुद्र, बाँध-मेड़ आदि को लाँघता अभी भी चला जा रहा है दिगन्त की ओर, केवल जगह-जगह किसी की कत्थई पीठ की तरह सड़ी फ़सल, सड़ी घास बहकर धरती पर उठी दिख रही है। खुरदरी सलेट की तरह आकाश और पानी। आकाश में चल रहे हैं काले-काले धुआँसे हलके मेघ, जगह-जगह वे काले खण्डों की तरह उड़ रहे हैं। उत्तरा खुल रही है; मानो में खड़ा है नारियल का बगीचा, उसकी फुनगियाँ दाहिनी ओर झुकी हैं। उदास गम्भीर दृश्य है। दूर कड़ककर बिजली चमकी, नीचे से ऊपर तक साँप-सँपोले की तरह जल उठी।

जम्बू बेहेरा ने कहा, "दशहरा गया, क्वार-पूनम है आज, इन मेघों की आश मिटी नहीं, अभी और भी....!"

दिन-भर सूरज छुपा था, उसी मेघपूर्ण आकाश के पश्चिमी कोने में मानो धान उसनने के लिए पत्तों की आग सुलग उठी हो थोड़ी-सी, उसका स्पष्ट रूप नहीं, आकार नहीं। एक ओर से एक विराट् हाथी और दूसरी तरफ से एक विराट् भैंस—मानो दोनों ओर से आमने-सामने होकर आकाश में कुछ समय के लिए खड़े रहे हों। थोड़ी-सी आग को तीन भाग किये दो काली पट्टी टँगी रही। दूसरे सिरे पर उगा कुँआर पूनम के चाँद का उजास—बैटरी खत्म होती आ रही टार्च लाइट की क्षीण रोशनी की तरह।

पास-पास तैरते-तैरते गुज़र गये कितने गाँव, हुलहुली सुनाई पड़ी नहीं, क्वार-पूनम के गीतों की कहीं प्रतिध्वनि नहीं, सब ओर सुनसान है।

चाँदनी कुछ तेज़ हुई। अँधेरा ही अँधेरा दिख रहा था, सामने बालूचर, जगह-जगह चमचमाहट, टूटी छान, टूटी भीत, कतार की कतार, ढेर के ढेर, और उन्हीं पर अब चाँदनी झिलमिलाने लगी है। सब चुपचाप हो गये हैं।

सियार हूक उठे, मानो यह भी कोई एक रीत है जिसका पालन कर रहे हैं। कम ही है, दूसरी ओर से कोई पारी नहीं सँभाल रहा। सियार भी बाढ़ में बह गये हैं।

"फिर कब आओगे ? फिर कब आओगे ?" दिन में कितने ही गाँववालों ने आग्रह से पूछा था।

रवि ने शान्त रहकर याद किया, कितने चेहरे, कितनी विकल आँखें, कितनी मिन्नत !

वे सब उसके अपने हैं।

"वो जो रोशनी पास ही पास दिख रही है, वही तो पाटेली गाँव है।" जम्बू बेहेरा ने बताया। देखते ही देखते नाव मोड़ पर घूमकर निकल गयी।

इतनी भयानक बाढ़ आयी थी। तोड़ने नहीं, जोड़ने और गढ़ने के लिए।

गुनगुनी फागुन की दोपहर में तटबन्ध पर बैठा रोहीनाथ नयी बस्ती की ओर देखता सोच रहा था। डाल-डाल आक का झुरमुट गोल होकर उगा है, फीके बैंजनी फूल भरे हैं। पास में एक लम्बी गैंती पड़ी है। आक के पौधे पर हलद तितली और लम्बे-लम्बे भँवरे बैठे हैं। पास में एक अकेला कुल्थई रंग का कुत्ता है। बीच-बीच में इस झुरमुट से उस झुरमुट की ओर दौड़ जाता है। झूठमूठ ही हलचल खड़ी कर रहा है, तितली और भँवरे आक को छोड़ उसी के ऊपर-ऊपर उड़ रहे हैं।

"आ, पोटल," रोहीनाथ ने कुत्ते को पुकारा, "शैतान मत बन, थिर होकर बैठ!" पोटल छलांग भरकर दौड़ आया, कपड़े का सिरा मुँह में दबाकर वायु लगने की तरह सिर को बायें-दायें जोर से झटकने लगा।

कितनी बड़ी बाढ़ आयी थी, पोटल का तब जन्म भी नहीं हुआ था—रोहीनाथ ने सोचा।

"छोड़-छोड़!" उसने पोटल की पीठ को धीरे से थपथपाया। पोटल ने पीछे की ओर छिटककर फिर आगे कूदकर ठीक उसके मुँह के पास मुँह लाकर चाट लिया, बाद में उसके चारों ओर दौड़-दौड़कर नाना दिशाओं से उसके चेहरे और देह पर जगह-जगह चाटने लगा।

"धेत् धेत्, तू उठता है या नहीं—" वह खड़ा हो पोटल की ओर कंकर उठाकर दूर फेंक रहा था। वो उधर दूर तटबन्ध के ऊपर कोई धूल का बगूला-जैसा आ रहा है, घूमता-घूमता किनारा पार कर कछार पर उतर गया है। पोटल उधर ही दौड़ गया।

गाँव की ओर से एक लाल कुतिया दौड़ी-दौड़ी आ रही है। पतली कमर, पतली ही देह, नवेली-सी। पोटल ने दिशा बदली और उधर दौड़ गया।

गाँव की ओर से धीरे-धीरे घिसटता-घिसटता-सा चला आ रहा है 'नाला,' कभी वह पाण-बस्ती का विख्यात कुत्ता था। पिंजर के हाड़ हिल-डुल रहे हैं, देह पर रोम नहीं, सारी चमड़ी पर घाव भरे हैं, गरदन लड़खड़ा रही है। वह खड़ा-खड़ा आगे-पीछे झूलने लगा। और फिर धड़ाम से गिर पड़ा।

सच तो, पोटल भी 'नाला' की सन्तान ही तो है! 'नाला' कहकर बुलाते हैं, मानी सिंह-कुत्ता। कितने कुत्तों को गरदन से उठाकर झकझोरकर फेंक दिया है उसने। बन्दरों को तो यों लपक लेता था। बकरियों की गरदन मरोड़ कितने झगड़ा-फौजदारी खड़ी कर दी है। दस बरस में ही उसका खेल पूरा होने को आया। गिर पड़ा था, फिर उठ रहा है, और एक दिन जो गिरेगा तो फिर उठ नहीं सकेगा।

रोहीनाथ ने गैंती उठाकर कन्धे पर रखी। मन में आगा-पीछा हो रहा है कि

जाऊँ या नही । उसके दाहिने पैर में कोई ठूँठ टकराकर छोटा-सा घाव हो गया है, पाँव में दर्द हो रहा है, चलने पर पीड़ा होती है। इस वेला फिर वही पोखरी की खुदाई का काम। उसके जाते न जाते घर पर दाल-चावल-सब्जी-नमक-तेल का 'सीधा' आकर रखा होगा। ऐसे ही चलता आया है। डेढ़ बरस हो गया, काम करेगा तो खाने को मिलेगा, न करेगा तो भी। तभी तो जोर आता है। काम किये बिना वह भोजन पचेगा कैसे? दस लोगो का धन है, अकेले उसका ही तो नही। सच, जैसे शिव-निर्माल्य हो, ठगाई से वह हज़म नही होनेवाला। वैसे ठगेगा भी किसे? धन बढने पर उससे दस जनों का उपकार ही होगा। हल, बगीचे के लिए गड्ढे खोदना, खाद पटाना, बड़ी-बड़ी सब्जी की बाड़ी के लिए बाड़ खड़ी करना, घर बनाना, घरों पर छावनी-छप्पर करना, अनेक काम है। दम लेने तक की फुरसत कहाँ!

सोचते-सोचते वह धन्ध ही धन्ध चलने लगा। उसने दूल के आगे कहा था, "इतना काम छोड़ घर पर चिपके रहना सामलाती के प्रति बेईमानी होगी, द्रोह होगा, पाप होगा, सामलाती आय कम हो जायेगी, सब पर क्षति का परिणाम होगा।"

दूल ने कहा था, "अकेले तुम न गये एक वक्त तो इतनी क्षति हो जायेगी? और कोई नही है क्या? तुमने अकेले ही सारा सिर पर लिया है?"

उसने उत्तर दिया था, "इस तरह सोचने पर ही तो घर टूटता है। सब यही कहकर यदि घर पर बैठें तो खूब सामलाती चली!"

बाद में वह काम पर आया था। पर कदमो में वही लड़खड़ाहट। अतः वह अलसा रहा था। सोच रहा था कम से कम इस वेला रह जाता—। परन्तु फिर वह स्वयं को दिलासा देता-सा आगे चल पड़ा। सोचा, होड़ कर लोग वहाँ तो काम में लोट रहे है, कि कौन आगे बढकर अधिक कर सके। सबकी देह है, सिर है, पर काम करने के उत्साह मे भूख-प्यास भुलाकर सब जुट पड़े है, अब अपने कष्ट को बड़ा मानकर पिछड़ जाना कितने शर्म की बात है! फिर खबर पूछने घर आ पहुँचेंगे कि क्या हुआ, फिर एक-एक को पैर उठाकर दिखायेगा; समझायेगा। क्या सोचेंगे वे! तुलसी लेकर ठाकुरजी के घर में सबने नियम लिया था—खाट में डाल दे ऐसा रोग न होने तक कोई काम का हरजा नही करेगा।

कुनकुनी धूप मे कन्धे पर गैती लादे चोट खाये पैर को घसीटते-घसीटते, लँगड़ाता-लँगड़ाता जब वह चला जा रहा था, उसके मन का उत्साह और पुलक बहक जाती। जाने कितने ही बरसो से मशीन की तरह वह अपना काम करता-करता ही तो जीवन बिताता आया है; सुख पाया है, परन्तु यह उच्छ्रित आनन्द नही मिला था। बिना खाये-पिये पसीने में तर-बतर धूप में जलते-जलते वह गाँव में रामनवमी की यात्रा के लिए रावण का मंच बाँधता। वह राम-लखन-सीता के लिए पत्तों की कुटिया बनाता, पंचवटी सजाता, बाहर छावनी डालने के काम में लोट पड़ता, अण्टी से निकाल पान की गिलौरी मुँह में डालता, काँटो की तरह दाढी पर हाथ फेरते समय

कभी-कभी उसका मन आनन्द में भर उठता। यह काम सचमुच जैसे उसी तरह का लगता है, वरन् उससे भी बढकर। रामनवमी या रास या झूलन या भागवत-सप्ताह तो बरस में एक-एक बार—पर यह सुख तो अब सदा का है, जिस दिन पाटेली गांव का इधरवाला भाग मिलकर एक हुआ, उस दिन से ही है।

लोग आपस में कहते तो हैं—"नखिया के बाद रोहीनाथ! वह कोई कम काम करनेवाला है!

नखिया के प्रति उसके मन में कोई ईर्ष्या नही। जाति में पाण (डोम) है, उमर में उससे कितना छोटा होगा, पर उसमें उत्साह भी है और उसके मल्ल की तरह देह का गठन भी है।

अब घर-घर में नखिया का नाम है—"यह नखिया ने किया है। देखा कितना सुन्दर है!"

"नखिया यह कह रहा था।"

"नखिया को बुलाओ।"

सबसे बढ़-चढ़कर नखिया ने नाम किया। पर थोडा ही सही, और कई लोगो के नये गुण भी फैल गये। एक-एक दिन की बात सोचें तो एक-एकाकर कई लोग इस तरह आँखों के आगे आ जाते हैं। वे सब गाँव-भर के उपकारी भाई है, सब अपने-अपने उपाय से काम में जुटे हुए हैं। स्नेह बढ़ा है, आनन्द बढा है।

आया था फूलशरा का प्रभाव, भयंकर बाढ़ की परवाह किये बिना, जान हथेली पर लिये, परोपकार करने पहले वे ही लोग आकर पहुँचे थे, बाद में और लोग आये थे, परन्तु बक्रेश्वर के टीले पर का दिन—वह भूल न सका।

इधर पाटेली गांव में पहले से ही काम कर रही थी सिन्धु चौधरी की बेटी छवि। अजीब थी वह बेटी भी! अब भी तो वह उस गाँव का जीवन-प्राण है। उसके साथ-साथ गाँव की और भी कितनी बहू-बेटियाँ निकल पड़ी थी। उनके पीछे-पीछे खुद सिन्धु चौधरी, गांव के और भी कितने ही बाल-वृद्ध-युवा।

दोनों स्रोत मिल गये थे—फूलशरा और पाटेली, उससे उपजा नया समाज, सब सामलाती में चलेंगे, डोम नही, जोगी नही, ब्राह्मण नही, कायस्थ नही, जिसकी मरजी हो मिले इस सामलाती में, खेती-बाड़ी, रोजगार-धन्धा सब मिलाकर एक परिवार, इतने हाथ-पैर, इतने दिमाग सबके परिश्रम से जो मिलेगा सब एक जगह होगा, बाँट-चूँटकर खायेंगे और सब चलेंगे, पोसने-पालने, हानि-लाभ के लिए सामलात ही दायी होगा, सब उसी सामलात के, सामलात उन सबका।

कैसे यह सम्भव हुआ, आज अचानक सोचकर बताया भी तो नही जा सकेगा, पर हुआ तो! सब मिले भी नही, गाँव में कई परिवार अभी भी आगे की तरह रहते चले आते हैं। पर सारे सामलात में हुए कुल साठ परिवार, और कई लोग इधर झुक रहे है। डेढ़ बरस भी हुआ नहीं, एक नयी सृष्टि।

दूर हो-हल्ला सुनाई पड़ रहा है, शोर आ रहा है। वहीं वे काम कर रहे हैं। रोहीनाथ के मन में छन् से हुई। पैर का दर्द भूल गया, मन में उल्लास भर उसने लम्बी आवाज लगायी, "हो....ओ ओ...."

वे दूर हैं, फिर भी प्रतिध्वनि की तरह उसकी आवाज लौटती सुनाई पड़ी—"हो....ओ....ओ...."

उसकी उत्तेजना बढ गयी, पैरों की चाल तेज हो गयी।

मन ही मन मुसका उठा। उसके जीने का उद्देश्य है, वह अकेला नही या दुकेला नही, वह अनेक है। उसके गढ़ने के काम का कोई अन्त नही, एक काम पूरा होते ही दूसरा काम तैयार।

अपना साथी, परिवार या गाँव कहाँ से समझेगा ! इस शक्ति का मूल ! कहाँ पायेगा उसका अन्त !

कन्धे से कन्धा लगाकर काम कर रहे हैं आदमी, अतः अपने आप यह पहाड़ उठ गया है। बाढ में सारी सृष्टि का सत्यानाश हो गया था, पर अब उसके और वर्ण-चिह्न कही नही। उन्होंने रात-दिन एक कर बालू हटायी, जमीन खोद-खाद ठिकाने लगा रहे है, कतार की कतार नये घर खड़े कर रहे हैं, पहले से अच्छे, खुले, साफ-सुथरे। जोगी-बस्ती के पास पाण-बस्ती, वहाँ भी वैसे ही घर, ऊँचा चबूतरा, तुलसी-चौरा, अब और टूटी-फूटी मड़ैया नही, बांके-टेढे जरा-जरा से आँगन नही। खुला रास्ता। दो बस्तियों के बीच सामलाती घर कतार के कतार, सामलाती गोदाम-घर, जहाँ धान रखा जाता। सामलाती भण्डार, नाना चीजें भरी हैं, चावल, दाल नमक, तेल, कपड़ा-लत्ता। यहाँ तक कि जरूरत का काठ भी सहेजकर रखा है, उसी बीच सामलाती बस्ती के उत्तर की ओर एक जगह सामलाती गुहाल, गाय, भैंस, भेड, बकरियाँ। सामलात के झुण्ड एक साथ चरने निकलते या लौटते समय देखने-भर से पेट भर जाता। सामलाती बैलगाड़ियाँ बस्ती से बाहर जाती, बस्ती को लौट आती। बडी-बडी बाड़ी-बगीचा घेरे है, बडे-बडे बाग लगाये गये हैं, जमीन के बीच असंख्य मेड़ या बाड़ नही, पानी रहने या निकालने की सुविधा देखकर चकबन्दी कर खेत बनाये गये है। भेष या साफ-सुथरापन देख कोई नही कह सकेगा कि कौन जोगी है और कौन डोम। डोम कभी गौ-मांस खाते थे। सच, वो बात जैसे याद भी नही।

जोगी-बस्ती में मुर्गा खाना नही चलता, अतः वे स्वयं ही जान-बूझकर न खाते हैं और न पालते हैं। बस्ती में तीन कुएँ है, मझले कुँए से पाण-जोगी दोनो पानी भरते हैं। एक जगह साँझ को कीर्तन होता है, पाणो के ढोल-महुवरी के साथ जोगियों का बेन्देरा स्वर मिलाता, सामलाती में और भी कई जाति के लोग है, जो लोग अपनी सम्पत्ति-बाड़ी भी सामलाती में मिलाकर अपने-अपने घरों में रहते है, उनमें से कोई चला जाता तो उस संकीर्तन पंगत में मिल जाते।

देखते ही देखते अपने आप समय बदला है। सिन्धु चौधरी की अवैतनिक चटशाल

और भी बढी हैं, वहाँ सामलात-भर के बच्चे हैं, फिर गाँव के और भी कई बच्चे आते हैं।

वह काम चल रहा है। एक साथ पचासों लोग होंगे। बीस-तीस स्त्रियाँ। गैंती उठती हैं, गिरती हैं। धूप की उन्हें कोई परवाह नही। श्रम की परवाह नही। उन्हीं पसीने में तर-बतर पास-पास तगड़े लोगों को देख रोहीनाथ की आँखें मानो लुभा गयी, छाती लुभा उठी।

साँझ के समय दुकानदार हरि साहू आया। साथ में आर्त अमीन हैं, अगणिराय हैं। ऐसे ही कितने देखनेवाले आते रहते हैं। हरि साहू हँस रहा है, उसकी छोटी-छोटी आँखें टिमटिमा रही हैं। आर्त अमीन गम्भीर हैं। किसी जमाने में गाँव के जुगाड़िये अगणिराय के चेहरे पर अविश्वास की बाँको मुसकान। खुद रही पोखरी के पास पहले स्वागत किया सतुरा डोम ने। कहा, "पालागी!"

हरि साहू ने कहा, "गैंती कोई मिलती तो मैं भी यहाँ थोड़ा-बहुत झाड देता। दोगे, है क्या?"

अगणिराय ने कहा, "पर एक बात है—" उसकी तोंद की ओर हाथ दिखाया, "यह थोड़ी अड़चन करेगी, और उमर भी, साठ तो पार कर गये।"

आर्त अमीन ने जबान नही खोली, सूखे चेहरे से देखते रहे। हरि साहू ने कहा, "देखेंगे, देखेंगे, ठहरो!"

रघुनाथ चला आ रहा था, सामने पड़ गया। कहा, "सदा केवल ठहरो, ठहरो! सामलाती-सामलाती मुँह से कहते हो, इतना मतलब सबको समझाते हो, अपनी बारी आने पर वही अलग के अलग।"

गैंती चल रही हैं। कड़ी-चेमड़-मरदानी देह। मांसल नसें फड़कती, गोल-गोल लोहे के पिण्ड की तरह मास के पिण्ड हिल-डुल रहे हैं, नाच रहे हैं। पसीना टप-टप चू रहा है। यही उस देह का चरम गौरव है, श्रम की यही आभा उसकी ज्योति है।

प्रकाण्ड चौकोर के चारों ओर छाती तक की ऊँचाई पर माटी का ढेर लगा है। स्त्रियाँ टोकरियाँ भरकर ढो रही हैं। एक दल आ रही है, एक दल जा रही है।

वह वहाँ वेलिया रघुनाथ! बीच में वो नखिया डोम, वीर पुरुष की तरह मिट्टी के साथ लड़ रहा है, उसके चौड़े कन्धे मानो और भी चौड़े हो गये हैं। गैंती को ऊपर उठा नचाकर गम्भीर हुँकार करते-करते चोट कर रहा है। उसके पास वो रतना डोम है, तसँमा की तरह लगा हुआ है। जुटा हुआ है धोबी जुजेष्टी सेठी, उसकी ठोढ़ी के सफ़ेद बाल चाँदी की तरह चमचमा रहे हैं; और बिका मुदुली, चेमँई बेहेरा, कण्डरा कुलि मलिक, यदु बराल, घन परिडा, भगत महारणा, सदा गोछेइत, नाभ पण्डा, चन्दरा अहीर, नारण महान्ती हैं। सुदर्शन दास का लड़का दासो भी गैंती लिये माटी खोद रहा है, पहले कितना चुलबुला था। उसके पिता अब भी सामलाती को पसन्द नही करते, परन्तु वह अपनी श्रद्धा से सामलाती काम में मिल गया है। ऐसे ही कितने चीन्हे-चीन्हें चेहरे!

अन्यान्य स्त्रियों के साथ मिलकर टोकरी में माटी ढोकर ला रही है छवि, मिन्धु चौधरी की बेटी। आँखों को सहन हो गया है, परन्तु यह रूप देख सम्भ्रम से सिर झुक जाता है।

जमाना उलट गया है!

काम नहीं, मानो समुद्र पुकार रहा है। रोहीनाथ उसमें मिल गया। अगणिराय ने हरि साहू के लिए उत्तर दिया, "बाढ़ के समय से पोखरी खोदने तक इतना दे-देकर भी साहूजी, तुम्हारी आकांक्षा मिटी नहीं कि इनके साथ सारी सम्पत्ति सामलात करने की बात कहते हो?"

हरि साहू ने कहा, "नहीं, नहीं, कौन क्या ढेले दे रहा है जो इतना भर रहा है? किसने दिया? किसने लिया? यहाँ किसका क्या है?"

सतुरा डोम ने कहा, "ये बात ही कितने साहस की हैं! आप धरमी पुरुष हैं! गरीब-दुखियारों के लिए आपका भण्डार खुला है। सामलात में होना या न होना तो अपनी रुचि की बात है, मन की बात है, जिसकी जैसी इच्छा।"

आर्त अमीन ने इतनी देर बाद मुँह खोला। कहा, "अरे गाँव-भर का खूँटा एक है। वह ढरक गया तो समझो, गज उठ गया। सब एक साथ पागल हो जायेंगे।"

हरि साहू ने कहा, "यह जीव अपने साथ कलह कर रहा है। हामी भरता है, फिर सत नहीं पूरा पड़ता, पिछड़ जाता है। पर यह युद्ध और अधिक दिन नहीं चलता दिखता, वरना मन यहाँ क्यों खींच लाता? देखो ना? बस समझ लो यह चन्द्रभागा नदी में डुबकी लगाना[1] है, डुबकी के लिए मन पुकारता है, पास तक जाता है। फिर सोचता है ठण्ड लगेगी, रात है, जाड़ा है।"

अगणिराय ने हँसकर कहा, "हाड़ कँपाती ठण्ड, रात तीन पहर की डुबकी। और पानी भी कैसा है? "क्या कुछ तैर रहा है उसपर?"

हरि साहू ने कहा, "क्या तैर रहा है तुम छानते रहो, देखते रहो जी-भर, मेरी आत्मा आवाज देगी तो मैं डुबकी लगा सकूँगा।" बात घुमाकर कहा, "अखबार में क्या निकला है, जानते हो? फिर एक टू।" हरि साहू की अखबार के प्रति आसक्ति सब जानते हैं, वही उसका विलास है।

आर्त अमीन ने कहा—"टू?"

हरि साहू ने कहा, "फिर किसी ने वह एटम बम परखने के लिए फोड़ा है किसी सूने बालूचर के अन्दर। वह विष हवा में उड़ते-उड़ते आ रहा है।"

सुननेवाले जमे थे। हरि साहू ने कहा, "सब अपने-अपने बढ़ने की चेष्टा में अपना-अपना रास्ता पकड़ेंगे तो यही होगा। एक साथ मिल-जुलकर एक घर की तरह इस सारे जगत् को जोर लगाने की जरूरत है। हम काले-गोरे-हलद-भूरा सब एक घर के हैं, ये

---

१. माघ शुक्ला सप्तमी के दिन कोणार्क के पास चन्द्रभागा नदी में सूर्योदय से पूर्व डुबकी लगाने का माहात्म्य है।

एंटम-सेंटम हाथ-हथियार सब पानी में फेंककर आओ, यह विज्ञान-अज्ञान जला दो, इसे बन्द कर दो, ताकि हम शान्ति से रहें।"

"सच ! सच !" लोगों ने पारी सँभाली।

अगणिराय ने हँसकर कहा, "तुम्हारी आवाज़ वे सुनें तो कुछ हो।"

हरि साहू ने कहा, "मतलब ?" वे दहाड़ उठे, "ये आदमी एकजुट होकर यहाँ आवाज़ लगायेंगे तो आकाश में इन्द्र का आसन भी डिग जायेगा, अनन्त के फन पर महापुरुष का आसन हिल उठेगा, कहते हो सुनेगा नहीं ?"

साँझ डूबती-डूबती जा रही थी। धूल उड़ाते लौट रहे थे गाँव के सामलाती के झुण्ड, साथ में चरवाहे भी थे। हरि साहू उधर ही स्नेह से देख रहा था। बिलबिलाता-सा कहने लगा, "मेरे गुहाल में से एक जोड़ी बैल कल इनके साथ शामिल होगा और एक दुधारू गाय भी। कल भोर में...."

अगणिराय, आरत अमीन ने एक-दूसरे की ओर देखकर नाक-भौं सिकोड़ी, औरों ने हर्षध्वनि की। बाद में सबके कान खड़े हो गये, रास्ते की ओर से हुँ-हुँ गाऊँ-गाऊँ की आवाज़ नज़दीक आती जा रही थी। गायें भिड़क गयीं। बाद में जीप दीख गयी। आ रही है उधर ही, गड्ढे में से लोग निकल पड़े और उधर खड़े देखते रहे। जीप आकर थम गयी। ऊपर का आड़ा काँच लकीर-लकीर हो फटकर चिपका हुआ, एक तारे के चित्र की तरह, दिख रहा है। नीचे रोशनी का एक काँच नहीं था, मानो एक आँख से कानी है और वहाँ खोखर है। पिछवाड़े में चीजें भरी हैं और तारपुलीन से ढँकी ट्राली जुड़ी है। तीन जने उतर पड़े, पीछेवाला चपरासी की पोशाक में है, मझला धोती-कमीज़ पहने प्रौढ़ सज्जन, और आगेवाला गोरा हट्टीला लम्बा छरहरा आदमी, चेहरा दोनों ओर पुँछा होने की तरह, उनका फीका मटियाले रंग का पैण्ट, उसपर लम्बी बाँहोंवाली चमकती तोतई रंग की हवाई, मुँह से सुलगती सिगरेट को बाँये हाथ की तर्जनी और मझली अँगुली के बीच पकड़ वे बोले, "यही पाटेली गाँव है न ? मैं विकास कर्मचारी हूँ।"

रवि के मित्र विकास-कर्मचारी विपिन ने रात वहीं सामलाती बस्ती में काटने का फ़ैसला किया। मुखी साफ़ बैठक में उन्हें ठहराया गया।

चपरासी ने विपिन के कान के पास झुककर फुसफुसाते हुए कुछ कहा, और विपिन क्लान्त की तरह पीछे की ओर ढुलककर छान की तरफ़ ताकता सिगरेट का धुआँ छोड़ने लगा। बाद में सामने देखकर हँस पड़ा, "क्या इस गाँव से मुर्गों का बिलकुल वंश ही साफ़ हो गया !"

सदा गोछेड़त ने हाथ जोड़, सिर नवा अति विनय से कहा, "जी हुज़ूर, पहले

रखते थे, झुण्ड के झुण्ड थे। रुपये-दो रुपये लेने न लेने की कोई बात नहीं, आप कोई सदा थोड़े ही पधारते हैं। ये रुपये लेकर कौन-से हम पर गढ़ा कर लेंगे या बिना लिये कौन कंगाल हो जायें...।

विपिन ने हँसकर भगरामी से कहा, "नहीं, नहीं, दाम दिये बिना हम चीज नहीं खरीदते। क्यों, शोर, दाम की बात नहीं है तो ?"

सदा गोछैत ने कहा, "हुजूर, क्या दिये देते नहीं ? बाढ़ में तो सब बह गये, उसपर हमारा यह ठहरा सामलाती गाँव, यहाँ के लोगों मुर्गा नापसन्द करते हैं, एक साथ जब हम सामलात में हैं तो अलग से कुछ करने से फायदा ?"

विपिन कौतूहल से आगे उचककर उठ बैठा। यह धारणा उसे खूब विचित्र लग रही थी—सामलाती गाँव ! डोमों ने जोगियों को धर्म का ध्यान रखकर मुर्गे नहीं पाले।

उसने कहा, "परन्तु तुम लोगों ने क्या सामलात बनाया मुर्गा छोड़ने के लिए ? तुम लोग आगे और आगे बढ़ने की बात कर रहे हो पर खिसक रहे हो पीछे, क्यों ? मुर्गे का मांस, मुर्गे के अण्डों में कितना बल है, उसे क्यों भूल जाते हो ?"

उसके निचले कर्मचारी टंक बाबू ने उसकी बात का समर्थन कर जल्दी-जल्दी सिर हिलाते हुए कहा, "सचमुच, बात तो ठीक है, तभी ये सारे पुष्टिकर खाना खिलाने और बाँटने का भार महिला समिति पर दिया जाता है।"

विपिन ने कहा, "तो मैं नोट कर लेता हूँ कि आप लोग महिला समिति का गठन करेंगे और फिर महिला समिति मुर्गे पालेगी।"

बूढ़े सतुरा डोम ने खड़े होकर कहा, "हुजूर एक बात है। औरतें इस काम में क्यों फँसेंगी ? वे तो ठहरी घर की लक्ष्मी !"

विपिन ने कहा, "अरे बाबू, वे ही घर की लक्ष्मियाँ मुर्गा खायेंगी, अण्डा खायेंगी, गोल-मटोल होंगी, सब कामों के लिए मजबूत होंगी।"

सतुरा ने कहा, "पेट बढ़ेगा, हृदय से दया नाम का शब्द तो गुम जायेगा।"

रघुनाथ ने कहा, "माँ-बाप-जैसे देख-सीखकर बच्चे भी वैसे ही होंगे। ये बच्चे जब आदमी होंगे, अपने बच्चों को पालेंगे, और किसी की ओर देखेंगे भी नहीं। भाई-भाई अलग होंगे, घर टूटेंगे, कलह-झगड़ा बढ़ेगा। आमिषता अपना स्वार्थीपन सिखाती है, हिंसा सिखाती है। देह को पुष्ट करने से क्या हुआ, मन को तो बिगाड़ ही देती है, उसी का नाम तो है 'कढ़ी बिगाड़'।"

"यह तो अच्छी बात है। तब फिर मछली क्यों खाते हो ?"

रघुनाथ ने कहा, "वह न खायें तो और भी अच्छा होता। इस पृथ्वी पर कोई अगर मास-मछली न खाते तो स्वतः दया-धर्म बढ़ता, इतना युद्ध-कलह-जंग होता नहीं।"

विपिन ने कहा, "तो सुनो, मुर्गे के बारे में न चाहें, हवा तो अपने मन से

फैलती है, स्वतः आयेगी। यह बात अगली बार पर रही। अच्छा, कहिए, यहाँ पहले एक पंचायत की जरूरत है, आप लोग अपने प्रतिनिधि चुनेंगे, वे बैठक कर हानि-लाभ का विचार करेंगे, उन्हें आप मदद देंगे। गाँव में विकास का काम होगा।"

सनुरा ने कहा, "हमारे यहाँ लिखा-पढ़ी कुछ नहीं है, पर हम सब मिलकर एक परिवार सरीखे सामलात में चलते हैं, अबतक हममें अन्तर आया नहीं, सबका एक ही मत है।"

टंक बाबू ने कहा, "लिखा-पढ़ी न हुई तो फिर काहे की पंचायत हुई? क़ानून के मुताबिक कौन है आपका प्रतिनिधि? दायित्वधारी कौन है?"

अनेक आवाज़ एक साथ आयी, "हम सब!"

विपिन ने कहा, "अरे बाबू, यहाँ विकास कार्य के लिए जब सरकार ऋण-रुपये देगी, तब दस्तख़त कौन करेगा?"

सदा गोछेइत ने कहा, "सरकार हमारी माँ-बाप है, हम सब मिल गये तो सरकार! हम चाहते हैं कि पहले हमारे हाथ-पैर काम करें, ख़ुद जो कर सकें सो कर गुज़रें, फिर सरकार से मदद लेने की बात आती है। सरकार हमपर अगर दया करे तो अनुष्ठानों की स्थापना करे, जैसे कि अस्पताल, पशु-चिकित्सालय, कृषि-फ़ार्म और नाना प्रकार के पाठ बताने, बुद्धि देने के अनुष्ठान। हम अपना काम करते जा रहे हैं, सरकार अपना उपकार बरसाती जाये।"

विपिन ने कहा, "आप लोगों के पास पैसों का उतना बल कहाँ कि क़ीमती चीज़ें ख़रीदकर जल्दी-जल्दी उन्नति करते जायेंगे? इसके लिए आपको ऋण लेना पड़ेगा। केवल अपने सींगों से माटी खोदते-खोदते युग बीत जायेंगे, आपके पास धन कहाँ?"

रोहीनाथ ने कहा, "माँगकर खाते-खाते तो आधी उम्र बीत गयी, अब खटकर खाने को जी करता है।" सब हँस पड़े।

सनुरा ने कहा, "हुज़ूर, केवल हमारे गाँव में दो दिन टिककर देखें—"

टंक ने कहा, "हाँ, और नहीं तो क्या? सात हज़ार तीन सौ गाँवों में तुम्हारी यह एक बस्ती! हुज़ूर के यहाँ दो दिन रुके बिना थोड़े ही चलेगा!"

सनुरा ने कहा, "हमने तो एक बात जानी है, पहले मन एक हो, श्रद्धा एक हो, सुख-दुख सामलाती हों, सब इस बात को समझें कि वे एक नहीं दो खण्ड हैं।"

विपिन ने कहा, "मना कौन करता है? योजना की यही तो नींव है, असल में।"

रघुनाथ ने कहा, "आप कहेंगे, पंचायत गढ़ो, हम तो ख़ुद पंचायत हैं। आप कहेंगे टिकस बैठाओ, हमारा तो सब सामलाती हैं, सारी कमाई समझें पंचायत की। आप कहेंगे, लोगों को ऋण देन-लेन के लिए भण्डार करो, सोसायटी करो, हमारी तो सारी सम्पत्ति मिलकर भण्डार, सोसायटी, उसे चाहे जो नाम दें। सब सबका, सत्र तो सामलाती काम करते हैं। जो मिलता है बाँटकर खाते हैं, जो उबरता है वह भी सब-

था। यही बीज हम लगा रहे हैं, फिर कोई बड़ी योजना आयेगी, हम कोई इनकार करते हैं ?"

विपिन ने कहा, "ये तो आदर्श हैं। पर माटी-गारे की दुनिया में कितने दिन टिकेगा ?"

मथुरा ने कहा, "अगर यह न रहा, तब किसी योजना के लिए बीज कौन-सी रहेगी ?"

विपिन ने कहा, "बहुत बड़ी-बड़ी तरह की बातें कहे जा रहे हो, कानों को अच्छी लगती हैं। पर संसार में जैसा होता है, जो चलता है, वैसी बातें करो। ऋण लेने को लोग लट्ठमलट्ठा हो रहे हैं, और आप लोग उलटे विरह कर रहे हैं ?"

मथुरा दबा नहीं। बोला, "पैसा धन सारे अनर्थ की जड़ है। लोग आलसी होंगे, हाथ पर हाथ धरे 'आ' किये बैठे रहें कि कब ऊपर से बरसे और काम चले। अपने-अपने बीच वाद-विवाद दिखाई देगा। मुफ्त में क्या हो सकता है सो तो परखेंगे भी नहीं। और एक बात है बाबू, जिस थोड़े-से को पाने के लिए परिश्रम नहीं करना पड़ा, उसकी सही कीमत क्या है, उसे कैसे गांठ बांधकर रखा जाये, उससे किस तरह सोलह आने उपकार उठाया जाये—इस बात को लोग बूझेंगे तो ? अपने हृदय के अन्दर से विचार न निकलने तक आप बाहर के कितने रखवारे भेजेंगे ?"

विपिन ने कहा, "सो तो ठीक है, पर आपका सोचने का रास्ता थोड़ा कैसा तो अटपटा-सा लगता है। कुछ उलटा-पुलटा-जैसा लगता है।"

रोहीनाथ ने कहा, "उसमें क्या है ? आप भी हमारे साथ बैठकर सोचें, हमारे विचार भी साफ़ हो जायेंगे। जो अच्छा दिखेगा वही होगी हमारी योजना। हमारे लिए क्या अच्छा है, हमें क्या जरूरत है—यह बात तो पहले हम स्थिर करें। योजना तो शुरु होगी पहले किसी प्राणी से, उससे फिर सारे गोठ-भर के लिए, और तब देश-भर के वास्ते।"

फिर विपिन और टंक ने एक दूसरे की ओर देखा। विपिन ने कहा, "जिसने तुम्हें समझाया है, अच्छी तरह समझाया है। शुरुआत भी कोई बुरी नहीं, बस काम हो सके तब हो।"

बाद में बात बदलकर कहा, "पानी पम्प बैठाओ, इंजिन से चलेगा, अच्छी फ़सल होगी।"

रघुनाथ ने कहा, "खेती जितनी है वह तो ढेकली के लिए ही कम पड़ेगी, सारे खेतों में ढेंकली लगा दी है, कुआ (चुंडा) खोदे गये हैं। हाथ से न उबरे तब तो मशीन लगे।"

विपिन ने कहा, "चूरा दूध एक डिब्बा दिये जाता हूँ, उबालकर बच्चों को पिला देना। पैसे नहीं लगेंगे, यह दूध का चूरा बाँटने के लिए विदेशों से आता है। अमेरिका के लोगों ने हमारे देश के लोगों की खातिर श्रद्धा से भिजवाया है।"

कंगालीनाथ ने कहा, "यह श्रद्धा सदा रहेगी तो ? या यह चीज हमारी जीभ को भा गयी तो फिर कहेंगे कि खरीदो और खाओ।"

टंक ने कहा, "बहुत सन्देही लोग हैं ये तो !"

विपिन ने पूछा, "पाटेली गाँव में अमेरिकनों का क्या उद्देश्य हो सकता है ?"

कंगालीनाथ ने कहा, "हम तो उन्हें बिलकुल ही नहीं जानते। उनका कोई उद्देश्य है या नहीं, सो कौन कह सकता है ? पर, जो कोई कुछ कहकर उँड़ेल जाये, आदमी उसे यों ही ग्रहण कर ले ?"

विपिन ने कहा, "उनका देश धनी है। लोग खा-पीकर सुख से रहने के बावजूद उनके यहाँ बच जाता है। दूसरे अभाववाले देशों को सहायता करने के लिए आजकल कितने-कितने देश आगे बढ़ आ रहे हैं।"

कंगालीनाथ ने कहा, "कहीं चोप के अन्दर बंसी का काँटा तो नहीं ? तब फिर क्या होगा ? इनसे सहायता लेने पर ये मुँह फुलायेंगे, सहायता देनेवालों में लगेगी तेरी-मेरी, खुनस भी पैदा कर देंगे।"

हँसते-हँसते विपिन ने कहा, "आप तो बहुत तरक-मरक की बात करते हैं बाबू ! सुनते हैं तो टंक बाबू ? लो देखो गाँव के लोगों की बुद्धि। कहाँ से ये सारी बातें पढ़ आये ?"

टंक ने कहा, "अरे बाबू, इन बातों में क्या रखा है ? चूरा दूध पानी में घोल-उबालकर देश-भर के बच्चों को पिलाया जा चुका है। उनका वजन बढ़ता है, आप लोग भी लें, वही करें।"

सतुरा ने कहा, "हमने गायें रखी हैं, बकरी रखी हैं, कमो-बेस बच्चों का गुजारा हो ही जाता है, हमें वो नहीं चाहिए।"

रात बहुत अधिक हो चली थी। चपरासी बुलाने आ गया था, ठौर हो चुकी थी। विपिन ने कहा, "खैर जो हो, जी खोलकर बातें तो कर ली, फिर कभी और चर्चा करेंगे। यह आलोचना ही है, वैसे देखा जाये तो, योजना की मूल बात यह है कि पहले बात-चीत हो उसपर, कि किसे क्या सुहायेगा, किसे क्या रुचेगा, किसे क्या दरकार है, ये सारी बातें जानने के बाद योजना बनायी जाती है। नीचे से गढ़-गढ़कर ऊपर भेजी जाती है। इसके लिए आप लोगों को धन्यवाद। यहाँ जैसी गोष्ठी गढ़ी जा रही है, उसके बारे में मेरे मन में पहले से ही कुछ-कुछ धारणा है। फूलधारा के काम के बारे में मैं जानता हूँ। रवि मेरा मित्र है। यह एक नया रास्ता है, बाद में क्या होगा, मैं नहीं जानता। फिर इस पथ की मूल नीति, मूल चिन्तन और हमारे मतों में कई बातों के सम्बन्ध में मतभेद भी है, दोनों ओर से देन-लेन चलेगा, यहाँ भी योजना का कार्य होगा। मेरी इच्छा है, यहाँ योजना-कार्य आदर्श बनकर चले, ताकि और लोग भी देखकर सीखें। हम योजनावाले नाना उन्नति-मूलक काम कराते हैं ताकि उनसे लोगों में सामूहिक चेतना जागे, यहाँ तो सामूहिक चेतना का काम हो चुका है, उस पर विकास

का काम भी नहीं चल रहा है। रास्ता बहुत बाकी है, यह तो केवल शुरुआत है। कार्य की भी शुरुआत, और अपने सम्पर्क की भी शुरुआत, लम्बा बाकी रास्ता...."

विपिन खड़ा-खड़ा सारी कोठरी में घूम-फिर जाने में बिलबिलाने की तरह बातें कहे जा रहा था। उसके चेहरे पर उत्तेजना की आँच फैल रही थी, हाथ और हथेलियाँ झटक रहा था। हिल रहा था समूचा। वह अस्थिर-सा लग रहा था। टंक उठकर उसके चेहरे की ओर देखने लगा। वहाँ न मज़ाक करने की अपनी-सी हँसीवाली भंगिमा थी, न उसांस भरकर अलगाने की तरह मुद्रा थी, उसमें मानो कोई दीप जल रहा हो कहीं, बाहर उसी की चौंध आ रही है।

उसका यह रूप कभी-कभी टंक की आँखों में पड़ता है। यह अचानक निकलता तब टंक सोचता, यही, जो आदमी बँधी-बँधायी लीक पर सँभल-सँभलकर चलता है, चिकनी-चुपड़ी और नपी-तुली बातें कहा करता है, किस तरह ऊपर की सीढ़ी पर चढ़ेगा इस बात में बुद्धि लगाता है, उसमें भी छुपा है कोई एक पागल, जो उसकी आँखों में नये सपने तैराता है, दूर-सुदूर के सपने। उन्हीं सपनों को देखकर यह अधीर होता है। सचमुच जैसे, वह उड़कर जा नहीं पाता—इसी बात का उसे दुख है। तब टंक भी सहमकर रह जाता है। अपने ऊपरवाले के बारे में उसे भ्रम हो जाता है। वह अपने अन्दर देखता, ढूंढ़ता कि कहीं उसके मन में भी वही दीप न जलता हो, चाहे छोटा ही क्यों न हो। याद आता कि उसमें भी है दया, सहानुभूति। स्वाधीन चिन्तन है। अपनी वृत्ति के लिए उसे कितनी ही बातों को, कितने ही विचारों को आँख मूँदकर अपनाना पड़ा है। जैसे उसका भेष, वैसे ही। मुँह पर वे ही सारी बातें, रुचि में वही, काम में वही, परन्तु विपिन को इस अवस्था में देखने पर उसे याद आता कि स्वाधीन भाव से सोचने का उसका अपना ढंग था। जो दब गया है पर अब भी दीप है।

टंक का जीवन एक सामान्य श्रेणी का है। गाँव में कुछ थोड़ी-सी ज़मीन, जो बँटाई पर दी जाती है। इससे उसकी आमदनी चार महीने चलने लायक हो ही जाती। अपनी कमाई से शहर में छोटा-सा प्लाट ले रखा है। हालाँकि वह गड्ढा-भर है। कभी पैसे होंगे, गड्ढा भरा जायेगा, घर खड़ा किया जायेगा। बेटियाँ चार, बेटे चार, पढ़ रहे हैं। उनका भी ब्याह करना है। तब उसका दायित्व पूरा होगा। इन सबपर जितना खरच आयेगा, जोड़कर हिसाब करने पर लगता जैसे दो जनम में भी उतना कमा न सकेगा। फिर भी आशा है, कोई जादू कभी उसके जीवन में शायद हो जाये। वह जो सोचता है सो सब घटेगा, जादू की तरह सब कुछ कैसे न कैसे होता जायेगा। आशा करता हूँ, शहर में जीवन बिताता है, अपने-आपको रोककर तनखा में से पचीस रुपये 'संचय-योजना' में रखता है। उसके बाद और नहीं, हाथ खाली है। जो आया सब खर्च, बच गया कुछ हाथ-उधारी। उमर हो आयी सैंतालीस, दो बरस छिपाकर पिता ने स्कूल में नाम लिखवाया था। वह शुरू की झूठ भी उसके जीवन की योजना का एक अंग है, उस हिसाब से नौकरी के और दस बरस बचे। फिर याद आता, इस ढलती

उमर में अचानक अगर उसकी मृत्यु हो जाये तो उसकी पत्नी समेत इन आठ सन्तानों-वाले परिवार का क्या होगा ? आगे-पीछे कोई नहीं। फिर भी उसकी योजना अटूट है। गड्ढा भरेगा, मकान बनेगा, बच्चे आदमी होंगे। उसी आशा से उसकी पत्नी भी काम में लगी रहती है। देह घिसट-घिसटकर बाँस की फरचन की तरह हो गयी, ऐसे ही जीवन-भर। हमली और पखाल (बासी भात), किसी दिन हुआ तो दाल और तरकारी, तनखा पाने के बाद आठ-दस दिन तो जरा ठीक से चलते, जरा साँस आ जाती, कभी-कभार मांस या मछली भी नसीब होती। जो अच्छी-सी साड़ी अपनी स्त्री के लिए खरीदने की बात वह सोच रहा था, खरीद न सका, फिर बच्चों के लिए, अपने लिए—वो तो छोड़ो, गहने गढ़ाने की जो बात अपनी पत्नी की खातिर सोची थी, वह अधूरी ही पड़ी है; उसने अपना जो छुट्टी का समय परिश्रम में काट दिया है, उसी में मुरझा गया है वह, बिना उपभोग किये। शायद कभी अच्छे दिन आयेंगे, जब उसकी सारी आशाएँ पूरी होंगी, चैन मिलेगा, विश्राम मिलेगा। सब अंकुरित हो उठेगा। यद्यपि कैसे क्या होगा—उसे कुछ दिखाई नहीं पड़ता। इसी अधूरे विचार, इसी अधूरे सपने के बीच डूबकर वह चाकरी कर, कुटुम्ब का पेट भर, साधारण बुद्धि-तर्क-सन्देह और हिसाब से व्यवहार दिखाता चलता आया है। क्या करने से उसके मन की बात पकड़ में नहीं आयेगी, वह दूसरों के मन की बात जानकर नौकरी में ऊपर उठ सकेगा, कोई उसे दोष न देंगे, बुराई नहीं करेंगे, गुस्सा नहीं होंगे—इसके प्रति सावधान हो, घड़ी की सूई की तरह चलते-चलते वह अपने दिन बिताता है। उसके सारे सात-पाँच सिर्फ अपने स्वार्थ को ओढ़े हुए हैं।

स्वार्थ और सन्देह में जर्जर अपनी दृष्टि से वह सबको देख सारी बातों को पहले अविश्वास के तराजू पर तौलता है, फिर अपना मतामत गढ़ने की उसकी आदत हो गयी है। वह सोचा करता है, वह उसका शहरीपन है और फिर उसकी बुद्धि का परिचय है।

विपिन में नया रूप देखते-देखते वह बुद्धि खो गयी थी, उसके बदले में विश्वास आ गया था। लगता था कि इस सात-पाँच के हिसाब की ओट में सरल-सच्चा-सुन्दर और करुणामय बनकर अब भी कुछ है!

पाटेली गाँव के नये समाज को वह नयी दृष्टि से देख रहा था—मुग्ध हो रहा था।

. . .

बन्धमूल गाँव में बट महान्ती के जीवन की अभ्यस्त धारा में हुआ कोई परिवर्तन किसी की आँखों में नहीं पड़ा। बड़े बेटे कवि पुलिस-इन्स्पेक्टर पहले की ही तरह हैं। उनका परिवार उनके साथ-साथ। कभी मन करता, महीने-दो महीने में पत्र डाल देते, और बीच में कई महीने गुजर जाते बिना चिट्ठी आये भी। जब आती, उसमें पहले

लिखा होता—काम की कितनी भीड़ है, दाढ़ी बनाने को भी फुरसत नहीं—इत्यादि। बी. ए. पास कर छोटा लड़का रवि जिस दिन घर छोड़कर फूलशरा चला गया, लगा कि जैसे अब इस घर से उसका और कोई सम्पर्क ही न हो, यहाँ कोई काम ही न हो उसका। बीच में कभी आता तो एक-आध बेला ठहर जाता, फिर छटपटाता-सा चला जाता। जबतक रहता, घर में केवल नाम मात्र को होता, गाँव-भर की बस्ती-बस्ती में घूमता। कभी फूलशरा से आये होते कोई संगी। वे आते तो रवि का मन दूना बढ़ जाता। घर आता तो माँ के साथ सुख-दुख की बातें करता। वट महान्ती उसे दूर से ही देखकर चले आते, वह भी उनके आगे सिर नवाये गम्भीर होकर खड़ा रहता। एक-आध बात में उनके कहे का उत्तर उलटा देता, और चला आता, फिर बीत जाते महीने पर महीने, वह आता नहीं।

बेटे को अपने साथ जी खोलकर मिलने की सुविधा उन्होंने बचपन में कभी दी नहीं। तब मन में था कि वह डरे, भक्ति करे, तभी निर्देश मानेगा, आदमी बनेगा। तब वे अपने साथवालों को कहा करते थे, "एक आवाज से पेशाब न कर दे, वह क्या बेटा?" अब जी करता है, बेटा जी खोलकर बातें करता, डर या भक्ति को दूर रखकर उन्हें समझाने की चेष्टा करता, बातें सुनता, कुछ बातें कहता, पास में अधिक उठना-बैठना लगा रहता; पर यह बात उन्होंने मुँह खोलकर कभी कही नहीं उससे।

पहले की तरह सीधी गरदन, चेहरे पर वही कठोर ध्वनि, समान छन्द से ताल बनाये रख वैसी ही खड़ाऊँ की ठक-ठक आवाज, जमींदारी उठ जाये चाहे, खुदकाश्त जमीन, बाग-बाड़ी, पोखरी रख, रुपयों का महाजनी कारोबार बनाये रख, पहले की जो धाक थी वो अब भी रहे! वह सोचते, टूट भले ही जाऊँ, झुकूँ नहीं। आदतें भी पहले की तरह ही नपी-तुली—।

फिर भी खुद-ब-खुद कई बातों में रवि के साथ उनका मानो समझौता-सा हो गया था। फूलशरा के बारे में वे कभी मुँह नहीं खोलते। रवि के भविष्य को लेकर या उसके काम के बारे में उससे कोई चर्चा नहीं करते, उसे कभी बाध्य नहीं करते, न ब्याह की बात जबान पर लाते। अथच उसका भविष्य ही तो था उनका विशाल सपना, उसी के लिए तो कितने गणक-पुरोहित, कितनी पूजा-मनौतियाँ, कितनी सात-पाँच।

इस पुरानी ऐंठ को छोड़ देने का कभी विचार किया हो नहीं। तभी कोई फैसला नहीं कर पाये, ऋतु बदलने या मौसम बदलने पर आदमी जैसे अपने आप उसे ग्रहण कर लेता है और तदनुरूप अपना चलन बदलता है, यह प्रतिक्रिया सचमुच जैसे उसी प्रकार हो, अपने आप आयी है, अपने आप सह्य बन गयी है। उन्होंने कभी जबान नहीं खोली।

बड़े बेटे कवि की ओर आशा थी, पुलिस सब-इन्स्पेक्टर था, इन्स्पेक्टर हो गया, बेटी पर बेटा, फिर बेटी पर बेटा होकर चार सन्तानें हुईं। पर चाकरी और शहर मानो उसे एकदम निगल गया। गाँव की स्मृति, माँ-बाप को मानो मन से बिलकुल धो-पोंछ-

कर ही रख दिया। कभी-कभार सुधि लेने के बहाने एक चिट्ठी। बस, और कुछ नहीं। वह खबर भी मानो अखबार पढ़ने की तरह। उसके घटने में उनके मतामत की कोई जरूरत नहीं, वे बस सुनने के भागी हैं। वैसी ही अवांछित खबर उसने एक बार लिखी थी कि उसने 'ऑपरेशन' करवा लिया है कि अब और बाल-बच्चे नहीं होंगे। जो किया सो तो किया, खत लिखकर माँ-बाप को बताने की क्या जरूरत थी, कुछ समझ में नहीं आया। उसकी माँ ने रोते-रोते कहा था, "लड़के ने ये क्या विघटन कर डाला! कभी न सुनी, ऐसी बात! जान-बूझकर ऐसा!"

कवि ने उसके लिए नाना कारण लिखे हैं, नाना उदाहरण दिये हैं। उसने लिखा है कि आजकल देश में जिस प्रकार जनसंख्या बढ़ती जा रही है, उसे आयत्त किये बिना घोर-विपद्। मच्छर-मक्खी की तरह आदमी बढ़ेंगे, उनका पालन-पोषण करने को कुछ न होगा, ऐसी परिस्थिति में दो सन्तान ही ठीक है, चार तो बहुत अधिक हो गयी, उससे बढ़ जाने पर स्थिति काबू के बाहर हो जायेगी; अतः यह उपाय करना पड़ा। देश में सब बड़े-बड़े जाने-माने लोग यही उपदेश दिया करते हैं, इसके लिए कितने डॉक्टर और अस्पताल हैं। सैकड़ों पढ़े-लिखे लोग, बड़े-बड़े आदमी उसी उपाय से स्वयं और संसार को निरापद् कर रहे हैं। कितने मुखियों का नाम गिनाऊँ। बहुत अधिक सन्तान पैदा करने पर माँ का स्वास्थ्य खराब हो जाता है, पालन-पोषण की दिक बढ़ जाती है, अतः यह सहज उपाय है, और शास्त्र-सम्मत।

बट महान्ती ने अपनी स्त्री के रुआंसे चेहरे को देखकर कहा "रो क्यों रही हो? बहुकुटुम्बी सदा दुखी, पढ़ा-लिखा बेटा है, उसकी अपनी बुद्धि है, अपना विचार है।"

रोते-रोते उन्होंने कहा, "कौन-सा कुटुम्ब भरा आ रहा था इस कुनबे में? किसका पेट भूखा रहता था?"

इसका उत्तर भी उस चिट्ठी में लिखा था। कवि ने लिखा था—'अपने घर में पेट-भर खा, तन ढाँककर चलने लायक है, कोई मना नहीं करता, पर आजकल उतने से ही कैसे चलेगा? लोग खोजते हैं अच्छा खाना, अच्छा पहनना, पाँच और चीजें घर में हों। लड़के-बच्चे भी देश-विदेश जाकर नयी-नयी विद्याएँ सीखेंगे, अधिक रोजगार करेंगे, चाकरी के समय बड़ी चाकरी, कोई ऊँची नौकरी करेंगे।'

स्त्री को समझाने की चेष्टा कर बट महान्ती ने वे सारी युक्तियाँ पढ़कर समझा दी थीं। पर कवि की माँ धीरज न रख सकी। बट महान्ती खीझते-से कहने लगे, "तुम्हारा तो रोना-स्वभाव ही पड़ गया। मुँह आँव के दस्त हो रहे हैं, देह छड़ी हो गयी, जैसे छड़ी को साड़ी में लपेट दिया हो। उसपर अपनी देह की इतनी बेखयाली, खाने-पीने का कोई ठौर-ठिकाना नहीं, उसपर थोड़ा कुछ सोचा या सुना तो छूट पड़ी फिर आँखों से धारा। मैं अब और करूँ भी तो क्या!"

वे चुप पड़ गयीं, पर वह दृश्य कई दिनों तक बट महान्ती की आँखों के आगे

टिका रह गया। ठाकुरजी की कोठरी। सामने राटोले पर ऊँचे स्थान पर लाल शालू के कपड़े पर शालिग्रामजी की शिलाएँ, खास बनारस के बने पीतल के विग्रहों की जोड़ी, राधा-माधव, फूल मालाओं से सजे शोभायमान हैं। फूल, चन्दन, कपूर की आरती से घर महक रहा है। पूजा हो चुकी थी। अब बट महान्ती भागवत-पाठ करते। ठीक तभी डाकिये ने आकर चिट्ठी पकड़ायी। वहीं बैठे चिट्ठी पढ़ने लगे। बड़ी पीतल की आरती की थाली में पाँचों बत्तियाँ बुझने को थीं। नीचे पत्नी बैठी रो रही थी। बट महान्ती निर्लिप्त रहने की तरह छलना कर उन्हें प्रबोधना दे रहे थे। दरवाजे पर बिल्ली बैठी अपना मुँह कभी-कभी बढ़ाये दे रही थी, पूजा पूरी होने पर वह छेना-गुड़ के भोग पर मुँह लगाती। ठाकुरजी के आसन के पीछे चिलचट्टे मूँछें-सी कर रहे थे। सिर पर चिड़ियाँ फड़फड़ा रही थीं। दस बजे की धूप बाहर बरामदे तक आ गयी थी। उधर सब सुनसान, कोई आवाज नहीं।

याद आ गया, कवि की बड़ी बेटी सुना, उमर बारहवीं चल रहा होगा; उसके नीचे कुना, और फिर रुना, उसके बाद मुन्ना। सुन्दर नाक-आँख, घुँघराले बाल। गढ़न भिन्न-भिन्न होने पर भी एक-जैसी सुन्दर ठवनि थी। कवि का बचपन का चेहरा आँखों के आगे आ गया, छाती के अन्दर मोह भर गया, लगा मानो यह सृष्टि यही दोष है। कवि पराया हो गया, रवि पराया हो चुका। फिर खुद से पूछा, अपने बच्चे पराये क्यों होते हैं? अण्डा फूटा, चूज़ा बड़ा हुआ, पंख लगे, और वे फिर उड़ गये।

भागवत-पाठ में मन नहीं लगा। केवल घुमड़ रही थी भागवत की शिक्षा कि संसार अनित्य है, सुख-दुख अनित्य हैं, जो आता है सब चला जाता है।

फिर किसके लिए है यह इतना आयोजन, इतना परिश्रम?

रवि की माँ हाण्डी-हाण्डी-भर बड़ी बनाती, खटाई-अचार सहेज कर रखती। सुखाती तो आँगन भर जाता, मन मुताबिक बाँटती, उनका हाथ ठहरा खुला, फिर भी बरस-बरस का संचित किया हुआ रखा है, एक-एक कर भण्डार-घर में थाक की थाक सजी हैं। छीके से झूल रहे हैं—वैसे ही कितने बरसों का पुराना अण्डी का तेल, घी या गुड़।

केवल सहेजना-सहेजना—वह क्यों? किसके लिए?

भागवत की पोथी लेकर ठाकुरजी की बुझी आरती की ओर देखते हुए अपनी चिन्ता में डूबे-डूबे बट महान्ती में ज्ञान का उदय हुआ—आदमी सोचता है कि अपने स्वार्थ के लिए वह वृत्ति अपनाये है, परन्तु असल में वृत्ति ही अपने स्वार्थ के लिए आदमी को जकड़ती और कार्य में फाँसती है, खटाती है। वैसे ही वृत्ति है यह घर-गिरस्ती, यह खेती यह महाजनी, कौन उसका भोग करेगा—यह चिन्ता वहाँ नहीं उठती। अपने आप दिमाग चलता है, हाथ-पैर काम करते हैं, एक फसल पर और एक फसल करनी पड़ती है, एक घानी बड़ी उतारने पर एक और घानी बड़ी उतारने को हाथ बढ़ आते हैं। इसी तरह काम करते-करते उमर चुक जाती है।

वृत्ति से निकलता है धन्धा, उसी वृत्ति का चाकर, धन्धे का चाकर, जीवन-भर उसी सम्पत्ति का चौकीदार।

ठाकुरजी की ओर देखते अपना उपहास-सा करते हुए वे कहने लगे, "सब तो प्रभु तेरी ही लीला है, तुम इच्छामय हो, हम तो यात्रा के बूढ़े-बुढ़िया हैं, राजा-रानी या चैंती घोड़े की खोल है, भीतर तुम रहकर सब कराते हो, नचाते हो, अच्छा हुआ तो तुम्हारा खेल, बुरा हुआ तो तुम्हारा, मेरा सुख है न दुख है, लाभ है न क्षति है। फिर मुझे क्यों कचोटेंगे।"

'मैं करता नही, मैं खाता नही, मैं भोगता नही, मैं कुछ नही, बस यह गुजरती छाँव हूँ।'—सोचते-सोचते ममता और अभिमान से बट महान्ती दुखी हो रहे थे, सच जैसे केवल अपनी पराजय की ध्वनि हो, उसी के साथ याद आ जाता कि इस मन में नाना कामनाएँ थी, पूरी हो न सकी। पाँच बरस या दस बरस पहले सोचते समय मन की यह अवस्था खुद को नही दिखती थी।

सोचने पर मन में ज्योति-सी फैल जाती—कि संसार में बड़ा कौन है? जन या धन? काम-काज के बीच अनमने होने पर वही सूनापन मन को घेर लेता। लगता जैसे गीले गुड़ की हाण्डी में वे कोई अकेली चींटी हों, हाथ-पैर लिपट जाने के बाद एक जगह रहकर बस छटपट-छटपट लगी हैं, न आगे बढ पाते हैं न पीछे हट सकते है।

तभी याद आ जाता उमर में लगा घुन। ऊपर-ऊपर के तीन दाँत झड़ चुके है, नीचे के चार, सिर में चाँद बढती-बढती जाकर तालू के ऊपर तक चली गयी है, दोनों ओर जो कुछ भी बाल बचे हैं वे भी हलके हो आये है, उनमें फिर वैसी भाग सफ़ेद हो चुका। गरदन से छाती कितनी हट गयी, चमड़ी झूलने लगी, देह सूख चुकी। अपने चेहरे को देखने पर कभी-कभी याद आ जाता कि पहले यह चेहरा कैसा था। खुद को प्रबोध देने को जी करता—ऐसा तो यह हो चुका बरसों पहले से, यह एक स्तर पर आकर पहुँच चुका है और अब वही है, और बदला नही। उसके साथ-साथ जैसे उनका चेहरा अट्टहास से भर उठता, मन का सारा आश्वासन कही उड जाता। कभी-कभी वे मुँह 'आँ' किये आईने की ओर देखते, दाँत कैसे जड़ो से हिलकर एकदम बेतरतीब हो गये है, कोई किस अवस्था में है, जीभ की नोंक से ठेल-ठेलकर परखते किसी के ऊपर अँगुली रख देते। मुँह खोल नाना प्रकार से मुख विकृत करते समय कभी-कभी याद आ जाता कि अब और कितने बरस इस पृथ्वी पर—कौन कह सकता है?

देह आकस्मिक दावें साधती, बात मानती नही। राह चलते-चलते सिर चकरा जाता, पैर डिग जाते। कभी सिर इस तरह चकरा जाता कि बिस्तर से उठ भी न पाते। कभी थोडा चलने पर ही झोल खाने की तरह लगता, कुछ कदम बढाते ही लगता जैसे पैर खीच-खीचकर चल रहे हैं और कितने कष्ट से वे इतनी दूर चले आये हैं। रात देर गये तक नीद आती नही, और कब अचानक नीद टूट जाती है। जागते रहने पर भी साफ़ कुछ याद पडता नही, नाम के साथ घटनाएँ याद नही आती, याद

आती-सी लगती पर जैसे छूने-छूने-छू। माथे में झिम-झिम होती, निस्तेज-सा लगता, बैठे या सोते समय पलकें ऊँघ जाती, सब भूल जाते।

अधिक दिन काया-सुख नहीं रहता है। कभी कुछ और कभी कुछ लगा ही रहता है।

गले में पीड़ा, पेट गोलमाल, दाँतों की जड़ें हिलने लगी, माथा झाँय-झाँय। वायु भर जाती, कमर पकड़ लेती, खट्टी डकारें, हथेली और पंजे जलते हुए, देह थरथराती, और कुछ नहीं तो ठण्डे मौसम में भी देह में उतनी गरमी निकलती कि बेकाबू लगता, कभी कुछ, कभी कुछ, कोई ठीक नहीं।

पैंसठ के भी हुए नहीं, उस पर देह इतनी ढीली-ढीली!

कभी-कभी लगता जैसे वे अपनी देह से अलग होकर इस देह का अनुमान कर पाते हैं, उसके बारे में सोचकर मर्म भाव भर नहीं आता, वे किसी कविता के विषय-वस्तु नहीं, न किसी कल्पना के आधार—बस एक यन्त्र हैं, जड़-विज्ञान की मदद से बना एक साधारण-सा यन्त्र, वह कहीं ढीला हो गया है, कहीं से घिस गया है, या बिगड़ गया है, दूर से ही पता चल जाता है। चुप रहकर ध्यान देते ही वे जान पाते हैं—कहीं खटर-खटर, कहीं बेताल, कहीं दर्द, कहीं दुर्बलता, कहीं पहले जो कुछ था—वह अब नहीं, अब और नहीं!

आधे ऊँघने की तरह लम्बे पसरे कारीगर यन्त्र को परखकर देखने की-सी भंगिमा में जब अनुभव या कल्पना के बल पर अपने देह-यन्त्र के बारे में विचार करते, तो उसके साथ ही निराशा और विफलता का बोध बढ़ने-फैलने लगता।

लगता कि क्या था और क्या हो गया! या तब वास्तव में वह कितना तगड़ा था या सुख देता था, यह विचार वहाँ नहीं उठता। लगता कि वह सब अच्छा था, उससे बेसी और कुछ न होता। अब वो नहीं, और आयेगा भी नहीं।

यही अभाव-बोध और नैराश्यभाव जब विलाप के संगीत की तरह मन में झंकार उठता, तब संसारी सम्बन्ध की बातें याद आने पर कैसी-कैसी अन्यथा-सी लगती। लगता कि बेटा, बहू, पोते-पोती, यहाँ तक कि पत्नी—बढ़ते बुढ़ापे और दुर्बलता के आगे कौन किसका है? जो बाल पक गये हैं, जो दाँत झड़ गये हैं, जठर की जो आग धीमी पड़ गयी है, रक्त का जो तेज मुरझा गया है, कौन बेटा या कौन पत्नी इस बारे में क्या उपकार कर सकेगी?

यह जो यम द्वारा घसीटा जाना साफ अनुभव किया जा सकता है, प्रति पल—कौन वहाँ सहायक बनकर खड़ा होगा। अकेला आया हूँ, अकेला जायेगा—ऊँघते-ऊँघते बात-बात पर ये नये-नये आविष्कार!

चिलचिलाती दोपहर। गाँव के काम करनेवाले लोग खेतों में। घर पर जो हैं वे खा-पीकर विश्राम ले रहे होंगे। छोटी कोठरी में चटाई पर खुले दरवाजे से बाहर ताकते हुए वट महान्ती लेटे हैं। कभी-कभी आँखें मूँद लेते।

लगता है कि यही सत्य है, पर इस सत्य का तेज सहने में वे अक्षम हैं। कोई नहीं। कुछ नहीं। सब माया। सब सनक है। यही सत्य है।

लग रहा था जैसे माथे में नशा-सा चढ़ा हो। उसी के बीच दिख जाता है, जो आँखों के आगे नहीं है पर इस संसार में है। 'ना'-'ना' का आशाहीन, स्वादहीन तथ्य जानने के साथ-साथ फिर वे स्वादु रंगीन छवियाँ लुभाती हैं, तब वही तो सच हो गया था, और साथ-साथ ठोस बलवान् देह, आशा, उच्छ्वास, अभिलाषा—अभिलाषा-पूर्ति के लिए जो तीव्र उद्दाम इच्छा होती वह! वही भोग—जी भरकर, देह डुबोकर, आँख भरकर—वही रंग और स्वाद और महक।

यन्त्र नहीं, यह देह ही तो बनी थी सारा 'मैं'।

लाल फागुन। जामुन के पत्ते, आम के पत्ते, पीपल के पत्ते, पलाश, पालिधी—केवल लाल ही लाल फूल। नदी का कछार। नदी की ओर से भीगी ऊष्मा-भरी हवा आकर देह ही देह से छुआ-छुआ जाती है। पीपल, जामुन, पलाश, पाटली आदि की छोटी बगिया सरीखी। बीच में घना लोटन कुचला थोड़ी-सी जमीन घेरे था और इस तरह छोटा-सा गोल कुंज बन गया, अन्दर दिखाई नहीं पड़ता। सामने फूट, तरबूज आदि की क्यारियाँ। बीच-बीच में बाँस खड़े हैं, उसके आगे सिर की तरह हाण्डियाँ। इस तरह का यह गुनगुना दोपहर। लाल साड़ी बाँधे, हाथ में हाँकने की लकड़ी लिये पीपल के तले खेत के किनारे कोई युवती खड़ी है। उधर बालू पर तपन झिलमिला रहा था, सचमुच जैसे पानी हो।

उसका चेहरा, उसका मुँह, उसकी आँखें दिख रहे हैं।

तब उस निःशब्द सूने दोपहर में वही अकेली स्त्री, चन्दरा भुक्खड़ की बेटी.... नाम....पता नहीं क्या, कुछ याद नहीं आता। असिली....कि सहुली....कि बली....कि बहुली ऐसा ही कुछ था। वह ससुराल जाकर महीना-भर रह, लौट आयी है।

चन्द्र में कलंक की तरह उसकी अजीब कहानी ने बट महान्ती को उसकी ओर आकृष्ट किया था। अखाड़े में बैठे हारमोनियम लेकर अपना प्रिय गीत "आरे आरे नवीना तो पादे हेलि मुं विणा" गाते समय बाहरवाली खिड़की के उधर रुककर पल्लू के छोर को चबाते-चबाते दो-चार बार उसने वह गीत सुना है, तब बट महान्ती की नजर उधर पड़ी है—चिकने पालिसदार काले पत्थर की तरह उसकी देह का गठन, खुली-खुली आँखें, उनमें फिर भँवरों की तरह कजरारी पुतलियाँ, उस निगाह में कितना कौतुक!

उस दिन सुनसान दोपहर में वही तो सामने पड़ गयी थी। मन की आँख और देह की आँख एक जगह मिल गयी।

कल की-सी बात लगती है, लाल-लाल साड़ी धूप में झलक उठती है। वही चेहरा तिरछा ही उभर आया है, चेहरे पर वही मुसकान। वह बिना कुछ कहे, बिना कुछ किये खींचती जा रही है।—वह डील-डौलवाली देह नहीं, धरती पर भूकम्प चल

रहा है। वहाँ पहाड़ उठता है, गिरता है, वहाँ से विच्छुरित हो रहा है ताप कि आत्मा को भी तरल कर देना चाहता है; वहाँ उजाड़ नहीं, बाग नहीं, केवल इस विराट् खाली विस्तृति के अन्दर रंग-रंगीला एकदम मुँदा ढक्कन—लाल तोतई कत्थई मटियाला—उस ओर धीरे-धीरे कदम पड़ते जाते हैं। सामने, वह माया रूप धीरे-धीरे हटता जा रहा है, बाद में वह धूप-छाँववाला कुचला-कुंज, नीचे सूखे फूलों का गलीचा, वहाँ पद-चाप भी सुनाई नहीं पड़ती। झुकी हुई डाल के उस ओर वही तो वह खड़ी है, उसके माथे पर पसीने की बूँदें। कहीं भन्-भन् करती मधुमक्खियाँ गुनगुना रही हैं।

अचानक हड़बड़ाकर वे उठ बैठे। बाद में दुर्बल हो दीवार का सहारा लेकर पैर पसारे बैठे रहे। देह में झाँय-झाँय-सा लग रहा है। सिर्फ अवसाद और क्लान्ति। मानो खींचते-खींचते धनु का गुण टूट गया है, बाँका हुआ पड़ा है बाँस का टुकड़ा मुड़ा—सूना, दुर्बल और निःसहाय।

मुँह से 'गोपाल-गोपाल'। धीरे-धीरे, मानो दम फूल रहा हो, बाद में आत्मविश्वास बढ़ाकर और थोड़ा ज़ोर से। थोड़ी हिम्मत-सी बँधी, और फिर नहीं। याद आया कि बँटाईदार विरुद्ध होने लगे हैं। कितने सीधे थे, कितने मिली-भगतवाले बन बैठे। "दे एक ही खुराक—" अब हिम्मत बढ़ती गयी, "है—एक ही फूँक में उड़ जायँगे—। जैसे वो संखालीपुर का विष्णु राउत, तेन्तुलिया का माधव पात्र, अरुआ गाँव का कुलमणि जेना। निकाल दिया, क्या उखाड़ लिया?" उन्हीं के लिए तो रवि इतनी सिफारिश कर कहा था—फूलशरा का पागलों का डेरा तोड़ देने से भी चलता, कौन होते हैं वे जो यों साँड़ की तरह फिरेंगे मेरी जमीन पर? बाद में याद आया कि लोग कह रहे थे, दीनबन्धु मिश्र, कीर्तन राउत, काशी अवधान (गुरुजी), और यहाँ तक कि पुरोहितजी भी। सतुरी दास का भतीजा मधु गले में 'स्टेथोस्कोप' झुलाये साइकिल के पीछे होमियोपाथी बकसा बाँधे घूम-घूमकर बवाक-डाक्टरी करता है, उसका भी यही मत है। सबका एक ही मन्तव्य—कंजूस! और उनसे पार भी नहीं पाया जा सकता, मानो अबकी हवा-पानी भी उन्हीं मजूरे-बटाईदारों की ही सहायक है। कानून का बल उनकी ओर। बँटाई पर खेती करते हैं तो हिस्से पर खेती करने का उनका अधिकार हो जायेगा, हटाने पर मुकदमा होगा, फसल में पाँच से तीन भाग वे लेंगे। बाद में और आ रहा है कि बँटाईदार चाहेगा तो रुपये दाखिल कर जमीन का मालिक बन जायेगा। और सबके ऊपर आ रहा है—इतनी जमीन से अधिक तुम रख न सकोगे। जो अधिक होगी, उसे छीनकर उन्हीं चासी-मजूरों को बाँट दी जायेगी।

एक उकसा-उकसी, बदा-बदी की बात। दोनों आँखें सुलग उठीं। वे आँखें खोज रही हैं कि शत्रु कहाँ है? बट महान्ती ने ज़ोर देकर कहा, "गोपाल—" और मन ही

मन एक तरफ होकर, सैन्य सजाकर, खडे हुए।

जागा हुआ उत्साह धीमा हो आया। सच, जैसे भविष्य साफ चमचमाता दिखाई पड़ रहा है। उन्हीं का बल, बल में गिना जा रहा है, चाहे पंचायत कहो, चाहे असेम्बली कहो, मर्दुमशुमारी में उन्हीं की ओर के अधिक होंगे, दिन-ब-दिन अपनी मरजी के मुताबिक वे ही राज चलायेंगे, वे ही मेहनत कर जीनेवाले लोग !

चाकरी तो ताड़ की छाया है। पूरी होने पर कवि अगर गाँव आया तो क्या खायेगा, फिर कैसे चलेगा ? शहर लौटकर वहीं कहीं एक घर बनाकर चलेगा, और तब राज न होगा, धन होगा सो खरीदेगा-खायेगा। तभी शहर बढ़ता है, और बढ़ेगा, जमींदारी मकदमी गयी, जमीन भी जायेगी, कौन सात पीढ़ी का बडा जमींदार हुआ था जो शहर में चोकर या खली की दुकान खोलकर बैठ जायेगा, नहीं तो भीख माँग पेट भरेगा। तभी कवि ने लगा रखा है कि बेचो-बेचो, शहर चले आओ।

और रवि—यह मूर्ख कालिदास खुद बैठा है जिस डाल पर उसे ही स्वयं काटने में लगा है। "नेता होगा, नेता ! जिन्हें बहकाया है, वे ही उसे न रौंदे तो खैरियत !"

एक दीर्घ साँस निकलते-निकलते रुक गयी। हम न होंगे देखने के लिए, हमारा समय पूरा हो चला—उन्होंने सोचा। उस अन्तिम निश्चिन्तता की परिकल्पना ने मानो उनके मन को आश्वासन और अभय दिया हो।

इस देश पर इतनी बड़ी बाढ़ गुजर गयी। कितनी क्षति, कितनी विभीषिका; पर उनकी कोई क्षति नहीं हुई, फसल अच्छी हुई है। मन ही मन दिखाई पड़ जाती है—तटबन्ध के नीचे तक पानी लगा है, नदी लबालब ! उबासी आ गयी। "हः, कितनी बाढ़ें आयीं और गयीं ! भगवान् की सृष्टि, उसमें कोई क्या करे ?........लोग तो बस केवल....'दो, दो, दो' एक बहाना खोजने की बात....बाढ़ चली गयी। गोपाल—गोपाल—"

फिर छन् से लगा। दीनबन्धु मिश्र का बेटा अरिन्दम उधर कहीं इंजीनियरिंग पढ रहा था, इतना अच्छा पास हुआ कि वृत्ति पाकर अमेरिका जा रहा है। मिश्रजी बेटे के पास शहर गये हैं। दीनू है मिश्रजी का बेटा ! इंजीनियर ! अमेरिका ! क्या है यह सब ! कीर्तन राउत की बेटी के लड़के ने मैट्रिक फ़स्ट डिवीजन में पास की। कहते हैं स्कालरशिप पायेगा। पद्मनपुरवाले उद्धव बढ़ई का बेटा बाइधर तो प्रोफ़ेसर बन गया, गन्धि जेना का लड़का विश्वम्भर कहीं डेपोटी हो गया। अभिमानपुर डोमबस्ती में किसी का बेटा भी कोई बड़ी नौकरी पा गया, कहीं दिल्ली की ओर, शालिशालिया उत्सव महापात्र का बेटा दुर्योधन पत्थर विद्या में, कहते हैं, डॉक्टर की उपाधि पाकर अध्यापक हो गया। संखालीपुर के श्रीमन्त साहू की कोई लड़की बड़ी डॉक्टरानी बन बैठी है, उसका शहर में बहुत नाम है।

वे लोग ही घर करेंगे। आ रहा है नया युग, इन्हीं सबके लिए।

बट महान्ती वही बात सोचते-सोचते आकुल हो उठे, तब वे मानो केवल एक

श्रेणी के ही प्रतीक हों। पहले कितना सहज था, सारी सुविधा थी। बैठने के लिए ऊँचा बरामदा, हाथ की कोथली में माला, देह पर रामनामी चादर, मन किया तो नाक के सिरे से कमर तक सब जगह चन्दन से लिखा होगा 'गोरा-गोरा-गोरा।'

बरामदे के नीचे वे हाथ जोड़े सिर नवाये खड़े होंगे। परिश्रम करेंगे, कमायेंगे, लाकर उँड़ेल जायेंगे। जो भी शर्त कहें, हाँ ही निकलती, 'नहीं' का तो नाम भी न था। वे समझते थे कि अपने-अपने कर्मफल का भोग मानकर संसार में चलने के लिए उनका जन्म हुआ है। ठाकुरजी के पैरों तले गिर, पुरोहितजी के पाँवों पड़, जमीन के मालिक, महाजन, मकद्दम, जमींदार, जिस-जिसका पावना हो उसे दे रूखा-सूखा खा, माटी-गोबर में सनकर फटा-पुराना पहन समय काटकर मशान की ओर चले जाना है। टूटा झोंपड़ा कभी ठोस भी न हो पाता। ऐसे ही तो बीत गयी पीढ़ी दर पीढ़ी, पता नहीं कितना जमाना!

और फिर अब जमाना उलट पड़ा है। वे ही लोग पार कर रहे हैं। अघोरी-दुवारी, पढ़ाई-लिखाई, काम-धन्धा, मुरब्बीपन, धीरे-धीरे सब में तेज होते जा रहे हैं, बढ़ रहे हैं।

"ठीक है, गोपाल, तेरी इच्छा!"

कवि रहा दूर, रवि भी वही आग सुलगा रहा है।

घर पर दो बूढ़े-बुढ़ियाँ। और सम्पत्ति। किसके लिए? किसने उसका मूल्य समझा? कौन भोग करेगा उसे?"

बट महान्ती दुःस्वप्न में खो गये थे। आँखों पर पलकें पड़ नहीं रही थीं। लम्बी साँस लेने की भी मानो जैसे बल न रहा हो।

जीप में बैठा चला जा रहा है विकास-कर्मचारी विपिन। मुँह में सिगरेट, आँखों पर चश्मा, और एक निविष्ट दृष्टि, रात में जैसे मोटर की रोशनी हो, दृष्टि का लक्ष्य स्थल पल-पल में बदलता जा रहा है गति के साथ-साथ; परन्तु निविष्टता उसी प्रकार है।

विपिन का मुँह खुला—"मेरे साथ पढ़ता था रवि, खाते-पीते घर का लड़का, जन-सेवा की ओर मन था, नौकरी न कर, व्यवसाय-धाड़ों में बिना उलझे, जुट गया एक संगठन के काम में। पढ़ा-लिखा उत्साही आदमी, ब्याह का लाग-लपड़ा नहीं। बस जुटा तो जुट ही पड़ा, एक नया उत्साह फैल गया चारों ओर, तथा कितने गाँव के गाँव उमंग से भर उठे हैं, मैं कोई इनकार नहीं करता।"

टंक बाबू प्रतीक्षा में थे। उनके ऊपरवाले अधिकारी का अन्तिम मन्तव्य क्या है उसे जाने बिना वे कैसे मुँह खोलें। जिधर बरसा उधर छाता—यही तो दुनियादारी की बात है।

विपिन ने कहा, "परन्तु संगठन तो हजारों लोग हजारों तरीक़ों से शुरू कर देते हैं, उसकी परिणति क्या होती है ?"

खूब उत्साह में भरकर टंक बाबू और आशा देवी ने कहा, "सो तो है ही, हाँ !"

टंक बाबू ने व्याख्यान दिया, "संगठन में रहेगा मन; धन, बल, बुद्धि, उपकरण, सारी चीज़ों के बिना कैसा संगठन ? कितने दिन वह टिकेगा ?"

आशा देवी ने कहा, "इतने दिमाग़ों को जोड़कर, इतनी चीज़ें भरकर अपना संगठन बना है, इसपर और अधिक की क्या दरकार है ?"

आशा देवी एक वेतनभोगी विकास-कर्मचारी हैं, एम. ई. पास हैं, फिर ट्रेनिंग, तीसेक की उमर तो होगी ही, एक बेटा है, एक बेटी। गँजेड़ी पति के अत्याचार सीमा पार कर गये, काँसा-बासन भी रहने नहीं दिया, ज़मीन सात एकड़ थी, उसे भी बेच खाया, बच्चे दोनों मूरख बनकर कूदने लगे। इसी बीच, भविष्य की ओर आँख किये बच्चों को आदमी करना है, घर चलाना है—यह सोच मूबलपुर के दल बेहेरा की बहू आशा देवी ने मानो सचमुच एक इतिहास ही रच दिया। सास-ससुर, गुरुजन और बाहर की घिसी सीढ़ियों के सामने ऊँचे चौरे पर तुलसी को प्रणाम कर उसने घर से पैर निकाला।

तराशी गयी काले पत्थर की चमचमाती मूर्ति की तरह, अब भी मानो उस मूर्ति में लवनी चुपड़ा हो, कुछ इसी तरह चिकनी दिखाई पड़ती है वे। गोल चेहरा, बड़ी-बड़ी आँखों में काले भँवरों की तरह पुतलियाँ, घने सिर के बाल, माथे के बीच में सिन्दूर की बिन्दी। उस मूर्ति में सुख-दुख की अनेक अभिज्ञताएँ एक साथ जमा होकर थम गयी हैं, उसपर छाया तले की गहरी पोखरी के ऊपर की-सी छवि है, देखने पर आदमी सोचने को बाध्य हो जाता है, जान कुछ नहीं पाता। सफ़ेद साड़ी, सफ़ेद जैकेट, पैरों में काली चप्पल। हाथों में चाँदी की चूड़ियाँ, हाथीदाँत का चूड़ा; और कोई अलंकार नहीं।

सुबह, बड़े सड़के, बाग़ तले धान की क्यारी के पास पोखरी के किनारे, गाँव-गलियारे होकर जीप चली आ रही है। वे लोग जगह-जगह काम देखकर आयेंगे। बाँस से लदी बैलगाड़ी के बैल भड़क उठे। "अरे रे, पकड़ जूआ, होशियार, होशियार—" ड्राइवर ने आवाज़ लगायी। तनिक रुककर फिर गति पकड़ ली। ईंटों से लदी एक के पीछे एक कई बैलगाड़ियाँ आ रही हैं। विपिन अपनी बात का छोर पकड़ कहता चला गया, "ये जो सड़क है, विकास के प्रमाण हैं ये। कितने दिन हुए ? दो ही बरस तो ? कितना खरच हुआ ? किसने दिया ?"

टंक ने हँसकर कहा, "सहायता दो, श्रम दो, कहते-कहते लोगों के पीछे दौड़-दौड़कर जूतों के तले घिस गये। हम उन्हें खींच लाये। बीच की थोड़ी जगह में माटी डालो, फ़ोटो उठायी जायेगी—हम कितना कह-कहकर थक गये, अन्त में हरिजन बस्ती वालों को समझा-बुझाकर संन्यासीपुरियों ने लाकर खड़ा किया, उनके टोकरी-फावड़ा लिये काम करने की अवस्था में फ़ोटो उठाये गये, सभा टूटते ही जो-जिधर चल दिया,

फिर मजूर लगवाकर काम पूरा करवाना पड़ा। मजूरी के लिए निहोरा करने पर यही हाल। शहर में जैसे यहाँ भी वैसे, दिन के ढेड़ रुपल्ली दो! अपना सड़क एक करवा दो, हम पूरी सहायता देंगे—यही कहते-कहते झुण्ड के झुण्ड लोग दौरा करते थे—"

टंक समझ न सके थे। बात कुठाँव लग गयी। विपिन ने कहा, "हाँ, जगह-जगह ऐसी निष्क्रियता दिखाई पड़ रही है, मगर यहाँ तनिक धक्का लगा देने से काम अच्छा होता है, क्यों? वासुदेवपुर में लोगों ने क्या नहीं किया? वहाँ हमारी सहायता पहुँचते न पहुँचते लोगों ने आधी सड़क तैयार कर डाली थी। श्रीरामपुर में घर-घर से एक जन अपने आप निकलकर अब भी काम कर रहे हैं। और..."

जीप धड़ से किसी गड्ढे में पड़ गयी थी। बाद में फ्रन्ट गीयर, रीवर्स गीयर, लग गयी गूँ-गूँ-गूँ की आवाज और निकलकर चल पड़ने की चेष्टा। बायीं ओर एक कमलों से भरी पोखरी, उसके उधरवाले सिरे पर सीढ़ियाँ, उसमें औरतें नहा रही हैं, और एक जगह सीढ़ियों तले मरद। दाहिने, धान का खेत फैला हुआ है, धान गाड़ा है। सामने कतार में दिख रही है बस्ती। कितने घर टूट गये हैं, खाली डीह, टूटी भीत, और कई घर।

जीप फँस गयी। नीचे कीचड़ था, पहिया धँस गया है। "हो—आना-आना तो, जरा, तनिक धकिया देते तो गाड़ी निकल जाती।" पुलिया के घाट की सीढ़ी पर लुंगी बाँधे चार-पाँच युवक बैठे गुडाखू घिस रहे थे। एक जल्दी से उठकर कमर तक के पानी में खड़ा हो गया। और लोग भी वहाँ से इधर-उधर हो गये। लगता था, लोग आ रहे हैं, पर आवाज सुनकर दूर ही दूर से रास्ते से टलकर बगीचे की ओर हो लिये।

"हो, सुनो, तनिक इस गाड़ी को—"

कोई एक बैल हाँकता आ रहा था, एक छड़ी जोर से मारी कि दौड़ने के कारण पीछे-पीछे 'तेला थूथो, तीखा कान।'

विपिन, टंक, चपरासी तीनों ने मिलकर जीप गाड़ी को धक्का लगाया। ड्राइवर ने फिर स्टार्ट किया, पीछे, आगे, कई प्रकार चेष्टा की। सब बेकार। झुण्ड के झुण्ड बच्चे और औरतें दूर खड़े घूर रहे हैं। "आओ, आओ रे बच्चो, लोगों को बुला लाओ।" सभी चल दिये। गाड़ी पड़ी रही। ड्राइवर गाड़ी की रखवाली करता बैठा रहा।

शेष कुछ लोगों को खोजने चल पड़े।

"कोई थोड़ा आते तो, गाड़ी फँस गयी है, जरा धकेल देते।"

"हमें काम है।"

"हमें काम है।"

"अरे बाबू बुला रहे हैं तनिक जाते नहीं?"

"तू जा।"

"जाओ रे छोकरो, धकेल देना। बाबू पैसा देंगे।"

बच्चे भाग गये।

कुछ केवट बरामदे में बैठे जाल बुन रहे थे।

"अरे नखिया भाई, मेरे पैर में काँटा चुभा है, नही तो मैं चला जाता। जा, तू हाथ लगा आ।"

"अरे यार, मेरी तो कमर जकड़ी हुई है, नही तो क्या कोई भारी था ?"

रास्ते में तलाची डालकर धान सुखा रहे हैं। एक जगह कुछ लोग जमा होकर हल्ला मचा रहे हैं, बहुत झगड़ा हो रहा है। "मारेगा....मारेगा ? बड़ा आया मारनेवाला ? देखना ठहर !" वहाँ बुलाने पर देखनेवालों की भीड़ में से एक ने कहा, "उन्हें कुछ न कहो, बाबू, अभी उनके सिर में पित्त चढ़ा हुआ है।"

"तुम्ही जरा आओ।"

"हम गये तो यहाँ क्या से क्या हो जायेगा। तब कौन सँभालेगा ?"

"ठीक है, पैसे देंगे, मजूरे करा दो।"

सूखे-से आदमी ने उत्तर दिया, "बाबू, सुनो मेरी बात, यहाँ पटेगा नही, आगे कण्डरा-बस्ती है, वहाँ लोग मिल जायेंगे।"

अतः रास्ते-रास्ते फिरकर आगे बढ़ चले।

"भला गाँव है ये भी—". विपिन ने कहा।

सँभालने की तरह टंक ने कहा, "बहुत सारे लोग तो काम पर चले गये है, जानने-समझनेवाला तो कोई दिखता नही।"

घर के आगे कूड़े का ढेर लगा है, घास का बोहड़ बढा है, गोबर का ढेर लग गया है, रास्ते में गू पड़ा है। सूँड़ियों से लिपटा सहजन का पेड़ खड़ा है। छान तले खूँटे में दीमक ऊपर से नीचे तक चढ़ गयी है। छत के नीचे भीत की लिपाई नही हुई है, जगह-जगह दरारें दिखाई पड रही है। कहीं-कहीं दीवार से आधी-आधी ढह गयी है, टूटी-फूटी दिख रही है। लोग आना-जाना कर रहे है; ढेंकी की चोट पड़ रही है, चिवड़ा कूटना, धान कूटना चल रहा होगा। गाँव के बीच कें-कें करती कोई घानी चल रही है। अकथ्य भाषा में गाली-गलौज के साथ-साथ छोटे बच्चों की पिटाई, रुलाई। नाक रुँध दे, ऐसी धुआँ की गन्ध।

गाँव भरा है। अपने-अपने काम में सब लगे है। मोटर ठेलने को लोग नही मिले। बस्ती जाने पर फिर धान के खेत। पतली मेंड होकर कण्डरा-बस्ती को रास्ता जाता है। धान के खेतों में पानी खड़ा है। धूप पड़ रही है। धान के पौधो पर लाल-पीली तितलियाँ, पानी में उनकी छाया पड़ रही है। धान के पौधो के नीचे काँच की तरह साफ और थिर पानी में चुपचाप 'महिरा' मछली सोयी है, तितली की छाया की ओर नजर गयी तो हाँव से झपट पड़ी, बाद मे मुँह लपलपाते धान के पौधो के बीच छुप गयी। एक दल लगे है मेंड़ के बाँध का पानी बहाकर मछलियाँ पकड़ने मे। क्या पड़ा है ? सौरी मछली भी दो-चार नही।

"आओगे जरा, उधर मोटर फँस गयी है।"

इधर यह काम छोड़कर कौन जाये ? आगे और उसके गड्ढे में तीन जन बंसी डाले बैठे प्रतीक्षा कर रहे हैं। वहाँ पूछने को मन हुआ नहीं। और फिर बड़े-बड़े केवड़े के झुरमुटों के बीच से रास्ता। उधर थोड़ी-सी पेड़ों की सघनता दिखाई पड़ रही है। धान के खेतों और भीगी-गीली जमीन के अन्दर उथीर की तरह कण्डरा-बस्ती घुसी हुई है।

धड़ी मलिक वहाँ नींव खोद रहा है। एक साथ चार जन नाचते-कूदते पैरों से गारा तैयार कर रहे हैं। एक और आदमी वहाँ ढेर हुई माटी पर मटके-मटके पानी लाकर उँड़ेल रहा है। तनिक हटकर एक बूढ़ा लकड़ी चीर रहा है, कुल्हाड़ी लिये। छान पर कहीं कुम्हड़े, कहीं लौकी, घनी सेम, और कई बेल, बाड़ बाँधकर छोटी-छोटी बाड़ों में लम्बे-लम्बे अरहर के पौधे, अरण्ड के झाड़, कपास, नाज़ुक-नाज़ुक मुरकेसी बैंगन, हृष्ट-पुष्ट। श्रम की श्री खिलकर दिख रही है। मानो अतिथि के लिए लम्बा-लम्बा प्रणाम! थोड़ा समझाते ही वे लोग जाने के लिए तैयार हो आकर खड़े हुए।

"कौन-सा ऐसा काम है जो इसके लिए पैसे लें?" धड़ी मलिक ने कहा, "मोटर पानी में फँस गयी, दो लड़कों के पीछे से तनिक ठेल-भर देने की बात, इतने-भर के लिए इस गाँव में लोग नहीं मिले कि आपको खुद इतनी दूर चलकर आना पड़ा, बाबू? चलो रे लड़को—"

वे लोग आगे-आगे दौड़-दौड़कर चल पड़े। विपिन, टंक और आशा देवी लौट आये।

"बस, यही अपनी असुविधा है," विपिन ने मन्तव्य दिया, "गाँव में वास्तव में जो काम करनेवाला अंग है, बाउरी कण्डरा या चाषी या मजूरा, गाँव के समाज में उसकी आवाज कभी सुनाई नहीं पड़ती, वह बेचारा तो नीचे पड़ा है। मानो वह तो कुछ है ही नहीं, और जो हिस्सा अचल है, निर्जीव है, दिखाई पड़ता है वही, वही चाहता है क्षमता और अधिकार।"

आशा देवी ने कहा, "परन्तु चेतना तो फैल रही है, अब क्या पहलेवाला पुराना जमाना है? कितना सब बदल गया!"

टंक ने कहा, "यह बाबा आदम के जमाने का गाँव है, अमानुषा। अनेक गाँवों में तो ये ही अगुआ बन चुके हैं।"

विपिन ने कहा, "मैं केवल सोच रहा हूँ, जब वास्तव में यह जीवित अंग अगुआ बनेगा, हाथ में क्षमता सँभालेगा, तब उस अधमरे अचल अंश की दशा क्या होगी—वह जायेगा कहाँ?"

टंक ने कहा, "सम्भवतः शहर के निचले भागों में।"

विपिन ने कहा, "खेतो वह कर सकेगा नहीं, अभी ही मजूरे अड़ने लगे हैं। मेहनत उससे होगी नहीं। जमीन वह रख सकेगा नहीं। जो पुरानी संस्था थी, ऊँचा कुल, धर्म, नाना जाति के अधिकार, जो धारणाएँ कुछ लोग फैलाते थे, और कुछ लोग

उनपर विश्वास कर सिर नवाये उनके पास खटते रहते थे, वह संस्था तो और अब काम देने से रही। अतः वे गाँव में चल नहीं सकेंगे।"

टंक ने कहा, "आजकल तभी तो वे जमीन बेच रहे हैं, गाँव से चले जा रहे हैं, शहर में घर बसा रहे हैं। हवा किधर बह रही है साफ दिख जाता है। बाद में यह और भी बढ़ेगी।"

विपिन ने कहा, "सरकारी चाकरी, नाना कल-कारखानों की नौकरी, बढ़ते हुए कारखानों के जमाने में शहर में उनके लिए नाना धन्धों में नाना नियुक्तियाँ। छोटे-बड़े व्यवसाय, इनमें ही रह जायेंगे कई एक तो। जी नहीं सकेंगे"—देह मरोड़कर एक विकृत भंगिमा में उसने कहा, "उन्हें भगवान् का भरोसा।"

टंक और आशा देवी हँस पड़े।

लोग देख रहे हैं कि मोटर ठेलने के लिए और आदमियों की जरूरत नहीं, कुछ कण्डरा लोग गये। वे लोग सुन चुके हैं कि ये विकास-कर्मचारी हैं। अच्छा हुआ, जाते-जाते रुक गये हैं। आँखें डालते जायं इधर भी तो अच्छा हो, कुछ रुपये मिल जायेंगे। "अरे उल्लू, इनसे अलग रहे तो यों ही रह जाओगे, ये तो कामधेनु हैं। माँगने का तरीक़ा आ जाये तो क्या-कुछ पा लोगे, वरना नहीं।" किसी ने कहा। रथ-बस्ती की बावड़ी उथली हो गयी है, सदा कीचड़ दलदलाता रहता है। अतएव "जी, आइए, हमारी बस्ती की ओर जरा नज़र डालते जाइए।" पट्टनायक-बस्ती की पाठशाला की दीवारें फट गयी, अच्छा-सा घर बन जाता—"हमारे उधर पधारेंगे, बस यही तो है।" "जेना-बस्ती का कुआँ पुराना पड़ गया, ऊपर से नीचे तक देख जायें, सारी दीवार में घास-पौधे-पेड़ उग आये हैं, पानी में एक बार साँप भी मरा तैर रहा था।" "हुजूर पधारेंगे नहीं तनिक, चार बस्तियों के लोग पानी पीते हैं।" "जी, इतना बड़ा गाँव, उसमें एक भी अच्छी पोखरी नहीं, और फिर जो है वह तो आप देख ही चुके, सिवार से भरी है। डुबकी लगा आये तो घण्टों खुजलाहट नहीं मिटती। पोखरी बन जाती तो मछली की भी खेती होती, फिर पीने, नहाने, खेत में पानी पटाने—" "जी, किस-किस के लिए रुपया आया?" "कौन-कौन सी नौकरी मिल सकेगी? मेट्रिक फ़ेल, कहीं से, जैसे भी कोई—" "हुजूर पंचायत का महकमा हमारे गाँव में हो। जगह भी पड़ी है, आइए देख लें।" "एक अस्पताल—" एक माइनर स्कूल—" "एक धान का भण्डार किये बिना हमारे यहाँ के मेहनतकश कैसे जीयेंगे? घर पर धान होगा नहीं और बाहर से करज मिलेगा नहीं, जो कष्ट है!" पादाम्बु-बेलपत्र लिये गोपा आ पहुँचे हैं, "जी संन्यासीश्वर महादेव महाराज! पधारिए, इतने प्रत्यक्ष देवता हैं; इतना पुराना देवल इस संसार में और कहीं न होगा। कितने यात्री, कितने शरणागत आकर इकट्ठे होते हैं, आपकी क़लम से अगर वहाँ एक कोठरी बन सकती, उठने-बैठने के लिए लोगों को सुविधा हो जाती। और वह पोखरी थोड़ी गहरी खुद जाती, पत्थर बँधवा देते तो अच्छा होता। आपकी बस साथे-साथ पदोन्नति कर देते, भगवान्! कितनी उन्नति हो जाती,

उसकी कोई गिनती है ? आइए, बस दर्शन करते जाइए !"

कैसे यहाँ से निस्तार मिले ? किधर जायें ? देर होती देख आशा देवी औरतों की ओर चल पड़ी। जितना समय मिलता है उतने में ही यहाँ कुछ काम शुरू कर देंगी। दूध का चूरा बच्चों को उबालकर पीने के लिए देंगी। साबुन और गरम पानी से कितने बच्चों को नहला देंगी। कोई होगी गर्भवती, स्वास्थ्यहीना, उसे मछली के तेल की गोलियाँ बाँटेंगी। अच्छी विटामिन की गोलियाँ देंगी, घर का कूड़ा-करकट कैसे गाड़ा जाता है, कैसे चूल्हा बनाने पर धुआँ नहीं होगा, स्वास्थ्यप्रद ढंग में घर का काम कैसे किया जा सकेगा—इस बारे में नाना उपाय बतायेंगी, हो सकता है ये ही बातें कहने, उन्हें फुसलाने और उनमें विश्वास पैदा करने के लिए वे किसी बहू की चोटी गूँथ देंगी या किसी के घर उड़द-चावल भीगते होंगे तो रगड़ना शुरू कर देंगी या फिर बड़ी खूँट देंगी। उनका ठीक जितना पिठऊ उतना ही पीठा, जितना समय, उसमें उतना ही काम। कागज-पत्तर में उसका हिसाब रखती है।

पर विपिन पहले कहाँ जाये ? पहले जहाँ किसी का चेहरा नहीं दिख रहा था, अब वहाँ कितने लोग हैं, एक छोटी-मोटी भीड़ हो गयी।

और इसी समय शंख, महुवरि, ढोल की आवाज सुनाई पड़ रही है, बाजे पास आ रहे हैं। वह एक दल पहुँच गया। युवक। "हमारा संन्यासीपुर का युवक संघ, आपका स्वागत कर रहा है...आपका शुभागमन हो हमारे क्लब की ओर। अधिक दूर नहीं।"

"क्षमा करेंगे, फिर कभी आया तो अवश्य आऊँगा। आज तो बहुत देर हो गयी। दूसरी ओर जाते-जाते बीच में जीप कीचड़ में फँस गयी थी। उधर प्रोग्राम है, लोग इन्तजार में होंगे।"

ऐसे एक-एक बार सबकी गाड़ी फँसती, हुजूर, तब हमारे गाँव का मंगल होता! नया रास्ता तो खुल गया है, पर गाड़ी यहाँ नहीं फँसती। जो आया सो ही भाँय-भाँय छू। हम तो बस जरा-सी इस उड़ती धूल के हकदार रह गये।" वक्ता हँस पड़े। आँखें टिमकाकर बोले, "आइए, आइए—"

"जी, प्रोग्राम—"

"ओ, यहाँ के प्रोग्राम की बात कहकर भुलावा मत दीजिए, प्रोग्राम किसका नहीं है इस जुग में ! तो फिर आप हम लोगों के अनुरोध को टाल जायेंगे ? हमारा स्वागत एक ओर कर देंगे ?"

"आप लोग तो कहते हैं कि युवक संघ गढ़ो, युवक संघ गढ़ो, आप हमारे अनुष्ठान को देखने पधारेंगे नहीं तो हमें उत्साह कैसे मिलेगा ?"

"इस गाँव की उन्नति के लिए भी हमारे युवक संघ के पास कई प्रस्ताव हैं, थोड़ा समय देंगे तो ठीक-ठीक बता सकेंगे।"

"आइए, आइए, हाँ, बजाओ रे—"

धाप-नाच [redacted] बाजा बज उठा। युवक संघ के घेरे में पड़कर विपिन और टंक आगे चल पड़े। महुवरी बार-बार बज रही थी—रम्प-रम्प-रम्प!

विपिन और टंक के गले में उन लोगों ने लाल मन्दार का हार झुला दिया है।

चारों ओर हँसी, उत्साह, तालियों की गड़गड़ाहट। सारे रास्ते में खड़े दर्शकों में किसी ने हुलहुली डाली, और फिर तो कइयों ने पारी पकड़ी। बाजा बज रहा था। बाजे की आवाज़ से बन्दर इस पेड़ से उस पेड़ पर छलाँगें भर रहे थे, गायें भिड़क रही थीं। दिखाई पड़ रहा था कि किलकिलाती औरतें बस्ती से दौड़ी-दौड़ी आ रही हैं। परस्पर धक्कमधक्की करती-सी भीड़ किये खड़ी हैं। बाजे की तान में उत्तेजना बढ़ती जा रही है। लोगों को भीड़ देख बढ़ता जा रहा है, अपने आप उत्साह। सचमुच लगता है जैसे यह पुराना गाँव उत्सव मनाने के लिए प्रतीक्षा में था। उनके पीछे-पीछे चल रहे हैं युवक संघ के सभ्य, दोनों ओर है भीड़, वे चले जा रहे हैं। टंक से कहा, "इस गाँव में तो उत्साह बहुत है! यह उत्साह तो मानो इस देश में जलविद्युत्-शक्ति हो। एक साथ जमाकर काम में लगा सकें तो देश के विकास के लिए आदमी निश्चिन्त हो जाये, निःशंक हो जाये।"

सामने छोटा-सा एक छप्पर का घर। उसके सामने दो जन दोनों ओर से एक बाँस की टट्टी थामे खड़े हैं। उसमें लाल कपड़े पर रुई से लिखा है—'स्वागतम्'। बाकी समय वह इस घर की भीत के सहारे टिका होता, अब बाहर निकाला गया है।

अतिथियों के पहुँचते ही स्वागत-गान शुरू हो गया। एक साथ चार खंजड़ी, एक दासकाठिया (रामताली), गिनी बजानेवाले दो जन, एक डुग्गीतबला, एक सिंगल रीड हारमोनियम बजा रहा है। जिसके दो मिड़ जुड़ गये हैं और चमड़े में कई जगह छेद हो चुके हैं। उनके साथ दो गायक हैं, प्रत्येक स्वाधीन भाव से गा गया, कोई किसी के साथ मेल नहीं खा सका।

बाद में—"ये देखिए, हमारी लाइब्रेरी!" आम की लकड़ी से बनी दो आलमारियाँ, एक के ऊपर राल से लिखा गया है—'श्री गोवर्द्धन जेना के सौजन्य से प्राप्त', दूसरी पर उसी प्रकार से लिखा हुआ है—'श्री गेण्डु छाटोई के सौजन्य से प्राप्त।'

"उपस्थिति-पुस्तिका देखिए," अनेक नाम—बहुत सारे दस्तखत एक हाथ से लिखे जैसे लग रहे हैं। आलमारी खोली गयी। विपिन और टंक ने इधर-उधर से एक-आध किताब खींचकर देखी। अधिक भाग कामशास्त्र सम्बन्धी किताबें थीं, जैसे 'स्वस्थ सन्तान सर्जन', 'काम विज्ञान', 'वैवाहिक दायित्व', 'दाम्पत्य सुखवर्द्धिनी', 'प्रकट लीला', 'सुहाग रात' आदि-आदि। तत्सम्बन्धी कई ताड़पत्र की पोथियों का संग्रह भी किया गया है। और कुछ जासूसी उपन्यास, जैसे 'पैनी छुरी', 'जासूस श्रीपति', 'रहस्यमयी', 'लवंगलता हत्या मुकदमा' और इसी तरह। उनसे अधिक संख्यक और एक किस्म के उपन्यास थे। सौ-डेढ़ सौ पन्नों की किताब, चमचमाता गत्ता, उसपर चिकनी-चुपड़ी तसवीर, जिसे किसी और के सामने देखने में ही लाज लगती, नाम भी उनके अजीब—

'दहकती आग', 'लौहनगरी में द्रौपदी', 'कलंकिनी', 'जले-भुने जीवन की गाथा', 'स्पुटनिका' इत्यादि। पन्नों के कोने मुड़ गये हैं, हाथों से घिसकर पन्नों की चमक मिट गयी है, जगह-जगह चीकट के दाग, चूने के दाग, काले दाग भी लगे हैं। जगह-जगह पन्नों पर लकीरें खिंची हैं, किताबें खूब पढ़ी गयी लगती हैं।

विपिन ने निराश होकर पूछा, "कुछ योजना-साहित्य नहीं रखा ?"

"हैं, नहीं क्यों होगा ?"

आलमारी पर के ढेर से धूल झाड़कर कुछेक पत्रिकाओं के पुराने अंक और किताबें निकालकर दिखायी—'विकास','योजना क्या है ?', 'हरी खाद', 'जापानी खेती', 'सहकारी खेती', 'घास', 'अण्डा', 'मछली' आदि।

विपिन ने पूछा, "ऊपर धूल जम गयी ?"

"सब देखते हैं अत: ऊपर रखी गयी हैं, थोड़ा-थोड़ा देखते तो हैं ही।"

विपिन ने होंठ दाबे-दाबे कहा, "हूँ।"

"बस एक स्थायी घर की जरूरत है। दो कमरे का मकान हो तो भी चल जायेगा, एक कमरे में आफिस, दूसरे में लाइब्रेरी। उसके लिए टेबुल, कुरसी, अन्यान्य चीजें, अच्छी आलमारियाँ दो-चार, महीने के दो टीन किरासिन तेल के, पेट्रोमैक्स की रोशनी, रात में रखवाली के लिए एक चौकीदार—आप क्या जानते नहीं होंगे ? सबसे अधिक जरूरी एक रेडियो है, उसके लिए बैटरी, तब फिर और भी लोग जमेंगे। हमने विभिन्न कार्यों के लिए संघ में मन्त्री खड़े किये हैं, शिक्षा-मन्त्री, स्वास्थ्य-मन्त्री, विकास-मन्त्री, अर्थ-मन्त्री, लोकसम्पर्क-मन्त्री, कृषि-मन्त्री, कला-साहित्य-मन्त्री, जानकर प्रधान-मन्त्री नहीं रख रहे हैं, वह सबसे अधिक असुविधा का काम ठहरा। मैं अर्थमन्त्री हूँ। चन्दा कोई देता नहीं। सरकारी सहायता की सख्त जरूरत है। पहले पाँच हजार रुपये हों तब कहीं...."

टंक ने मुँह फाड़कर विपिन की ओर देखा। विपिन ने कहा, "ठीक है काम करें, देखेंगे, देखेंगे।"

"कितना देंगे कहिए—"

"वह सब क्या अचानक इस तरह ठीक किया जाता है ? प्रस्ताव दीजिए, विचार होगा, देखूँगा, मुझसे क्या सम्भव है ?"

"चाय लीजिए। परिदर्शन पुस्तिका में कुछ लिख दीजिए।"

चाय पीते-पीते विपिन ने उस कोठरी के अन्दर चारों ओर नजर फेरी। दीवार पर कैलेण्डर के चित्र टँगे हैं, बीड़ी, गुड़ाखू, ड्रेस आदि के अनेक विज्ञापन और वे ही चुँधिया देनेवाली तसवीरें। नाना-भाव-भंगिमा में नारी-चित्र। एक जगह चीरहरण का दृश्य है, तो कहीं बादशाह का होली खेलने का दृश्य।

सब कुछ मिल-जुलकर इस घर की रुचि, स्वरूप या आत्मा का परिचय देता है।

"आशा देवी किधर गयीं ? बुला दो, चलेंगे।" विपिन ने कहा।

"और थोड़ा ठहरें, हुजूर!" लोकसम्पर्क-मन्त्री ने कहा, "हमारे खाते-पत्तर पर भी तनिक नज़र डालें। यह देखिए यह रही मिनट-पुस्तिका, उड़ीसा की, भारत की और पृथ्वी की विभिन्न समस्याओं पर यह युवक संघ प्रस्ताव पास कर विभिन्न जगहों को अपना स्वाधीन मत भेजता है। उत्तर मिले या न मिले, लोकसम्पर्क की स्थापना की जाती है। वो देखें, दो सौ छियासी नम्बर का प्रस्ताव, अफ्रीका और चीन के सम्बन्ध में प्रधानमन्त्री नेहरूजी की वैदेशिक नीति का समर्थन कर इस संघ ने प्रस्ताव पास कर भेजा है दिल्ली।"

"दो सौ चवालीस नम्बर दिखा दो, भारत को भाषा के प्रश्न पर। युवक संघ ने प्रस्ताव भेजा है कि उड़िया को भारत की राष्ट्रभाषा बनाया जाये।"

विपिन ने मन्तव्य-पुस्तिका देखी। कितनी भाषाओं में कितने लोगों ने उसपर मन्तव्य दिये हैं, कितने हो परिचित लोग। उनकी ख्याति है, अपना-अपना परिसर है। किसी ने भरा है एक पन्ना, किसी ने कविता लिख मारी है, आरम-प्रकाश की सुविधा देखकर खुद को फैला दिया है। किसी ने कुछ पंक्तियाँ-भर लिखी है। सबने प्रशंसा की है, उत्साह दिया है। युवा-संघ क्या कुछ कर रहा है—वे देख गये है स्वयं, परन्तु लिख गये हैं उच्छरित आवेग में भरकर।

विपिन ने भी एक पंक्ति लिख दी—

"युवक संघ में उत्साह है, आशा करता हूँ कि यह संघ वास्तव में अपना अस्तित्व सार्थक करेगा।"

वह कितने छोटे-छोटे उपदेश दे गया—

आप लोग जिसकी पारी हो उसके खेत में दो घण्टा शारीरिक परिश्रम करें, अवसर के समय हमारा योजना-साहित्य पढ़ें, चर्चा करें और कार्य में जुट जायें, आप लोग स्वयं अपनी मदद करें, हम पीछे है।

रुपये-पैसों के बारे में कोई आश्वासन उसने नहीं दिया था। अत: उसे रोके रखने की ओर चेष्टा नहीं हुई।

धूप झिलमिलाती कार्तिक की दोपहर। छनछने पत्तों से हरी आभा छनती आ रही है। जीप गाड़ी धूल उड़ाती जा रही है, कितनी गली-कूचे, गाँव-गलियारों का रास्ता, चक-चक करता हरे ग़लीचे की तरह घास का मैदान, बीच में पगडण्डी, शान्त नीलम आकाश को छाती में भरे, जगह-जगह जोहड़, पोखरी, मानो वे भी अपनी डबडबायी आँखों से उसकी गति को अवाक् हो देख रहे हैं, उसी गाड़ी में सिगरेट का धुआँ उड़ाता-उड़ाता दौड़ा जाकर दौड़ता-फिर रहा है विपिन। उसी रास्ते बैलगाड़ी चली जा रही है धीरे-धीरे। मानो एक गयी है, और एक आयी है, उसके पीछे-पीछे। मनु,

पाशयलदार, पिंडारी, पठान, मराठे, अँगरेज कितने आये और गये। अभी भी यही चल रहा है। राह में भैंसों का दल देख रहा है अलसाकर, मानो इनसे सब कुछ ही जानकार होंगे। तिल-भर भी नहीं टसकतीं वे, गाड़ी पास आने पर मन जैसे बिल्कुल अनिच्छा से तनिक सरक जातीं। पोखरी में ऊपर कुजार के कतार बगुले, आहिस्ते-आहिस्ते पंख हिलाते हुए यहाँ से उड़ वहाँ बैठ रहे हैं। जगह-जगह दूर-दूर से चावल मिल की धिप्-धिप् आवाज सुनाई पड़ती, यहाँ तो अब भी जगह-जगह सुनाई पड़ता होता ढेंकी कूटने का धम्-धम्। इमली की छाया में गायें बैठी-बैठी पागुर कर रही हैं। बरामदे में गोबर दरवाजे के पास पोताया होती-सी गृहिणी झाड़ू दे रही है। छोटे छानसाने पर के चौपाल पर नाक के सिरे तक आये सून बँधा चश्मा लगाये, नाक और माथे पर तिलक किये, कन्धे पर कषाय गमछा डाले, वहीं पर नजर गड़ाये कोई बैठे हैं, शायद आज खाने को क्या मिलेगा, उन्हें पता न हो। पोखरी के घाट के पत्थर पर पैर पसारे कोई औरत खूब घिसना कर अपनी एड़ी रगड़ रही है। जीप की घरघराहट सुनी तो गाँव की चट-शाला से कुछ बच्चे किलकारी मारते दरवाजे की ओर दौड़े आ रहे हैं, ताली बजाकर कूद रहे हैं। जगह-जगह पर फैलाकर मछलियाँ सुखा रहे हैं, 'सुसुआ' करने के लिए, बाँस लिये औरतें कौओं को हाँक रही हैं। पितृपक्ष अभी बीता है, चेहरा चिकना, गिलौरियों से मुँह भरा, छाया तले बात-चीत भी बैठे-बैठे चल रही है। नये पिल्ले जन्मे हैं, रास्ते पर इधर-उधर कुलबुला रहे हैं। माड़ी लगी-सी आँखों से इधर-उधर देख, संसार को पहचानने की कोशिश कर रहे हैं। कौआ तिनका लिये जा रहा है। पेड़ के तले जगह-जगह कितने चिड़ियों के घोंसले खिसक पड़े हैं। अण्डे फोड़कर चिड़ियाँ उड़ चुकी हैं।

जीप चली जा रही है, विपिन की देह को उतरा पवन छू रहा है। लगता है, देहात की इस सपनीली-सपनीली धीमी-धीमी दुनिया के बीच जीप मानो कहीं से बेतुकी धमककर चली आयी है। सचमुच जैसे यह माटी, यह आदमी बिलकुल वेग नहीं चाहता। उसकी गति और उसकी सुस्थि (चैन) एक साथ मिलकर उसकी शान्ति की धारणा बदलने की जब चेष्टा करती है तो वह फिर अपने मन्द भार-केन्द्र की ओर लौट आता है।

कोई मिट्टी काट रहा है, कोई बाँस तोड़ रहा है, कोई चटाई बुन रहा है; पर लगता है सब हो रहा है होले-होले। कहीं मेंड पर बैठकर पान लगाना चल रहा है, पूरा हो तो फिर चोट पड़ेगी। यह सुस्ताने की आदत, और परम्परा है। जी-तोड़ परिश्रम के अलावा और भी कई चीजें हैं जिन्हें वह अधिक मूल्य देता है, जैसे उसकी चिक्कन सिंधी या माँग, उसका पूजा-पाठ, अष्ट-चौरा हो चाहे, पर ऊँची पटली या सिर पर साड़ी का घूँघट, उसकी पान की गिलौरी, और बीच-बीच में इधर-उधर देखने, ताकते-झाँकते बतियाते जाने को थोड़ी-बहुत फुरसत।

काम की जगह पर जीप रुकती है। कहीं घर खड़े किये जा रहे हैं, कहीं माटी

खोदी जा रही है, कहीं बढ़ई काठ की चिराई में लगे हैं, वहीं बोली जा रही है ओड़िशी छन्दशाला—जिसके अर्थ लगाते समय देश के महान्-महान् पण्डितगणों को पसीने छूट जाते हैं। अब बोल रहे हैं निरक्षर मजूरे-मजूरनियाँ। बात-बात पर वहाँ चर्चा चल पड़ती, बड़े-बड़े तत्त्व-दर्शन की—आत्मा क्या है, परमात्मा क्या, दो या एक, भगति का मतलब, ज्ञान का अरथ—सभी गारा बनाने, खूँटे के पास या सब्जी काटने के पास।

इतना घूम-घूम इतना चिल्लाने के बाद इतने बरसों पर यह जो आँखों के आगे आ रहा है, वही थोड़ी-थोड़ी सुस्थता, क्या इसे परिवर्तन कहा जायेगा? कहाँ है यहाँ परिवर्तन? कब होगा? उलटा उधर तनिक धोया-धोया साफ़-सुथरा होते-होते या दुकान की चीजें पहले से कुछ अधिक खरीदते-खरीदते, या फिर इधर कोई सड़क या उधर एक मकान खड़ा होते-होते ही वाद-विवाद छिड़ जाता है, मनों में फटना-टूटना बढ़ जाता है, सारे विकास और प्रगति के रास्ते में वह सबसे बड़ा अवरोध है, भविष्य के लिए घोर विपद्जनक है।

विपिन सोच रहा है। मानव-जीवन पाकर सोचने का उसे इतना ही तो अवसर मिलता है, इस तरह जीप में जाते समय।

पहले था जमीन में जड़ जमाये हुए समाज, जहाँ पर इधर-उधर थोपा-थपका। उसके साथ सामान्त-प्रथा (सामन्तवाद), एक दल होंगे जो बैठे-बैठे खायेंगे, हुकम चलायेंगे, और दूसरा दल होगा, धरती पर खटेगा, उन्हें पालते रहेगा। मेहनत न कर मुफ्त के खानेवालों की लम्बी पटली, बड़ा घर, लम्बी ही नीति-सिद्धि, जिनकी देख-भाल करते होंगे अन्य लोग, ऊँचे टेककर उन्हें रखते होंगे, साफ करते होंगे, काम-धन्धा कर देते होंगे। उनकी अपनी देह से पसीना बहेगा नहीं, केवल संग्रह करना, सहेजना, भोग करना, मनमाना देना, लेना या उड़ाना। शीतला की मनौती या 'तप्त पूजा' किसी न किसी बहाने भाँति-भाँति के पिठऊपना, पूजा, उत्सव, बड़ी पीकदान, पत्थर का हमाम, भारी काँसे के कलसे, हण्डे, थाल-थालियाँ, तकिया, सवारी, पालकी, वज़नी सीसम की पीतल की जड़ाऊदार बहँगी, रहने का सजा-सँवरा कमरा। उस समाज की परिस्थिति में न श्रम था न उद्योग करके जीना। रीति-नीति, आचार-विचार, मनोवृत्ति खुद ही वैसी हो गयी है। बाद के जमाने में बेटे-पोतों के समय यह व्यवस्था टूटकर चकनाचूर होने पर भी आदत या मन बदला नहीं, जो था भोग-आडम्बर-अमल का, चैन से चलने का कायदा, उन सबमें कई चिराचरित वैसी ही प्रथाएँ अब भी हैं, वही पुराने जमाने की परिस्थिति में गढ़ा गया धर्मविश्वास उस प्रथा को कसकर थामे है, अतः आदमी-आदमी के बीच छुआ-छूत का भेद भी इतनी तर्क युक्ति, इतने प्रचार के बावजूद सम्पूर्ण रूप से हट न सका।

और वे जो एक दल था, देश का बड़ा भाग, धरती पर खटनेवाले लोगों का, उस पुराने जमाने में उनके अस्तित्व की नस-नस में एक असीम उदासीनता भर गयी थी कि कितना भी वह खटे, थाली भरती ही नहीं। अँगुली के पोरों के बीचवाली फाँक

होकर वह जायेगा पता नही कितना—उच्च कुल, ऊँची जाति, सामन्त, महाजन, मरहम, जमींदार, राजा, ये ही जन्मे हैं सुख से इस धरा को भोग करने के लिए, राज भोग करने के लिए, अतः सारी भाग्य की बातें हैं। जितना हुआ उतना ही सही, सबको प्रणाम जताकर—गुरु, गो, ब्राह्मण, वैष्णव, सामन्त, मालिक सबको—जितना सम्भव उतना अलसाकर, दम लेकर किसी तरह समय काट इस जीवन को बिता सके तो उस पूजा, ओझा, यात्रा-पर्व-स्नान-वारुणी तिलक छापा नाम-कीर्तन के बल पर अगले जनम में तनिक भले घर में भली अवस्था में जन्म ले सकेंगे, भोग कर सकेंगे। बैकुण्ठ मिल गया तो पुनर्जन्म का सारा भय मिट जायेगा। उस समाज की रीति-नीति, चाल-चलन, आचार-विचार भी उसी जमाने की परिस्थिति के साँचे में बने हैं, जब श्रम के लिए कोई मर्यादा नही थी, न ही विश्राम के लिए कोई उत्साह। वह अवस्था बदली है, अब किसी को लाल आँखों का डर नही। अब जितना श्रम, उतनी ही उन्नति। सच है, परन्तु वह दादे-परदादे के जमाने को थम जाने की, रुक जाने की चेतना भरी है कि मैं कुछ नही, मेरी भला क्या गिनती है!—मैं कहीं काम न आ सकूँगा—मेरा तो साग-मांड खाकर पैसारा लादे घूमकर या माटी खोदकर जैसे चलता था वैसे ही चलेगा; किसी दिन लुढ़क जाना है, किसी और देखना या हूँ-चूँ करना नही चाहिए। पर इधर इतिहास बदल गया है, उसी आदमी के हाथों में है अब क्षमता, दायित्व-शक्ति, सब।

विपिन सोच रहा था, जटिल भावनाओं के दायरे में सरल-सा रास्ता खुला जा रहा है सामने की ओर। उसकी विभिन्न दिशाएँ उसकी आँखों के आगे दिखती-सी लग रही हैं।

सोच रहा था—वही जो आम आदमी, कानून या संस्था, जो कहो, उसके अनुसार इस माटी का मालिक है, मालिक होने के बाद भी वह उसी पुराने अभिमान, पुरानी अनास्था की ओर ढलकर रहने की तरह है, उसकी आवाज में दम नही, आँखों में रंग नही, सच, जैसे उसमें न दाढ़ी है न लाठी। अब भी वह उपकार की आशा में हाकिम-अफसरों के पास जी-हुजूरी करता है, दरखास्त डालकर ऊपर की ओर ताकता रहता है, महीनों सोचता है कि दया कर कोई और आयेगा तो उसका घर खड़ा कर देगा। और वह चाहता रहता है छोटी-छोटी सुविधाएँ, उसी का काम पहले होता, और कोई कुछ पाये या न पाये, वह कुछ पा जाता। सुयोग का रास्ता दिख जाने पर उतने भर के लिए उसका औरों के साथ आपा-धापी कलह-झगड़ा शुरू हो जाता है, पड़ोसी पर दाँव साधने-सधाने में ही उसका समय चला जाता है, देखते हुए भी अपने अधिकार को पहचानता नही, अपना दायित्व समझता नही।

कितने दिन बीतेंगे यों ही? कितने दिन रहेगी यह कुम्भकर्णी नींद? रहेगी तो नही। तब इस माटी पर युग पलटेगा। वह अपनी मनपसन्द संस्था गढ़ेगा। चलने-चलाने की खातिर मशीन तैयार करेगा, कितनी उठा-पटक करेगा। तब वह सह-सँभाल-कर काम करेगा या नयी क्यारी-बाड़ी लगाने के लिए पुराने खेत को उखाड़ देगा, तोड़

देगा, छोटा करेगा, बड़ा करेगा। एक-एक कर पुराने खेत से सारे झाड-झंखाड़ की जड, ठूँठ उखाड़-खोदकर एक जगह रख, आग लगा देगा?

अब उसकी अपनी बात! वह—विपिन—उसे भी आगामी अवस्था को सँभालना पड़ेगा। तब वे और खीस नहीं निपोरेंगे।

गुहारिया होकर दरख्वास्त भेजकर प्रतीक्षा करते बैठे नही रहेंगे, उन्हें अनुभव होने लगेगा कि वे ही वास्तव में मालिक हैं, स्वामी हैं—शासन-गद्दी से शासन-काल तक सब उन्ही का है और उन्ही के लिए है।

तब फिर क्या होगा?

यही जीप और इस तरह की कितनी ही गाड़ियो को तब माटी-गारे में सने फटे-पुराने चीथड़े पहने चासी उसी दृष्टि से देखेंगे, और गैंती-टोकरी या भार-बहँगी ढोते कुलियों के समूह, या कल-कारखाने, दुकान-गोदाम के मालिक-व्यवसायी या पहाड-जंगलो के बीच झोंपडियों में लँगोटी बाँधे आधे भूखे कन्द-मूल खानेवाले लोग, उसी दृष्टि से देखेंगे! रोशनी झिलमिलाते मकानों की भीड-भरे शहरों और पहाडों-टीलो पर लाखों रुपयों से बने राजप्रासादों से, जहाँ संगीनधारी पहरेदार होते हैं। जहाँ सारी रातें जैसी दीवाली की रातें होती हैं—ये भण्डार हमारे ही धन से बने हैं। हम मालिक हैं—ये सब हमारे ही हित के लिए है।

निराशा होने पर या गुस्से में भरने पर वे क्या दरख्वास्त भेजकर चुप रहेंगे या और कुछ करेंगे?

क्यो बारम्बार बाढ आती है, रोकी नही जा सकती, क्यों किसी काम में देर हो रही है, कहीं त्रुटि रह जाती है, कहीं छेद होकर धन बह जाता है, क्यो कहीं पीने को भी पानी नही, रोगी के लिए दवा नही, डॉक्टर नही। क्यो शिल्प बढ नही रहे, आमदनी बढ़ी नहीं, गरीबी हटी नही, अशिक्षा गयी नही, इसके लिए वे सभा में उत्तर पा लेने-भर से सन्तुष्ट नही होंगे। सबकी जब आँखें खुल जायेंगी, भय टूट जायेगा, तब तरीका यह नही रहेगा!

फिर विपिन ने दूसरे सिरे से सोचना शुरू किया, कि अभी वह दिन दूर है। कितनी ही आँख खुले, कितनी ही बुद्धि आये, फिर भी वहाँ लुका-छुपा होगा भँदामुर। स्वार्थ के मोह में पड़ लोग अपने हाथ-पाँव बाँध खुद को औरो के पास बेचते रहेंगे। धन और क्षमता का लालच, आगे बढ़कर सुविधा प्राप्त करने का लोभ उन लोगों को अलग-अलग किये रखेगा। अभी भी करता है, आगे भी करेगा। बाँस बढता है, साथ-साथ उसके अन्दर का खोखलापन भी बढ रहा है। मनुष्य स्वार्थ के लिए दौड़ता होगा औरो के पास जी-हुजूरी करता होगा, पिछलग्गू बना फिरता होगा। एक दल अगर विपिन को खराब कहेगा, तो दूसरा दल निकलेगा जो उसे अच्छा कहेगा। नाना स्तरों पर उसके लिए पारी थामनेवाले, ढोलवाले, महुवरिया बननेवालो की कमी नही होगी। बस वृद्धि होने की बात। परन्तु उस बुद्धि में अपनी उन्नति नही हो सकेगी, उसके कार्य

की उन्नति में वह कहाँ तक सहायक होगा ?

खिन्न होकर वह सोचने लगा, लोगों में जो कुण्ठा है, जिस सामूहिक चेतना और विकास-कार्यों की नींव बनना वह चाहता है, अपने व्यक्तिगत स्वार्थ-साधन के लिए वह उसका उल्टा ही काम ले रहा है। तो क्या अपने प्रशासित स्तर के प्रति उसमें आन्तरिकता नहीं ?

वह अपने विवेक के दंश का अनुभव कर रहा था, इसके बाद एक और पाला अपने मन में लाकर वह अपना दोष ढूँढने लगा—

दोष उसका नहीं, दोष उन लोगों का नहीं, दोष तो इस मशीन का है। इसमें ऐसा कुछ है जो आदर्श और कार्य को परस्पर विरोधी किये दे रहा है।

बस, जैसे उसने कोई बड़ा भारी आविष्कार कर डाला हो, कुछ इसी प्रकार के आत्मतोष का उसने मन ही मन अनुभव किया। सिगरेट का लम्बा कश खींचकर इधर-उधर देखता सोचने लगा—जब ढाँचा बदलेगा, तब अपने आप वह बदल जायेगा, सब सुधर जायेगा, तबतक कोई दावी नहीं, किसी का दोष नहीं।

ढाँचे की बात सोचते-सोचते भाग्य की बात। ठीक उसके नीचे एक और सीढ़ी। भाग्य, समय-सुयोग। समय—वह आने पर अपने आप ढाँचा भी बदलेगा, सबसे बड़ा कारण, सबसे बड़ी कैफियत, सबसे बड़ी सान्त्वना और सबसे बड़ा आश्रय—भाग्य।

जब आगे-पीछे की बात सोचता, वह अपने संगी-साथियों के ही उदाहरण पाता। कोई नीचे पड़ा है कि दो जून पेट भी नहीं भरता, और कोई बढ़ते-बढ़ते हो गया है उनके हाकिम का भी हाकिम। उन्हीं लोगों को चाकरी देने लायक कोई सेठ या नेता बन बैठा है, पहले जो लोग दाना-पानी के युद्ध में उतरे थे, जिन्हें वह गोद में खिलाता था, उनमें कितने ही तो चटशाला में बैठे पहाड़े रटते थे, जब वह कालेज छोड़कर आया था। आज वह उन्हें खुश करने की चेष्टा करता है, डरते-डरते चलता है, यह कोई कारण या फल और कुछ नहीं—वह भाग्य है!

उसकी योजना का दर्शन आपत्ति करे, अस्वीकार करे, वह गुप्त रूप से विश्वास करता है कि भाग्य ही मूल है। असमानता भाग्य का प्रमाण है, भाग्य का फल है। वह मशीन की तरह काम जरूर करता है, पर मन ही मन किस जमाने से उसने वहाँ आत्मसमर्पण कर दिया है! कितनी जलन, कितनी घुटन, कितनी निराशा, कितने अभावों के कारण गढ़ा गया है—इस देश में पीढ़ी दर पीढ़ी बना हुआ यह भाग्यवाद। पोशाक या छटा, आदत या चलन में आधुनिक बनने पर भी वह उसे छोड़ नहीं सका है।

धड-धड-हिचक्-हिचक्-घूँ-घूँ करती जीप चली जा रही है। सोचना ही पड़ेगा। भावना मोड़ ले गयी। उसे इतिहास की बात याद आयी। बिलकुल इसी रास्ते न सही, इसी माटी पर युग-युग के शासक और कार्यकर्ता जरूर घूमते रहे होंगे, हाथी-घोड़े पर

चढ़कर या सवारी पर बैठ। कितने प्रतापी थे! बादशाह, राजा-महाराजा, सेनापति। कितनी विचित्र घटनाओं से इतिहास के पन्ने भरे हैं।

परन्तु किस युग में था कि देश का आम आदमी जाति-धर्म-वृत्ति निर्विशेष से इस देश का मालिक होगा! कब था आम आदमी का इतना दायित्व, इतना अधिकार? इस समय के लोगों को देखकर क्या सोचते अशोक या अक्बर, नरसिंहदेव या प्रतापरुद्र देव? कब आम आदमी की उन्नति के लिए इतनी बातें, इतनी योजनाएँ? जल्दी हो, धीमे हो, कोई ग़लत हो या कोई ठीक हो—यह उद्यम, यह नियम कभी न था। यह योजना फलवती होगी या निष्फल—इतनी जल्दी इस बारे में कोई राय नहीं दी जा सकती। कल की बात लगती है, कुछ ही बरस तो हुए इसे शुरू किये—और वह इतिहास था हज़ार-हज़ार बरसों का, तुलना करने का समय अभी आया नहीं है।

ऐसे और पचास बरस के बाद यह देश कैसा होगा, कैसा दिखेगा?

अपने आत्मप्रत्यय में आराम से सहारा लिये विकास का कारीगर विपिन मन ही मन एक मुखकर चित्र आँकता हुआ उसे बाहर की ओर देखने की चेष्टा करने लगा।

उसके उस चित्र में नहीं थे—बाढ़, भूकम्प, या जगत्-ध्वंसी बमों का उत्पात। उसमें कोई विक्षोभ या विप्लव न था, उसके बीज या बीजों का बोना भी न था। केवल सड़क, मकान, पुल, बाँध, नाले, मशीन, यानवाहन, रकम-रकम के खाद से पुष्ट खेत, दसगुनी पैदावार, गाय-गोरू, मुर्ग़ी, मछली, कारखाने, बाजार, बिजली की रोशनी, और ऐसी कितनी ही बातें। उसमें न था मानव-समाज का स्नेह या प्रीति, देन-लेन, दया-दाक्षिण्य भाव की कमी या बढ़ोत्तरी, आदमी के मन के अन्दर सुख-शान्ति का माप, मानव के विभिन्न सम्बन्धों को लेकर मोल-तोल का हिसाब, भागवत या भगवान् के प्रति आदमी का दृष्टिकोण।

जीप गाड़ी तक आ रही है सरसों के फूलों की महक। उधर मेंड पर गयश के फूल सिर हिला रहे हैं, दूर-दूर पर उठी हुई पूँछ की तरह ढेरों खस के फूल। गाँव-गलियारे से जाते समय बाड़ लगी बैगन की क्यारी के उधर थोड़े-थोड़े गेंदे के फूल। बाड़ में अपराजिता के फूल, लाल टहटह कुंदरू, झाड़ में महाकाल फल, नयी खिली हुई गुंजा, आक, सोने के तार की तरह निमूली लता। घास पर भूरे रंगिणी फूल, सैकड़ों गौरसा, माटी में चिपके होने की तरह पतले-पतले नाके, ऊपर छोटे-छोटे फूल।

इस लिपी-पुती माटी के बरामदे के नीचे नारियल की छाया में वह तनिक रुक जाता, भीत पर आँके गये इस सुन्दर पिठऊ से बने चित्र को निरखने। तनिक रुककर पुन्नाग की छाया में आँख-भर इस हलदीवसन्त चिड़िया का रूप देख लेना। कितना स्वच्छ आकाश, कितना स्वच्छ पानी। और यह खिलखिलाती अल्हड़ धूप याद दिला देती है, पढ़ाई के दिनों का खेल और भाग-दौड़। गिलगिले-से बच्चों के चेहरे, पत्नी का चेहरा दिख जाता, गाँव का दृश्य आँखों के आगे तैर जाता।

केवल पल-भर रुक जाता! जीप चली जा रही है।

परन्तु पाटेली गाँव अथवा फूलशरा में चल रही रवि की योजना की बात कभी याद आ जाती तो विपिन के बायें होठ का कोना दब जाता, आँखें कुछ सुलग-सी उठतीं। पाटेली गाँव की ओर गाडी चली जा रही है, वहाँ कोई झमेला उठ खड़ा हुआ है। कल की-सी बात है—पाटेली गाँववाले कितनी लम्बी-लम्बी डींग हाँक रहे थे, तब वे एकजुट होकर श्रम में लगे हुए थे, सामलाती में रहने की तरह गाँव को गढ़ने में लगे थे। सचमुच जैसे वे इस राज्य से भी स्वतन्त्र हों। काली भेड़ का अलग ही बाड़ा। यह कैसे सम्भव होता ? कितने दिन रहता ? अपने अन्दर होड़-तोड़ की आवाज सुनते-सुनते विपिन मन के मोद में वही बात सोचता जा रहा था—कुछ ही महीनों में चौपट होने की सूचना मिल रही है, जरा-सी हवा करते ही आग सुलग उठेगी, मिल जायेगी तूफान में, और फिर ?

रवि उसका मित्र है जरूर, वह उसके लिए अपना कुछ पैसा या सुविधा या समय का भी कुछ त्याग कर सकता है, परन्तु बुद्धि की दौड़ या खेल-कसरत में वह उससे बढ़ जाना ही चाहता है, वहाँ वह जीतेगा, जरूर जीतेगा। यही बात मन ही मन वह ज़ोर देकर कहता है, आशा करता है।

कानून मानकर उसकी संस्था और ऊपरवाले उसके रास्ते के लिए जो रेखा खींच देते हैं, उसी लीक-लीक पर चुपचाप चलकर भी वह अपनी पोशाक के खोल के अन्दर अपने व्यक्तित्व के अभिमान को सहेजकर रखे है। संस्था के लौह-पिंजर के अन्दर जहाँ वह अपना जीवित अभिमान पग-पग पर अनुभव करता कि वह दुर्बल है, निःसहाय है, वहाँ वह परिस्थिति को ग्रहण कर लेता है। सचमुच जैसे किसी अस्वास्थ्य-कर इलाके में बदली होने पर वहाँ की हवा-पानी को ग्रहण कर लेने की तरह—मानो वही उसके लिए भगवान् का बनाया दायरा है, उसे जो करने को कहा जाता है, चलन का जो नियम उसपर लाद दिया गया है, उसमें उसे चाहे जितनी अड़चन आये, वह चाहे जितना गलत लगे, फिर भी उसके बारे में उसे कुछ नहीं कहना, सबको यथा-योग्य मानेगा।

परन्तु उसका वह अभिमान हाड़-चाम में एकदम बूढ़े बाघ की तरह भूखे रह-रह कर उन्मत्त हो उठता, वहीं जहाँ वह काबू में रहने को बाध्य नहीं, परिस्थिति के चक्कर में पड़कर इच्छा होते हुए भी जो वह न कर सका, जिधर उसने भरोसा नहीं किया, उधर कोई और कुछ करता है तो वह उसका कठोर आलोचक बन जाता। वह चाहता है कि वे सारी चेष्टाएँ दबें, हट जायें। उसके भूखे अभिमान के लिए कम से कम वही आहार होता, उतनी ही सान्त्वना होती। वही उसका बौद्धिक आनन्द है—वह आनन्द की धारणा युग की पृष्ठभूमि पर चाहे केंकड़े की तरह पैरवाली हो, यानी आगे-आगे देखते

हुए पीछे की ओर गति।

खेत के उधर पाटेली गाँव के घने पेड़ों की कतार विपिन की आँखों में पड़ते न पड़ते उसके मन में वही उत्साह फैल गया। घटना बिलकुल मामूली-सी, वही रोज़मर्रे की बात—दो मत। बाड़-दीवार।

सामलाती की तरफ़वालों ने कहा, "आनुष्ठानिक भाव से पंचायत गढ़ने में हमारी शौक नहीं, सबका मन मिला तो पंचों का मेल, उसके लिए फिर इतना अखबारों में नाम छपाना या ढिंढोरा पीटना हम नहीं चाहते।

एक तरफ है अगणिराय, मदेई लेंका, सुदर्शन दास, बावन महान्ती आदि। उन लोगों का कहना है, "तुम लोग माटी खोद-खोदकर गाँव को किस स्वर्ग में कितने दिन उठाते रहोगे, अतः हमारे यहाँ पंचायत बनेगी, तब जाकर सरकार से रुपये मिलेंगे, काम होगा।"

दूसरी तरफवालों ने कहा, "हमारा तो सब कुछ सामलाती हो गया है। सबकी सारी कमाई सामलाती कमाई है, सारी पंचायती पूँजी है, फिर और क्या रहा?"

पहली तरफवालों ने कहा, "हमारी भोटों की लड़ाई हो जाये। क़ानून कहता है।"

सामलातीवालों ने कहा, "गाँव का चलन कोई बादीपाला (दावा रखकर 'पाला' गायन करनेवालों द्वारा की गयी युगलबन्दी) नहीं है।"

उधरवालों ने कहा, "भोटों के बिना जनता का मत किधर है, कैसे जाना जायेगा?"

सामलात की तरफवालों ने कहा, "केवल अधिक लोगों के मत को आगे रख थोड़े लोगों पर लाद देने से शान्ति नहीं रहेगी।"

उधरवालों ने कहा, "एकमत न होने तक क्या होगा?"

सामलात की तरफवालों ने कहा, "इन्तज़ार कर समझाने-बुझाने में लग जाना पड़ेगा।"

उधरवालों ने कहा, "तब फिर इन्तज़ार ही सार हुई, कोई काम तो होने से रहा। हमारे तो ओट लिये जायें।"

पंचायत के विस्तार को लेकर भी घोर मतभेद दिखाई दिया था। सामलातीवालों ने कहा, "एकमत होकर सब उन्नति के कामों में लग जायें। यही इच्छा हो तो पास-पास घर बनाकर एक पल्लि या एक गाँव को एक-एक पंचायत होने की ज़रूरत है, ताकि पैदल ही चल-चलकर एक ही दिन में एक जगह सब बसर-गुज़र करें, देखा-देखी हो सके।"

पहले दलवालों ने कहा, "सो कैसे होगा? सरकार जो करे। देखो हमारे यहाँ की पंचायत है—खण्डीकूल, साईंसो, जरिपड़ा, और पाटेली गाँव। चार गाँवों की एक पंचायत।"

सामलाती दल ने कहा, "छोटी-छोटी पंचायतें, एक-एक गाँव की एक-एक । असल काम होगा मन का मेल करना, परस्पर की सहायता करना, सबकी उन्नति की बाबत सोचना और कठोर परिश्रम करना । सरकारी सहायता आयेगी दो प्रकार से, पंचायत जी-तोड़ काम करे फिर जो कमी रह जायेगी उसके लिए सहायता मिलेगी, मन लगाकर काम किये बिना कुछ नहीं होना । और एक तरह की सहायता आयेगी बड़े-बड़े अंचल को लेकर, बीस-पचीस पंचायतों को लेकर एक-एक अंचल (बड़ा चक) या समिति या ब्लॉक, चाहे कुछ भी नाम दो, सारी पंचायतों के मत के अनुसार और फिर सबके हित की दृष्टि से क्या-क्या किया जाना चाहिए सो सोचकर, सरकार अपना बला-बल देख-विचारकर, पैसा खर्च करती जायेगी । पंचायतें जितना सकें उतनी मदद करेंगी । यह होगा रुपये-पैसों का विकास, मशीनी विकास, और यही होगी विकास की असल नींव । मन मिलेंगे, नीति ऊँची रहेगी, आदमी गढ़े जायेंगे, विचार के साथ हाथ-पैर बात मानेंगे ।"

पहले दलवालों ने कहा, "रखो जी अपना यह विचार, तुम खुद जब सरकार होगे तब कहना, लोग-बाग मानेंगे । अभी तो पंचायत का गठन होगा, भोट लिये जायेंगे, मेम्बर चुने जायेंगे । चार गाँव के तेरह जने मेम्बर, उनमें पाटेली गाँव के चार चुने जाने हैं, उन्हीं पर भोट पड़ेंगे । तुम्हारी ओर के एक तरफ, बाकी हमारी तरफ़ के एक ओर ।

सामलातीवालों ने कहा, "जो करना हो करते जाओ, हम इसमें नहीं हैं ।"

गोलमाल हो-हल्ले के बीच बैठक टूट गयी थी ।

घर ने सही वक्त पर आकर खबर दी—खूब उत्साह से विपिन ने अपनी दौरे की डायरी में तारीख डालकर मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा—'पाटेली गाँव ।'

इसी तरह एक बार फिर लिखेगा—'फुलवारा ।' वह सुदिन उसके दिवालय में उगेगा कभी तो जरूर, उसका मन कह रहा है । फिर और कई गाँव ।

सच, जैसे ये कोई गाँव नहीं, गढ़ हैं—रामगढ़, प्रतापगढ़, सारंगगढ़, एक के बाद एक कर इतने गढ़ों का पतन होगा ।

उसका मन विजय पावेगा । सच, जैसे उसकी तरफ की जीत होगी, यह उसी की सूचना है ।

रास्ते पर जीप चली जा रही है । किनारे-किनारे जमीन की बाड़ पर खिले हैं बहुवा के फूलों की तरह लाल-लाल गोल-गोल फूल, उनके ऊपर घना हरा गुनगुने अगरे के पौधे में हल्दी फूल ढेर के ढेर, वही दृश्य उसकी दृष्टि में भर गया, और मन में वह एक तीव्र आनन्द का अनुभव कर रहा था । रक्ताभ लाल और ऊपर मन्द-हल्दी चित्र की पृष्ठभूमि पर वह एक गन्ध देख सका—कि यह द्वन्द्व तो आज का नहीं, युग-युग का है, यह द्वन्द्व अभिमान-अभिमान के बीच है, व्यक्तित्व और व्यक्तित्व में है, एक ओर वह स्वयं—दूसरी ओर रवि !

रवि उसका प्रिय मित्र है, परन्तु आदमी की अस्तित्व-अनुभूति मानो इस हृदय-भाव पर दिखाई नहीं देती, उसका आसन अहंकार-मन-बुद्धि के ऊपर है। वहाँ रवि उसका प्रतिपक्षी है।

अबकी वह सोचने लगा—कोई एक क्षमता पाता है तो अपने प्रकार से गढ़ता है। दूसरा आते ही पुराने तरीके को उलटने की चेष्टा करता है, मानो कि उस पहलेवाले की छूत अथवा उसके नाम की मुहर उसके हर काम में लगी हो, पहले उसे रगड़-पोंछकर निश्चिह्न करना पड़ेगा, उसके बाद धुली-पुँछी स्लेट पर नये अक्षर लिखे जायेंगे।

जिस साँचे या जिस कार्य पर अनेक लोगों का भला-बुरा निर्भर करता है, उसे सिर्फ़ एक-एक आदमी के अहंकार-मन-बुद्धि के विशिष्ट स्वरूप के अनुसार गढ़ने पर भविष्य में उसका फल क्या होगा? व्यक्तित्व-व्यक्तित्व की कुश्ती-कसरत का फल देश-भर भोग करता रहेगा? आगे-पीछे के समन्वय को छोड़कर योजना की कमर फिर मज़बूत कैसे रहेगी? उलट-पलट इधर-उधर होने से मूलतः उसका अस्तित्व कैसे रहेगा? यह तर्क याद आते न आते उसने अपने व्यक्तिगत आनन्द को दबा दिया। अब उसकी गति मुड़ी हृदय और अहंकार के किनारे-किनारे। विश्वास कर लिया कि उसने जो मूल्य दिया है, उचित माना है, वह ठीक हुआ है। यह कोई व्यक्ति-व्यक्ति या मतामत के बीच का कलह नहीं है—यह सिर्फ़ सत्य का आश्रय लेना है, सत्य की प्रतिष्ठा है। जो ग़लत रास्ते पर जा रहा है वह उसके लिए दुखित है। रवि का यह रास्ता केवल असम्भव, काल्पनिक और अल्पायु का है। इस तरह जाने कितने ही लोग कितने पथ दिखा गये हैं युग-युग में, पर यथार्थ यथार्थ ही रहा है, आदमी का स्वभाव बदला नहीं।

सिर्फ मुँह से कहे, 'दान दो, एक घर बनो, हिंसा छोड़ो, श्रम करो'—इस तरह कहते चलते पर देश की उन्नति नहीं हो सकेगी, दो दिन के लिए लोगों को उभारकर एक रास्ते हाँकने पर भी वह यात्रा चिरस्थायी नहीं होगी। कौन-सी बुद्धि लगाने से विकास-कार्य हो सकेगा, देश की अज्ञता, अशिक्षा, अभाव, रोग दूर होंगे और दुनिया के अन्यान्य उन्नत देशों के साथ यह देश समकक्ष होगा—इसके लिए कितने देशों के कितने बड़े-बड़े दिमाग़ एक साथ मिलकर काम कर रहे हैं। और रवि! क्षुद्र रवि! वह केवल समय बरबाद कर रहा है, शक्ति का क्षय कर रहा है अपनी, और साथ-साथ औरों की भी।

आदमी के अभाव, दुख, दुर्दशा और नैराश्य में से पैदा होते हैं उसके लिए भाँति-भाँति के बाबाजी, रास्ता दिखानेवाले, क्योंकि तब आदमी जादू और असम्भव आकस्मिकता पर निर्भर होकर दिन काटता होता है। कोई मन्त्रित कर पानी की चुल्लू देगा, कोई धूल या राख की मुट्ठी देगा, कोई सिर्फ़ प्रसन्न होकर हँस देगा, बस इतने में जिसे बेटा नहीं उसे बेटा मिलेगा, चाकरी में पदोन्नति होगी, या व्यापार में लाभ होगा। इसके लिए बारम्बार पैदा हुआ करते हैं रत्नलेई गाँव। (कुछ वर्ष पूर्व अलौकिक शक्ति सम्पन्न बालक के इस गाँव में प्रादुर्भाव की खबर सुन वहाँ लाखों लोग जमा हुए थे और

हैजा आदि के कारण कितनी जानें चली गयी थीं।) उसी तरह सामाजिक संस्था बदल-कर स्वराज्य गढ़ने का आश्वासन देकर निकल पड़ते हैं कितने ही बार पैगम्बर—'आओ, इस रास्ते चलो। मेरे ही पीछे-पीछे।'

ढोल-मृदंग बजते हैं, शंख, दुन्दुभी उच्चरित होती हैं, आनी-जानी साधारण धन्धा-वृत्ति छोड़ घर-द्वार त्याग कर झुण्ड के झुण्ड दौड़ जाते हैं। बाद में दौड़ते ॥ दौड़ते वह रास्ता छूट जाता है, वह जुलूस छिन्न-भिन्न हो जाता है, वह पहाड़ गया भी देता है किसी कीचड़ या गन्दी पोखरी में। अतः निर्देश कौन दे? केवल हृदय का उच्छ्वसित आवेग और स्वप्न तथा आंख-मूंदा विश्वास, या देख-सुन-विचार के बाद गुड़ हाथ धार-कर एक दिशा चलने का कायदा?

रवि को यह कितनी बार यह बात समझा-समझाकर थक गया है। रवि क्या कहेगा, सो भी यह जानता है। कहेगा—आदमी में निर्दिन अन्धमनगाहत में तुम्हारी आस्था नहीं। स्नेह, प्रीत, आशा, विश्वास पर तुममें भरोसा नहीं, फिर किसे लेकर आदमी जीयेगा? सन्देह, अविश्वास, वितर्क और अति-सावधानी से आदमी ने गढ़ी है यह सृष्टि—ध्वंसक यम, वही तुम खोजते हो?

यो, पाटेली गाँव पास आ गया। रवि को वह हँसी याद आ रही है। उसका घर यहाँ नहीं है, पर यह शामलाती उसी की हवा के छूने से बना है। और इस गाँव में है सिन्धु चौधरी की बेटी छवि। उसी मन्त्र से दीक्षित। चेहरा याद आ रहा है। दोनों की जोड़ी तो खूब जँचती! विपिन सोच रहा है। नहीं, शायद यह भी रवि की योजना में नहीं होगा।

स्वयं जलकर वह इस दुनिया को तो उज्ज्वल करेगा!

सरल मूर्ख!

रक्त की खाद, मांस की खाद, हड्डियों की खाद, कुल मिलाकर मन-भर भी नहीं होगा, एक एकड़ आलू के खेत को भी पूरी न पड़े।

और मानव-समाज के मन में आदमी की स्मृति—पानी में लकीर है।

व्यर्थ अपना जीवन उजाड़ता जा रहा है! पगला कहीं का! विपिन ने दीर्घ सांस छोड़ी।

पाटेली गाँव के इधर गोचर जमीन, तीन ओर के खेतों से देखने पर तनिक ऊँचा-ऊँचा, बीच में विराट् घना बरगद का पेड़, समतल पर आकार और अवस्थिति में वह अकेला-अकेला दिख रहा है। दूर से खेत के ऊपर धूप नाच रही थी, पानी की लहर सरीखी, धुंधला हलका कोहरा घिरा था, और वह बरगद मानो लंगर डाला हुआ कोई स्थिर बोहित हो।

धूप में वहाँ पेड़ तले चहल-पहल लगी हुई थी, गोया गाँव-भर के स्त्री-पुरुष उठ धाये हों। आस-पास के गाँवों से भी कई लोग आये थे।

उनकी आलोचना चल रही थी, गाँव के रास्ते पर गाड़ी आ रही है—वे लोग कौतूहल से देखने लगे। विपिन गाड़ी से उतर पड़ा। भीड़ में से कौन ये आगे आ रहे हैं? वह चेहरा हँसमुख है। रवि!

रवि के चेहरे पर काफी परिवर्तन आ गया दिखता है। चेहरे की दीप्ति बढ़ी है। परन्तु देह सूख गयी, धूप में पककर कड़ी पड़ गयी है। कमीज़ का भद्र आवरण उसकी सुडौलता को सुन्दरतापूर्वक दिखा नहीं पाता। श्रम ने उस देह को अपने साँचे में ढाल लिया है। माथे की लकीर, ठुड्डी का नक्शा, गाल के हाड़, दृष्टि का पैनापन और गम्भीरता, समूची ध्वनि—कुल मिलाकर उस चेहरे में एक विशिष्ट चरित्र की छवि मिल रही है। देखते ही समझ में आ जाती है कि यह आदमी किस काठ का है। यह कि अमुक-अमुक व्यवहार यहाँ सम्भव है, और अमुक-अमुक बात की यहाँ कोई गुंजाइश नहीं।

रवि के दोनों हाथ पकड़ उसके चेहरे की ओर देखते हुए हँस-हँसकर विपिन एक खाली हँसी का मुखौटा-भर रह गया था। छन् से उसे लगा—एक साथ पढ़ते थे, बढ़े थे, यह तो ठीक, पर बढ़ते-बढ़ते कुछ दूर जाकर मैं पेड़ न बनकर लता हो गया, मचान पर लिपट गया थोड़ा-सा, यह आदमी चला जा रहा है, सर्र-सर्र!

उसी भावना की धौंस से रवि की खुशी मुरझा गयी और उसकी आँखों में खिल उठी करुणा। कोट, पैण्ट, टाई की कलई और अँगरेज़ी की सेवार लगी पथरीली दीवार कई बार उसकी आँखों से ओझल हो गयी है, और उसके उस ओर उसने देखा है भावना और व्यक्तित्व का दारिद्रय, निःसहायता, आकुलता; और यह विपिन, अपने रास्ते पर कितनी जल्दी-जल्दी सफलता पा रहा है, अथच ताकता कैसे है! गति में मस्त चलता होगा किसी मशीन की तरह, चेतन मन में कुछ अनुभव करने की आदत न होगी जो कुछ भी अनुभव करता होगा वह होगी क्लान्ति ही!

उसके चेहरे पर यह हँसी नहीं, खाली एक मुखौटा है। बाहर जाते समय जैसे एक कोट या कमीज़ डालता है, अलग-अलग समय पर अलग-अलग, वैसी ही एक-एक अभ्यस्त भंगिमा। हो सकता है, इस भंगिमा ने कभी बरसाती का काम दिया हो! सँभल-सँभलकर बातें करता होगा। कोई बात अधिक न निकल जाये, वरना बखेड़ा हो जायेगा। जो बातें कहना भी होगा, वे उसकी अपनी नहीं, उससे भी बड़े और कई लोग होंगे, उन्हीं का मत उगल रहा होगा वह!

तो क्या उसके पास भी है....परन्तु वह अकेला नहीं है, सामने यह जनता है। इसके बाद, हो सकता है, मन छोटा करने का गुप्त विकार अपनी प्रतिक्रिया दिखाये। शुरू हो गया, छाती आगे कर, तनकर सामने देखने लगा है, हँसी में हल्की-सी उपेक्षा। विपिन ने पूछा, "कितना आश्चर्य, यह संयोग! इधर किधर आ टपके हो?

बात क्या है ?"

रवि हँस पड़ा, "इतने सहज में ही कह दूँगा ?"

विपिन ने कहा, "पंचायत बनाने को लेकर यहाँ कोई मतान्तर हो गया था ?"

रवि हँस रहा है। और भी कई लोग हँस रहे हैं।

रवि ने कहा, "जितने कुछ बने हैं—थाना होता है, पोस्ट ऑफिस होता है, पंचायतें भी चारों ओर हो रही हैं सो होंगी, इसमें मतान्तर कैसा ?"

किसी ने कहा, "जो अड़चन थी दूर हो गयी।"

विपिन कौतूहल रोक न सका, "वाह ! हमेशा कमाल ! किन-किन शर्तों पर ?"

रवि ने हँसकर कहा, "बिना शर्त के। आओ बैठो।"

सुदर्शन दास ने खड़े होकर कहा, "हुजूर, देखिए: इस गाँव में एक दल लोग लगे थे कि किसी तरह यहाँ पंचायत न होने पाये। कहते हैं कि सब तो उतना सामलाती हो गया, अब सरकारी पंचायत का क्या होगा ? अड़े रहने की तरह गुमसुम बैठे थे। और फिर ये बाबू लोग आये, समझाया-बुझाया, बात तय हो गयी कि सब जगह की तरह यहाँ भी पंचायत बैठेगी। यही बात पहले से मान लेते तो बात खत्म होती, देश-भर में तो एक ही सरकार है, कोई क्या उससे बाहर है ?"

भीड़ में एक गुनगुनाहट फैल गयी। कई लोगों ने सुदर्शन दास के चेहरे की ओर देखा। ऐसा लगा मानो कि उनकी बात इस परिस्थिति में बेसुरी लग रही हो, अजीब-सा जिद्दीपन मानो उनकी बात में उनकी ध्वनि से फूट रहा था। किसी ने कहा, "बैठो भी !" किसी ने कहा, "क्यों बेकार बकवास कर रहे हो ?" और नाना प्रकार के मन्तव्यों के बीच वे बैठ गये।

खड़े हुए सिन्धु चौधरी। सचमुच लगा जैसे आदर के कारण सब चुप हो गये हों। वे बोले, "आलोचना तो बहुत हो चुकी है, फिर दुबारा उसे शुरू से कह जाने में उतना ही समय लगेगा। हमारा कोई कलह-बलह न था, ठाकुरजी करें कि भविष्य में भी कभी न रहे। इस गाँव के एक भाग के लोगों ने अपनी इच्छा से सम्पत्ति-जायदाद, सुख-दुख सामलात में कर दिया है; बीच-बीच में और किसी का मन बदलता है तो कोई आकर सामलात में हो जाता है। किसी का मन होगा तो सामलात से अलग भी हो जायेगा, अपनी मरजी राजी-खुशी की बात है, कोई जोर-जबरदस्ती नहीं। यह तो हुई चलने की एक तरकीब। सदा लगता है कि हम सब इतनी जातियाँ इतने परिवार होने पर भी मिलकर एक ही घर हैं, प्रत्येक के लिए हम सब हैं। अपने लिए खुद घुन-घुनकर नाक-घिसाई करते रहें—वह हमारे पास नहीं। फसल कहो, रहने का घर कहो, मति-गति कहो, वह अच्छा हुआ या बुरा, यह बात तो जो देखेगा वही कहेगा, खुद ढोल बजाने से कोई फायदा नहीं।"

सबने भरपूर उत्साह से उनका समर्थन किया। एक ओर खड़े भीड़ के उधर अगणिराय बैठे थे। खँखारकर बोले, "बारह माइया बेमुरव्वी जमाना हो गया, कोई

मान्य-मानता नहीं रही, चौधरीजी के मुँह से फिर ये बात सुनने को मिली !"

बात थोड़ी बेसुरी होने पर भी उसमें एक बिजली की-सी चौंक पैदा हुई। यहाँ-वहाँ कई लोग आपस में एक-दूसरे का चेहरा ताकने लगे। सिन्धु चौधरी हँस पड़े। कहने लगे, "जुग में कोई अड़चनवाली बात नहीं है, सारी अड़चन तो हमारे मन के अन्दर है। इस जमाने में गान्धीजी जन्मे थे, कितने सिद्ध-साधक-त्यागी पैदा होकर काम दिखा गये हैं। जुग को क्यों निन्दा करने बैठें ? हमारे पीछे और सौ बरस बाद लोग कहेंगे कि इस जुग में सत उपजा था। पीछे जो जुग, उसमें कूट-कपट, कलह-द्वन्द्व बढ़ते-बढ़ते मन फूट-टूटकर मारकाटी लगी, और बारम्बार देश विदेशियों के अधीन रहता आया। अब की अपेक्षा पहले लोग कम थे, फिर भी जितने थे वे नीचे से ऊपर तक थाक के थाक। ऊपरवाले खूब मजे में चलते थे तो नीचेवाले बड़े हिस्से के लोग दबकर रहते थे। उनका और भला-बुरा न था। आग को आँचल में छुपाये रहते, ऊपर दिखता छापा-तिलक सब चिकना-चुपड़ा। मानुष मारना एक दल के लोगों का धर्म हो गया था, जो जितना दगाबाज, निर्दय होता, वह उतना ही प्रतापी, वीर था; हिंसा-स्वार्थ, दम्भ को हम आसन पर बैठाकर पूजा करते थे। यह कोई झूठ है ? या, कहूँगा नहीं और कहूँगा तो इस घर में रहूँगा नहीं ?"

विपिन रवि के पास आकर सटकर बैठ गया था। सिन्धु चौधरी की बात को रवि सचमुच जैसे कि पीता जा रहा था। रवि ने मुसकाते-मुसकाते धीमे-धीमे कहा, "सभा-मण्डप नहीं, फिर भी यह सभा; माइक नहीं, फिर भी यह भाषण, कैसा लग रहा है ?"

विपिन ने दीर्घ श्वास छोड़कर कहा, "बाप रे !"

सभा टूटने को आयी। सिन्धु चौधरी की बात सुनते-सुनते लोग फिर मन लगाकर बैठे रहे थे। सिन्धु चौधरी तनिक रुककर फिर कहने लगे, "एक तरीका हमारे यहाँ चल रहा है। अबतक हम बढ़ते ही जा रहे हैं, लोगों के मन को भा गया है। फिर अब आयी पंचायत बैठाने की बात। कानून हुआ है, सरकार कहती है, सो होगा ही। कुछ लोगों ने सोचा कि पंचायत होने पर हमें अपना यह तरीका तोड़ देना पड़ेगा। चर्चा चलायी, वही बना अनर्थ की शुरुआत का कारण।"

उनके कहते न कहते उनकी बात को समर्थन देते हुए कई लोगों ने जोर से आगे-पीछे सिर हिलाया। कुछ थोड़े-से लोग अलग-अलग दिखने-से इधर-उधर ताक रहे हैं। वे दूसरे गोठ के हैं। विपिन ने सब कुछ देखा। अब समझा कि उत्तेजना का कारण क्या है और रवि यहाँ क्यों आया है।

किसी ने बस् से मोटी आवाज में कहा, "अनर्थ है अनर्थ है—सह नहीं पाते हैं, अतः लोगों को फुसला रहे हैं, निकल आओ, हम अपने पंचायत में मिलेंगे, सरकार रुपये देगी—असल बात है रुपया...."

फिर बीच में इस बात पर चल पड़ी थोड़ी-बहुत चख-चख, तर्क-कुतर्क।

सिन्धु चौधरी ने पुनः कहना शुरू किया—'रहने दो, सुनो । इस सबके में रूठने-टूटने के साथ पंचायत का क्या है ? हमारे ये सत्तर परिवार मिलकर एक घर, बसते सबके इधर-उधर जगह-जगह, लोगों की जात अलग-अलग, माँ-बाप अलग-अलग, परन्तु घर एक है । यह घर कितना बड़ा होगा या कितना छोटा होगा सो लोगों की अपनी मर्जी पर निर्भर करता है । उस पर कोई क़ानून का जोर नहीं, किसी पर जबरदस्ती नहीं । परन्तु पंचायत में तो वो बात नहीं, उसे तो सरकार गढ़ रही है, उसके पीछे कानून का जोर है, कौन-कौन गाँव मिलकर पंचायत बनेगी—इस बात की घोषणा सरकार करेगी । सब जगह हो रही है, यहाँ भी होगी जरूर । पर हमारे इस घर से पंचायत का सभ्य बनकर कोई रहेगा या नहीं, वह सरकार की इच्छा पर निर्भर नहीं, हम जायेंगे या नहीं उसका विचार हम करेंगे । हमें रखा जायेगा या नहीं उसका विचार और लोग करेंगे । अपने करने के काम का हमने फैसला कर लिया है । बिना नाम सोचे, अपने स्वार्थ और सुविधा की खोज किये बिना, सब सदस्य अगर परिश्रम करने को राजी हो जायें, ताकि सबकी उन्नति हो तो हम उस सदस्य-मण्डली में रहकर काम करेंगे । सब बैठ एक मन एक विचार होकर अगर तय कर लें कि कौन-कौन सदस्य होंगे तब हम उसमें मिलेंगे । यदि शुरू से ही मन बेमेल रहेंगे, कौन सदस्य होगा इसका फ़ैसला यदि भोटों की लड़ाई से ही होगा, तो हम उस ओर नहीं जाने । सर्वसम्मत न होकर अल्पमत पर बहुमत को लाद देनेवाली भोटों की जीत की व्यवस्था है, बाद में वह अड़चनें पैदा करती है । बहुमत से जीतनेवाले अल्पमत से हारनेवालों पर पिल पड़ेंगे, दावँ साधेंगे । उधर अल्पमतवाले हरदम चेष्टा करेंगे कि बहुमत की तरफ से कल-बल-कौशल कर एक-एक को खींच-तानकर जैसे भी अपने दल को बढ़ायें । बाद में ये बनेंगे बहुमत । तब हम क्या विकास करेंगे, क्या उत्पादन करेंगे, समय तो जायेगा केवल दावँ-पेंच में ही, कलह-फसाद में ही, छक्का-पंजा में ही ।"

दुकानदार हरि साहू चुप बैठा था । पहले पल्थी मारकर बैठा था, अब घुटने उठाकर बैठा, और फिर अपनी दोनों नलियों पर दोनों बाँहें कसकर घेर ली, बाद में अपने घुटनों पर ठोडी टिकाये रहा, नीचे नजर, मानो वह अपनी आदत के मुताबिक लीलावती सूत्र की किसी जटिल समस्या के साथ मन ही मन कसरत कर रहा है, मन की नोक जमी हुई है एक बिन्दु पर ।

सिन्धु चौधरी की बात पूरी होते-होते उसने अपने ध्यान से उठकर बड़बड़ाने की तरह कहा, "हो गया !"

पास ही बैठे थे गदेई लेंका । पूछा, "क्या हो गया साहूजी ?"

हरि साहू ने कोई उत्तर न दिया, उठ खड़े हुए । उसके मुँह पर, पेट पर, गरदन पर, टुकड़े-टुकड़े धूप छनकर गिर रही है । उसके चेहरे की भंगिमा दिख रही है असाधारण ।

हरि साहू ने कहा, "और अब दो नाव में क्यों, मैं भी समझो इस सामलात में

ही आ गया। एक ही का होकर क्यों, सब सब लोगों का।"

एक साथ बहुत सारे मुँहों से अचम्भे की आवाज आयी। गदेई लेंका ने कहा, "यह क्या तमाशा है?" अर्गाणराय ने कहा, "कैसे? कैसे?"

हरि साहू कहने लगा, "अरे बाबू, सम्पत्ति को कोई साथ लादकर नहीं ले जायेगा। एक कमाता, अपने कुटुम्ब का भरण-पोषण करता, अब सबकी सारी कमाई एक जगह होकर सबके कुटुम्ब चलेंगे, यही तो बात है, सब ओर से सुथरी। तुम भी आओ ना लेंका भाई, राय!"

घड़िया नाई ने कहा, "आते तो, पर उनकी कमाई किस रास्ते से होगी फिर? कोई कलह करे तब तो वे उसे रास्ता दिखाकर कमाई के दो पैसे पाते।"

लेंकाजी और रायजी दोनों ठहरे गाँव के टाउटर। लेंका ने बुरा नहीं माना, अर्गाणराय ने खँखारकर कहा, "कैसे, सो कैसे?"

हरि साहू ने कहा, "पहले बढ़ आओ, फिर तरीका खुद-ब-खुद दिख जायेगा।"

हरि साहू भी सामलाती में हो गये।

सामलाती में जमीन बढ़ गयी। गाय-गोरू, धन-धान्य, सब बढ़ गया। सबसे अधिक तो प्रतिष्ठा बढ़ गयी। हरि साहू तगड़ा बुद्धिमान् मुरब्बी आदमी है गाँव में। हरि साहू इधर है, इसका मतलब इधर की बात पक्की, असली है। देखते ही देखते उनके बीच उत्साह फैल गया, लोग आपस में बातें करने लगे, चेहरों पर हँसी-खुशी, उत्तेजित उत्साहपूर्ण बात, एक और एक के साथ जल्दी-जल्दी बात-चीत। कितने ही लोगों ने हरि साहू को घेर लिया। सभा समाप्त हो चुकी है।.खड़े होकर और किसी को कुछ नहीं कहना।

रवि ने चुपके-चुपके विपिन के कान के पास जाकर कहा, "माटी की आवाज तो तुम खुद सुन चुके हो, माटी सदा खोजती आयी है कि सब मिल जायें। उसका धीरज असीम है, वह प्रतीक्षा में है।"

रवि के चेहरे पर स्वप्न की झलक है, बहुत दूर है उसकी दृष्टि।

विपिन ने स्वयं उस स्वप्न में बह जाने की चेष्टा की, अनुभव हुआ कि वह सहम जाता है। हिसाब, कानून, हुकम, डर-भय, अभ्यस्त अनुभूति के द्वारा वह अपने-आप बोध कर पा रहा है कि उसपर अनेक लगाम है। उत्साहित होना न होना निर्भर करता है एक विचार पर—वह पछाड़ खाकर गिरना नहीं चाहता। पहले उसे चाहिए सुस्थि, निश्चिन्तता। उसे चाहिए उसका वेतन, उस वेतन में बढ़ोत्तरी, अन्त में अपनी पेन्शन। विश्वास से अविश्वास तक उसके भाव बदलते-बदलते उसके मुँह से निकल पड़ा, "भाव या भावना का एक पागलपन देख रहा हूँ यहाँ।"

रवि प्रसन्न होकर कहने लगा, "ठीक देख रहे हो। नाना प्रकार की आशंकाएँ सहते-सहते, लगता है कि माटी पागल हो रही है। सन्देह, मतान्तर, अशान्ति, युद्ध की तैयारी, और एक चरम परिणति की काली छाया—ध्वंस। पागल न होकर धीरमति

स्थिरबुद्धि से बुद्धिमान् लोग अगर उसी परिणति की ओर संसार को ले जाते हैं तो पागल बने बिना माटी शायद स्वयं अपनी रक्षा न कर सकेगी।" तनिक उत्तेजित होकर उसने फिर कहा, "परन्तु इस उत्साह को पागलपन कब तक कहोगे? अन्धेर नगरी में एक रोशनी, हो सकता है पागलपन हो, परन्तु चारों ओर जब असंख्य रोशनियाँ जलती होंगी, तब लगेगा कि वह पुराना अन्धकार ही पागल है, अस्वाभाविक है, उसका समय पूरा हो चुका। तभी मैंने कहा कि माटी क्या कह रही है, सुनो। सब जगह, सब देशों में सामान्य जन खोजता है कि आदमी-आदमी के बीच गढा जाये विराट् भाईचारा, तब जाकर हिंसा, अशान्ति के कीड़ों को घुसने का रास्ता नहीं मिलेगा। एकमात्र कर्म ही तो है जिसे ये विनाशक बम भी ध्वंस नहीं कर सकेंगे। तुम्हारे-हमारे अलक्ष्य में कितनी ही जगह, कहाँ-कहाँ वह गढना-बनना चल रहा है।"

दोनों उठकर थोड़ी दूर टहल रहे थे। विपिन ने कहा, "हम भी उसी एकता को बढावा देने के लिए संस्था गढ रहे हैं—लोग सहयोग करें तब कोई बात हो।"

रवि ने कहा, "लोग स्वयं जिसे गढते हैं उसमें सहयोग की कमी नहीं रहती। तुम गढोगे संस्था, और लोगों से माँगते हो सहयोग। अच्छी बात। कितने दिनों से आँखों के आगे रखकर संस्था गढ रहे हो? सब देशों में जितने ये संस्था गढ़नेवाले हैं—उनकी उमर कितनी है? समय लेकर, अवस्था लेकर, जिनके हाथ में क्षमता होती है उनके मन को देखकर संस्था गढी जाती है, बदलती है, टूटती है। मानव-जाति को किसी संस्था ने गढा है? आदमी का जो असली स्वरूप है, एक साथ मेल से रहना, एक दूसरे को चाहना, चाहने के लिए जीना—यह किसी संस्था की प्रतीक्षा नहीं करता, इसका प्रमाण तुम यहीं अपनी आँखों से देख रहे हो।"

कितने ही लोग उन दोनों की ओर देख रहे हैं। वे लोग बातचीत के लिए आग्रही हैं, पर साहस जरा नहीं पा रहे।

सभा टूटने को आयी। कई लोग उठकर चले जा रहे हैं। हरि साहू के चारों ओर फिर भी भीड़ है।

रवि की बातें सुन विपिन हँस पड़ा। कॉलेज के दिनोंवाला वही विपिन, चेहरे पर विचारों में गिरपता नहीं। सचमुच जैसे मेघ के फटे परदे के उस पार दिख जाता है प्रशान्त नील आसमान में थोड़ा-सा। रवि के कन्धे को घेरकर कहा, "कहते हो आदमी चाहने के लिए जीता है, तुम किसे चाहते हो?"

रवि ने ठहाका लगाया। "मैं किसे नहीं चाहता, मैं स्वयं नहीं जानता।" लोग और प्रतीक्षा नहीं कर पाये। सिन्धु चौधरी, हरि साहू, सदा गोछेइत, वे लोग एक-एक कर आये। उनके पीछे और लोगों की कतार लग गयी।

विपिन ने गहरी साँस छोड़कर, सूखी हँसी हँसते हुआ कहा, "अच्छा, चलता हूँ, रवि! तुम स्वाधीन हो, जीवन का स्वाद चखने के तुम्हारे पास अवसर हैं। भई, मेरा तो वह सौभाग्य नहीं रहा, गले में पट्टी है, पट्टी में साँकल, और फिर साँकल पराये हाथ

में, गले में ग्रामोफोन रेकॉर्ड। अगर कभी तुम लोगों की इस संस्था का विरोध करूँगा, तो वह विरोध भी मेरी इच्छानुसार नहीं होगा। भाई, मैं नहीं तो और जो होता वह भी करता।"

विपिन का चेहरा गम्भीर है, उसकी आँखें सचमुच जैसे स्थिर नैराश्य से जड़ बन गयी हैं। रवि उसके चेहरे की ओर देखकर चंचल हो उठा। उसका हाथ कसकर थामा और कहने लगा, "क्यों अपने ऊपर इतना दोष लादे ले रहे हो विपिन, इतनी हताशा में क्यों डूब रहे हो ? चाहे जितने नियमों में बाँधो, हृदय तो कहीं जाता नहीं।"

"मैं रेलगाड़ी हूँ।"

"नहीं, तुम पहले आदमी हो। कोई सोचता है, वह रेलगाड़ी है, कोई सोचता है वह स्पुटनिक है, कोई सोचता है वह कोई संहारक अस्त्र है, परन्तु मानसिक विकृति के सामयिक विचार हैं ये सब, उनकी परिणति भी अपने और दूसरों के लिए अशुभ है। वास्तव में सब आदमी हैं, सरल भाव से जीने को छोड़ देने पर सब स्वतः घुल-मिल जाता है, गोबर में रस लेकर सुगन्धित फूल खिलते हैं। नैराश्य आता नहीं, दुख छूता नहीं, जीवन सतेज रहता है।"

झुकते-झुकते विपिन फिर सतेज हो उठा। रवि का, जीवन-दर्शन के बारे में, व्याख्यान उसके अन्दर सचमुच जैसे कितनी लोहे की छड़ों और स्प्रिंग पर दबाव देता हो ! उसे अनुभव हुआ कि क्षण-भर के सिर चकराने में वह दुर्बलता प्रकट कर चुका है। सिर उठाया। चेहरे पर, आँखों में, फिर लौह-हँसी।

"नहीं, कुछ नहीं," उसने कहा।

लोग आ गये हैं। मामूली बातचीत से उन लोगों से छुट्टी पाने के लिए उसने कहा, "और ? हूँ, सब ठीक चल रहा है, तो ? आप लोगों की मैं क्या मदद कर सकता हूँ, कहिए। झगड़ा या अड़चन तो कुछ नहीं ? अच्छा, अच्छा है। और ? ठीक है ठीक है। इस बार तो अब चलूँ, कई जगह जाना है।"

उस ओर से महिलाओं का एक जत्था भी आ रहा है। वे दोनों मानो केन्द्र हैं। उनके चारों ओर गाँव-भर भँवरी घूम रहा है। "आज आप हमारे गाँव में मेहमान हैं, ठहरेंगे नहीं ?" सदा गोछेइत ने पूछा। विपिन ने अगले पाँव पर टिककर, तनकर सीधा हो, मानो और भी लम्बा बनने की चेष्टा की। फिर बोला, "नहीं, नहीं, माफ करें। कई तरफ़ जाना है।"

और किसी ने रोका नहीं। वह जीप में बैठा। जीप स्टार्ट हुई—धूल उड़ाती चली गयी। क्यों वह आया या कुछ पता ही न चला। सब उसे जाते हुए देख रहे हैं। बरगद की छाया ढाँप रही थी, खेत की थोड़ी-सी जगह। समय ढल गया था। घने बरगद की ओर उड़ती-उड़ती आ रही हैं असंख्य चिड़ियाँ, दल के दल।

सदा गोछेइत ने पूछा, "जी आप तो आज ठहरेंगे।"

रवि हँस पड़ा।

छवि अकेली तटबन्ध के सहारे खड़ी थी। पीठ की ओर सेंहुड़ा का पेड़ और टीले हैं। पर से यह छिपता नहीं, परन्तु इतने पास है कि आहिस्ते पुकारने पर भी सुनाई पड़ता। और दिन-भर में सूरज अस्त होगा, बाकी तरफ तो ऊपर नीचे दूर तक इस सूने सौन्दर्य की प्रतिमूर्ति बन जो केवल इस सिहरते पौष में ही नजर आती है—सामने अनन्त अखण्ड नीलिमा गम नहीं, कल्पना नहीं, मानो कल्पना का एक रूप नहीं, जीवन का स्वप्न और मर्म भावों का अनकहा संगीत यहाँ रंग का चित्र बन क्षण-भर के लिए विराजित है। बाद में यह लीन हो जायेगा।

छवि अन्यमनस्क होकर उसी सूर्य की ओर देख रही है मानो कि उसमें मिल जाने की चेष्टा कर रही थी। कभी सचमुच उसमें मिली जा रही थी, तब उसे अनुभव ही न होता। फिर कभी उससे छिटक जाती, तब वह उदास बनकर अनुभूति के बीच छन-छन से चोटनी हो उठती, उसकी छाती के नीचे धर-धर होती। कितनी जल्दी मन के अन्दर एक दूसरे का पीछा करते हुए ज्वार भाटा-जोड़ी करते, एक ही निःश्वास में कितनी अतीत की चेतना-समष्टि, भूले-अधभूले दृश्यों की स्मृति है। चेतना में कैसे गहरे आनन्द के तले से जो भाव उठता, उसकी किरण शीतल, उज्ज्वल, वर्ण की विचित्रता से और विपुलता में विह्वलकारक। उसका अविकल प्रतिरूप मानो यह सूर्य है।

पौष का यह अस्तगामी सूर्य आरक्त हो चुका है। महाशून्य में अस्त होने की तरह उसकी गोलाई की लकीर का स्पष्ट पता चल जाता है। सचमुच जैसे कितने ही अपार काल की अनन्त दूरी की ओट से भी वह अपनी माया-ममता, प्रखर और प्रकाश का ज्योतिपुंज खोकर स्वयं में वह रस संवरण कर अनासक्त होकर हँस देता है, उस हास्य में उद्दीपना नहीं पिघलती, अँधेरी चेतना में विचार की दीपशिखा भरे देता है—इस पल तुम गति रोको, स्थिर होओ, भेद खोल डालो, अनुभव करो, सोचो!—सुदूर देहात के पाटेली गाँव में उस समय छवि के लिए मानो इतना ही उसका सन्देश है।

सूर्य अस्त हो रहा है, शरशय्या पर है भीष्म, क्रियाशील, गति और शक्ति के आधार, वे आत्मस्थ होकर स्थिर हो गये है, दृष्टि की सीमा से चले जा रहे हैं दिव्य दृष्टि की सीमा में।

छवि की छाती गहरी साँस से उठती है, गिरती है। सेंहुड़ा के पेड़ से वह चिपट गयी है। तनिक खसखस या खड़खड़ाहट होते ही वह चौंक उठती।

बीच-बीच में उसका मन जाग उठता। तब वह इस अद्भुत गम्भीर क्षण में अपने साथ उसका मुकाबला करती, क्या उसका उद्देश्य है? क्या उसने पाया है? ऐसे कितनी ही पूछ-ताछ, समझा-बूझी करती। अस्पष्ट-सी प्रतिध्वनि की तरह उसके मन-गहन में उसका उत्तर गुनगुनाते समय फिर वह अस्तगामी सूर्य से चिपटी थमी रहती। तब भले-

बुरे के विचार और उद्देश्य से परे केवल एक स्पन्दित मन.रूप होता।

किनारे के तले दूर तक फैल गया है फ़सल से भरा कछार। टटके-टटके बैगन, टमाटर, मटर की फली। जाड़ों के दिनों के कद्दू, करेला, भाँति-भाँति की तरकारियाँ बीच में वो दूर रखवाली करने के लिए झोंपडी बनी है। और दाहिनी तरफ़ हलदी सरसो का खेत। पहले इस कछार का पट्टा लेने के लिए कितनी बढ-चढकर बोली, झगडा होता, परन्तु अब यह फसल की है सामलाती से। सब खटते हैं, सब भाग पाते है। कछार के नीचे बालूचर है, खाली विस्तृति में कुछ सोने की झलक जैसे दिखाई दे रही है, उसके उधर नदी की सुरमई लकीर, उस पार तीखा कगार और अमराई।

और बाँयी तरफ कोने में सूरज उत्तर पडा है। निचला आधा तो बुझ गया है, ऊपर का आधा दमता-दमता जा रहा है, अपरूप वर्ण के किसी देवल की तरह, सारे आकाश में रंग-रंगीले चन्दोवे।

घुटी-घुटी-सी छवि उसी अस्त-सूर्य की ओर देख रही है, मानो सृष्टि विलीन होने से पूर्व कुछ थोड़ा-सा उत्तर चाह रही है, जिस पर कि उसका सारा अस्तित्व भार दिये टिका है। ठीक है, डूब रहा है, छाती के अन्दर खूब जोर से हिलोर-सी उठी, अपनी धुक-धुकी की प्रबल धड़धड़ाहट मानो सचमुच उसके कानों से टकरा रही है, और फिर उसकी छाती के तले एक प्रचण्ड उथल-पुथल होकर फिर सब स्थिर जैसा हो गया। अस्ताचल की अन्तिम रक्त-रेखा को प्रणाम करने के लिए दोनों हथेलियाँ उठाने तक वह बुझ गया। एक गहरे साँस छोड छलछलायी आँखों से वह उसी दूर की ओर देखती रही। श्मशान-वैराग्य का दोष दर्शन उसकी चेतना पर काले डैने फैलाये घेरे रहा कुछ देर तक—

यह सब चला जायेगा, सब झूठ है!

आहिस्ते से फिर रंगीन हो उठता है बिना सूरज का आकाश, जैसे किसी गहन अन्तर में मर्म भाव के आलोडन से ऊपर चिकने गालों पर रंग फैलता हो। कितना सुन्दर। छवि उसी दृश्य के आगे स्वयं को सब आनन्द की झलक की तरह अनुभव कर रही थी। सूरज नहीं, वह है। इस संसार में ऐसे कितने विभव, कितने पराक्रम, कितनी चमक-दमक, कितने इन्द्रजाल आये-गये है, अपने नाम को लोगों की निगाह में पडने लायक़ रखने के कितने उपाय, कितनी चेष्टाएँ की है, देवल की देह पर खुद कर या अगणित लोगों के लहू-पसीने में भीग-डूब लेखनी की नोंक से ताडपत्र या भोजपत्र पर लिखे जाकर भी वे सारे नाम अस्त हो गये है, खो गये हे, और इस पल वह यहाँ है—छवि!

सोने की पाग बांधे मोती-माणिक जड़े वेश पहने एक-एक या दल के दल तैरते जाते है आकाश में कितने मायारूप। उनके वैसे ही दल के दल कितने मायावाहन, हाथी, घोडा, ऊँट, बाघ, मगर, एक रूप और एक रूप में बदल जाता है, और फिर उसका रूप ही टूट जाता है। वैसे एक-एक झलक में आकाश में जितने जादुई राज दिख जाते थे, कितने गाँव या गढ या दूर का रास्ता, उनका छुपा-छुपा संकेतमय गुप्त

इतिहास—देखते ही देखते वह भी कहीं विलीन हो गया है ।

ओर है यह, छवि, सूरज चाहे डूबे या विलीन हो जाये, चाहे जितने चमत्कार-पूर्ण दृश्यपटल हों, वह अपने प्रवास में आनन्द ले रही है । उसके पैरों तले भूरी घास है । घास में लाल रामजड़ा, वह उसके तिनके कोमल पत्ते के सिरे को अंगूठे और तर्जनी के योग धीरे-धीरे मसल रही है । वहीं से तनिक हटकर किसी ने दोपहर में टट्टी की है, और एक तरफ किसी का कुट्टे का हाड़ पड़ा है । पास फलवाली पोढ़ा मुँह खोल 'आँ' किये एक टक से वह दूर देख रही है । यौवन और जीवन की मूर्ति है यह आदमी !

कोई कार्यकर्ता नहीं, कोई खिलाड़ी नहीं, केवल आदमी !

वह अचम्भे में भरी विह्वल होकर एकटक देख रही है उसी आकाश की ओर । थोड़ी-थोड़ी दूरी पर नारियल की फुनगियां पर वहीं कितनी सुन्दर की सुन्दर अनजान चिड़ियाँ उड़ जाती हैं । कहीं किस देश से आती हैं, फिर किधर चली जाती हैं ।

अचानक उसे लगा—जितने यह सिर चकरानेवाले काम हैं, जितनी दाँत भींचकर प्रतिज्ञा-मूर्तियाँ हैं, जितने भौंह फाड़ मुट्ठी कसकर पड़ी-पड़ी चारों उफनते हुए आन्दोलन हैं, जितने ऊँचे काठ के पायदान पैरों में बाँध भाँति-भाँति के विविध साज सजा अपनी टेक ऊँची रखने के लिए जीवन व्यापी परिश्रम है, जितने धन्धे या योजनाएँ, चिन्ताएँ या बुद्धि की कसरत है जिनमें भेजा पिघल जाता है—ये सब केवल आनन्द के प्रवास के लिए अवलम्बन मात्र है । जो जिस तरीके से कर सके । ये अपने में आनन्द के हेतु नहीं । आनन्द तो अपने अन्दर है, अनुभव कर सके तो वह है, न कर सके तो नहीं । जो अपनी पहुँच में है उसे हाथ बढ़ाकर ले लेना ही मानो बुरा है, मुख्य सतेज सरल दृष्टि से देखना ही गलत है, अतः कायर आदमी हाथ पसारता है दूर—आसरा करता है कुटिल बुद्धि का और जटिल पंथ का ।

छवि ने सतेज होकर मन में चंचलता का अनुभव किया, और उसे अनुभव हुआ अपने भीतर से निकल रही मादक महक का, रफ्तार में मन का एक खेल रच लिया कि वह आदमी नहीं, कोई फूल है, झरने या ■ झरने की उसके मन में कोई चिन्ता नहीं । वह है, बस इतना ही यथेष्ट है ।

अपनी महक के साथ साँस से पी रही है परमतृप्ति, शान्ति, आनन्द । लू की प्यास में शीतल पानी की घूँट पीने पर जैसे तृप्तिकर हो, उत्साह और उत्तेजना आती है, कुछ वैसा ही लग रहा है । समूचे सब उसके, अपने, स्नेही आदमी, किसी के साथ उसका विरोध नहीं, प्रतिद्वन्द्विता नहीं । उसका आनन्द ही उसकी सार्थकता है, वह नहीं चाहता कि कोई उसे चीन्हे या बड़ा करे या प्रशंसा करे । यही हवा, यही छाया-रोशनी का दृश्य, यह माटी का उतार-चढ़ाव उसे मायाजाल में गूँथकर रखे हैं, प्रत्येक धागा ढूँढने पर कोई एक स्मृति, नहीं तो परिचित स्वप्न के सारे तार अनन्त आनन्द में समा जाते हैं ।

इस गाँव में कभी था हृदयों का फटना-टूटना, गाली-गलौज, निन्दा, कलह, दंगा-फ़साद। वे ही जो आज उसके बारे में इतनी प्रशंसा कर इतने आशीर्वादों से सींच-सींचकर प्रचार कर रहे है, कितने लोग उनमें से ऐसी बातें भी तो कहा करते थे कि सुनकर हाड़ से मांस झर पड़ता था। कितना बड़ा झूठ, कितना अपवाद! हलदी मलने की तरह कब से झड़ गया है, याद आने पर पोंछे छूट जाता, कोई परवाह नही है। वैसे ही उसे लालच नही इस प्रशंसा की। गाँव की बहू-बेटी ने परदा खींचकर फेंक दिया है, जाति में बड़ी-छोटी, छुआछूत, धन में होने न होने का भेद, मन के किस कोने-कोने में किस मान्धाता के जमाने से घर-घर में मतान्तर, आँचल में ढेर की ढेर गाँठ की तरह बाँधे थे—वे सब मन से भूल चुके हैं, सन्तान पैदा करना, खाना पकाना, धान लगाना—इनके अलावा अब और भी विराट् सामाजिक जीवन का वे लोग उपभोग कर रहे है, एक गाँव, एक घर, सब आदमी भाई-भाई के आदर्श को नींव रखकर वे नयी दुनिया गढ़ रहे हैं, सचमुच जैसे वे लोग मरुभूमि पर बहाते-बहाते चले जा रहे है भागीरथी की नयी धारा। यह सब उसे बिलकुल साधारण-सा लग रहा है, इस सबमें उसका अपना कृतित्व कुछ है—उसे लगता ही नही; कुछ हैं भी ऐसा वह सोचती नही, बड़े-बड़े नाम उसे याद नही—त्याग, परिश्रम, सेवा, निष्ठा। फूल की तरह वह खिली है, हवा में उसका सुवास स्वतः घुल गया है, इसीलिए उसकी चेष्टा नही। उसका स्वाभाविक तरीका ही वही है।

उसमें जैसे, उसी तरह और भी कितनों में वह तरीका ढक्कन-बन्द हो रुका पड़ा था, खुल गया है। सारे स्रोत एक जगह मिलकर हो गयी है, पुण्यधारा! कार्य याद आता है तो उन्माद भर जाता है। गर्व या गौरव या गरिमा का कण-भर भी मन में आता नहीं।

याद आ गया कि आज हरि साहू सामलाती में आ गया है। उसमें भी कोई विचित्रता नही, साग के धोरे में साग का पौधा धीरे-धीरे खुद ही उठकर खड़ा हो जाता है, हर्सिंगार से फूल जैसे धीमे-से माटी पर झर जाता है, वैसे ही एकदम साधारण-सी यह घटना उसके देखने-सोचने के ढंग में मिल जाती है।

इसी हवा-पानी से गढ़े जायेंगे इस युग के छोटे-छोटे बच्चे। वे नये युग के कारीगर होंगे। भविष्य के घर-बारी आदमी, ये ही नन्हीं कोमल कलियाँ, कोई माँ के पल्लू की ओट में मुँह छुपा रहा है, कोई पाटी-किताब लिये घर लौट रहा है। उसकी छाती फूलकर चौड़ी हो गयी। अबकी उसने देखा, आकाश में एक-एक तारे उग आये थे। फीके-फीके दिखते-दिखते अब उज्ज्वल होते जा रहे है। ऐसे ही उगेंगे इस धूल-माटी से इस देश के ज्योतिष्क, स्नेह-शान्ति से बढ़कर वे मैत्री के प्रतीक बनेंगे। उनके विचार या विश्वास में न विरोध होगा और न सन्देह।

और वह होगी माँ, जैसे वो दूर तट पर देवदारु की जोड़ी की ओट से चाँद उगता आ रहा है, ये नन्हे-नन्हे तारों के ऊपर अपनी सुनहली हँसी उँडेले दे रहा है।

वहाँ सब कितना सहज और स्वाभाविक है।

विचारों-भावनाओं में खोये हुए अचानक उसे उचाट-सा लगा। उसकी देह सिहर उठी, वह तन-तनाकर मुड़ गयी और देखा, शायद कोई उसके मन की भावनाओं को सुन रहा है, अस्त-व्यस्त होकर उठते समय कहीं कोई पास छुपा बैठा देख रहा है।

छवि ने थर-थराकर तटबन्ध के ऊपर दृष्टि दौड़ायी। कोई नहीं, एक कुत्ता दौड़ा-दौड़ा आ रहा है!

और जो बड़ी बात उसकी चेतना में घुल-मिल सचमुच जैसे उसपर रंग चढ़ाये थी उसे मानो स्पष्ट छू दिया हो, कान और गाल गरम-से हो उठे हैं, देह थर्रा रही है, छाती धड़-धड़ कर रही है, छवि मन ही मन सोच रही है कि आज इस गाँव में रवि है।

लजाती-लजाती जब धीरे-धीरे तटबन्ध पर चढ़ी, और फिर उतरकर घर की ओर चल पड़ी, तब घूम-फिरकर स्मृति लौट गयी दो वर्ष पीछे की ओर, जब रवि के साथ उसकी पहली देखा-देखी हुई थी।

घर की प्राचीर के दरवाज़े पर फिर रुककर प्रतीक्षा करने लगी। मन ही मन वह खयाल बुनने लगी कि चबूतरे पर चटाई डाले वे बैठे होंगे, बतियाते होंगे। पास माँ होंगी, गुरु की माँ, बगलवाली कोठरी में पल्थी मारे बापू बैठे होंगे, भागवत-पाठ से पूर्व जैसे वे आँख मूँद कुछ समय बैठते हैं, किसी अनदेखी शक्ति के ऊपर या खाली शून्य पर सम्पूर्ण आत्मसमर्पण की भंगिमा, सामने लालटेन और मयूरचन्द्रिका का चिह्न लगी भागवत का एकादश स्कन्ध, सिर के ऊपर मुकुट की तरह बड़ा धान का गुच्छा, उसमें कौड़ियों की माला लपेटी होगी। उन्होंने रवि को स्वीकार कर लिया है, उनके व्यवहार से साफ़ पता चलता है। इस घर ने भी उन्हें अपना लिया है। उसी रूप में, उसी परिवेश में वह उन्हें देखना चाह रही है, बाहर सम्बन्ध स्थिर न हो, शंखवाले ने शंख न फूँका हो, पुरोहित ने मन्त्र न पढ़ा हो परन्तु मन ही मन उसका समर्पण हो चुका है।

और दो डग जाते न जाते उसके मन में मानो वितर्क उठता है—

और अगर वे राज़ी न हुए तो? उनका यदि कहीं और मन होगा तो? असम्भव! खूब ज़ोर से मन ने प्रतिवाद किया। समुद्र में ज्वार ही चन्द्रमा के आकर्षण का प्रमाण है। बचपन में पढ़ी साधारण भूगोल की बात यही बताती है। और यहाँ उन्हें उस दिन से देखा, तभी से अपने जीवन के प्रत्येक क्षण में अनुभव करती आयी है ज्वार का, उसी खींच-तान में उसने जीवन के लक्ष्य का अनुभव किया है। वह भला कभी झूठ हो सकता है?

....पर वे क्यों आये हैं?

खूब जल्दी-जल्दी वह घर के आँगन में चली आयी। भीतर घर के दरवाज़े पर एक छोटी छाया हिल उठी। भग् कर सामने आकर उसके पल्लू को खींच खसखसाहट के स्वर में एक ही साँस में कह गया, "छवि जीजी, वे आये थे, चले गये!"

छवि ने उसके हाथ को कसकर थाम लिया और खींचते हुए पूछा, "कौन, कौन रे गुरु ?"

गुरु ने मन ही मन मानो अभिमान किया हो, मानो दोनों किसी षड्यन्त्र में लिप्त थे, पर अब एक जन दूसरे का विश्वास करता नहीं—ऐसा उसे अनुभव हो रहा हो। नटखट स्वर में कहा, "कौन ?....अगर तुम न जानो तो मैं फिर उसे कैसे जानूँगा ?"

उसका माथा सहलाते-सहलाते फुसलाकर छवि ने पूछा, "बता न, क्या हुआ ? बड़ा सयाना है रे !"

"मैं भला कौन ?"

गुरु खबर दे गया कि रवि आया था। उसके साथ बहुत सारे लोग थे, उन्होंने बाहर प्रतीक्षा की। उसे गुरु की माँ घर के अन्दर बुला ले गयी, फिर छवि की माँ और गुरु की माँ ने उससे बातचीत की, सिन्धु चौधरी भी बाहर निकले। जलपान से उसने इनकार कर दिया था।

"जाते समय मुझे क्या कह गये, जानती हो ?"

"क्या ?"

"बोले, अपनी छवि जीजी से कहना—वे आयेंगी।"

"तूने क्या कहा ? क्या कहा ?" साँस-साँस कर वह पूछ गयी, सारी देह उत्तेजना से भरी थी।

"सच रे, वे तो उसी सामलाती में ही रहते हैं। मुझे भी बुलाया है, कितना खेल-तमाशा-यात्रा होता है वहाँ !"

उसके विचित्र विह्वल भाव को दहलाते हुए उधर सिन्धु चौधरी की स्पष्ट आवाज़ आयी, "कौन, छवि ?"

"हाँ, बापू !"

"रवि आया था। सामलाती घर में आज साँझ को एक चर्चा होनेवाली है, काम-धाम को लेकर बातें होंगी। तुम्हें भी बहुत ज़ोर देकर कह गया है आने के लिए।"

पिता के मुँह से 'बहुत ज़ोर' सुनते ही छवि के कान लाल हो गये। लाज के मारे उसे लगा कि यहीं माटी में मिल जाती। परन्तु सिन्धु चौधरी ने बालक की तरह सरल सीधी आवाज़ में कहा, "कहा है कि तू अपना दल-बल बुलाकर ले जाना। तुम्हारे महिला दल के सबको जाना है। वास्तव में इन सारे कामों में चर्चा और भावों की अदला-बदली की बहुत ज़रूरत है। आज कितनी खुशी का दिन है कि हरि साहू इस सामलाती में मिल गया है। वह सदा अखबार की बात कहता है, आज वह ज़रूर जी खोलकर कहेगा अपनी बात—उसे क्या हुआ जो वह पिघलकर बह चला समुद्र में मिलने के लिए। सुनने में मज़ा आयेगा...."

"बापू, तुम भी जाओगे न ?"

"मैं तो बस निकल ही रहा हूँ। और जल्दी ही तुझे भी निकलना है। जा

बुलाती आना अपनी सबों को।"

खुशी से नाचती-नाचती पैर पटकती चल दी छवि। छवि की माँ ने ऊँची आवाज दी, "अच्छा, अच्छा, उसे बुलाया आया है, वह आयेगी, आपको आदर-प्रीत मिला है आप जायेंगे, और मैं—मुझे तो कोई बुलाता ही नहीं।"

सिन्धु चौधरी ने कहा, "तुम्हीं तो हो असल, तुम्हीं तो हमें ढोकर ले चलोगी!"

"हूँ, बारातों-पोत पड़ा है, बाजा दिखाने ले जाना है!"

"अरे, पहले तो था प्रहसन या नौटंकी या सिनेमा-थियेटर। आँखों से देखते रहो, कानों से सुनते रहो ढोल-मजीरे, मृदंग की तक-तक हाव-भाव, जी के सिवाय कुछ नहीं तो नाचना, कूदो, नाच, उसको लेकर घर लौटना। पर जो नाटक है अब, उसमें भाग लेंगे हम-तुम सब, तू होगी नट। तू ही गानेवाली, बजानेवाली, ठाकुरजी भी तुम्ही और क्या?"

"हाँ सब तो मैं, और कोई क्या? मैं ही नाटक का नायक!"

"अरे बाबू, तुम सब एक साथ न होने पर भी एक-एक कर सब हो। आदमी अपने लिए मन का यह मेला करता है। कोई ऐसी उत्सव आता है किसी राज में, सब एक जगह होते हैं, जो लोग युग-युग की बातें करते हैं। नाना लोगों का बुद्धि-विचार एक साथ मिलकर एक रास्ता निकलता है, ताकि सबकी और अधिक भलाई हो। अज्ञान, अशिक्षा, अन्धकार, गरीबी, रोग, अविचार इन सबके विरुद्ध लड़ाई तेज होगी। और भी नाना-नाना अच्छे अच्छे उपाय निकलेंगे। रास्ता दिखानेवाले, घर चलानेवाले, आदमी गढ़नेवाली तो तुम औरतें हो, तुम्हीं लोगों की महल-घाट घर की चर्चाओं या सुबह-शाम की गुनगुनी से युग-युग से इस समाज के चलन ने दिशा बदलकर इधर-उधर मोड़ लिया है, और इस गाँव ने जैसे नये ढंग से नये चलन को अपना लिया है, सारी तो तुम्ही लोगों की करामात है—"

"अच्छा, बस-बस!" छवि की माँ ने बात काटकर कहा, "मुझे इतना ऊँचा करने की जरूरत नहीं। जो तुम कह गये, कर गये। सब तो मैंने सहा, और सहती रहूँगी जीवन-भर। बाबाजी बने। कहा कि माताजी बन, वह बनी। न खाना न पीना, देह के भले-बुरे की ओर कोई ध्यान नहीं, बेटी को छोड़ दिया पत्ते की पत्ती की तरह घूम-घूमकर गाँव-दुनिया की बेगार करते। माँ होकर उसे भी सहा...."

"ओह!" सिन्धु चौधरी ने हँसकर कहा, "तेरे मन का अरमान मिटा नहीं!"

"वह मरा नहीं जाने का! क्या था, और यह क्या हो गया, क्या हो रहा है! फिर वैसे ही कर रहे हो? फिर बाबू लगेगी नहीं, बेटी बूढ़ी हो जाये!"

"परिवर्तन के साथ-साथ तुम चल रही हो, तुम्हें तो उसने तोड़ा नहीं, मरोड़ा नहीं, फिर तुम्हें दुख किस बात का?"

"मुझे और दुख क्या है, बाढ़ में सब भर गया!" छवि की माँ ने हँसकर कहा।

सिन्धु चौधरी ने कहा, "बाढ़ की बात शायद तुम समझ न सको, तुम्हारे पोते-पड़पोते समझेंगे, वे कहेंगे कि सैकड़ों बरस हुए जो मानव-समाज इस देश में पड़ा-पड़ा बँधे हुए दल-कीच में जम गया था, उससे उलझकर नया जीवन्यास तुम्हीं लोगों ने दिया, अतः उसमें नयी सृष्टि और नूतन विचार सम्भव हो सके, लोग यही कहेंगे।"

"अच्छा, क्या-क्या वे कहेंगे, ताड़पत्रों पर तुम लिखकर रख दो, गुसाँईजी की गद्दी के पास ताक में। किसी के पड़पोते ही सही, वे पढ़ेंगे, तुम्हें तो होने से रहे—"

उनकी हँसी बदलकर एक करुण दीर्घ साँस में परिणत हो गयी। सिन्धु चौधरी बरामदे से उनके पास उतर आये, बोले—"सुन, अपनी उमर गढ़ने के अलावा जिसके पास और कोई काम नहीं होता, वह बूढ़ा होता है, या वो बूढ़ी होती है; जो नयी सृष्टि करने की तरह काम के स्रोत में मिल जाता है, उमर के हिसाब से उसकी नाप नहीं होती।"

"नहीं, वह जवान ही रहता है, एकदम तुम्हारी ही तरह!"

"और जो अपना जीवन धन्य करता है, लोग श्रद्धा करते हैं, भक्ति करते हैं या पूजा करते हैं, उसकी उमर की भी नाप नहीं होती। ठाकुरजी देवताओं के परिवार को लेकर हम बातें करते हैं—कोई किसी का बेटा या बेटी है, तो कोई किसी की भार्या, परन्तु कभी किसी के मुँह से सुना है कि पार्वती की उमर कितनी है?"

गहरी साँस छोड़कर छवि की माँ ने कहा, "अच्छा, भुलाते रहो, मुझे नहीं बहकाते, खुद को बहका रहे हो। मुझे लगता है, बेटी के लिए वर तुम्हारे हाथ के नीचे है। बेटी खुश होती, बेटा भी अवश्य खुश ही होता, पर तुम्हारी आँखों को दिखता नहीं?"

हँसकर सिन्धु चौधरी ने कहा, "शायद न दिखता हो, बताओ न।"

"निकारण सर्वज्ञ पुरुष बने हो, देख नहीं पाते? मैं हुई औरत जात। छवि के लायक रवि। जैसे यह जोड़ा विधाता ने गढ़ा है। तुम्हारी चुप्पी तुम्हारे पास रहे। एक बार फिर बात चलाओ तो सही। नहीं तो स्वयं जाकर बट महान्ती से बात करो।"

"बल्प बट है न, माँगते ही थाल भर देंगे।"

"एक बार इनकार किया था, आन पर अड़कर हम बच्चों का जीवन नष्ट कर दें?

किसी के जीवन का कोई कुछ नहीं कर सकेगा, छवि की माँ! वे अगर ब्याह करना चाहेंगे तो कर लेंगे।"

"कौन करायेगा?"

"करानेवाला एक ही है, उसका काम दिखता है, वह नहीं दिखता। 'सो बिनु आन गति नाहीं'।" सिन्धु चौधरी हँस पड़े। फिर बोले, "तुम जाती हो, फिर एक क्यों जाती हो? गाँठ के पास लौट आती हो, उसमें बँध-जुड़ जाती हो, छटपटाती हो—यही फल होता है। गाँठ खोल दो, दोनों हाथ ऊपर टेककर निश्चिन्त हो जाओ।"

"क्या ये सब फालतू बक रहे हो ? क्या मेरी बेटी का ब्याह नहीं होगा ?" उस स्वर में बज उठा अत्यन्त करुण संगीत ।

सिन्धु चौधरी वैसे ही प्रशान्त भाव से कहते गये, "अफसोस इसी बात का तो होता है कि लोग कहते हैं मेरी बेटी सुखी नहीं होगी । मेरा बेटा सुख से नहीं रहेगा । ये केवल कहते हैं, मेरी बेटी का ब्याह नहीं होगा । मेरे बेटे का ब्याह क्या नहीं होगा ?"

"और नहीं तो क्या कहते ?"

"नहीं, नहीं तो ! बस आडम्बर से बाजा बजाकर लोग इकट्ठे कर भोज वगैरह खिलाकर पुरोहित को बुला चार-पाँच पन्ने श्लोक-पाठ कर सोचते हैं कि जीवन भर का दायित्व उतर गया । तुम भी उसी तरह सोच रही हो । तुम समझतीं क्यों नहीं कि ये गुड़ियाँ नहीं, आदमी हैं ! दो आदमी अगर सोचें कि वे एक साथ रह एक सन्तान के माँ-बाप बनेंगे, या एक साथ रहे बिना उनके जीवन का कोई अर्थ नहीं है, तब वे जैसी इच्छा होगी करेंगे, वैसे ही रहेंगे ।"

तिरछी होकर छवि की माँ के चेहरे पर चाँद की किरणें पड़ रही थीं । सामने थे सिन्धु चौधरी । उन्होंने देखा, छवि की माँ सिहर उठी है, उनका चेहरा विवर्ण-सा दिख रहा था । थरथराती खोखली आवाज में कहने लगी, "तुम्हारे मन में क्या है खुलकर कहो । तुम क्या कहते हो, मेरी बेटी का ब्याह नहीं होगा । सिर्फ छिपकली बनकर किसी के पैरों तले—"

"सुनो, पागल मत बनो । पीछे लगकर जप-तपस्या कर वर पाने का भाग्य तुम्हारी बेटी का है या नहीं, मैं नहीं जानता । प्रेम और सम्बन्ध, ये दोनों एक ही बात नहीं है । हम खोजते हैं सम्बन्ध, जैसे जमींदार जमींदार के साथ या ग़रीब अमीर के साथ या व्यवसायी एक और व्यवसायी के साथ । घर के बड़े-बूढ़ों की रुचि के अनुसार, लोभ के अनुसार सम्बन्ध खोजते हैं । परन्तु प्रेम खोजने गयी थी पार्वती । और जो जाति, आचार, शास्त्र या संस्कार से बँधा समाज लेकर हम बड़ाई करते हैं, इस समाज में अतीत में आदमी के वास्तविक प्रेम ने समाज के सम्बन्धों को कई बार उलट-पलट दिया है । उत्पला ब्राह्मण-कन्या थी, चित्रक जाति से था चाण्डाल । उनके प्रेम ने उन्हें अमर कर दिया । दोनों के अन्त के बाद उनका शव जिस नदी में गिरा वह हुई पवित्र चित्रोत्पला नदी, उन दोनों के नाम पर ठाकुरजी की मूर्ति बिठाकर हमारा ही यह मान्धाता के जमाने का समाज उन्हें पूजने लगा ।

छवि की माँ की आँखों में आँसू छलछला आये थे—मौनी नदी में चन्द्रमा की झलक ।

कहने लगी, "कौन पड़े इन बातों में ?"

उनका सिर चकरा रहा था ।

सिन्धु चौधरी ने कहा, "देखो, जन्म दिया है, पाला-पोसा है, चाहती हो । तनिक उदार बनो, निधड़क होओ । जाल डालना या बहेलिये की तरह फन्दा डालना,

षड्यन्त्र करना, ये सब अपने काम नही है। वे एक-दूसरे को पहचानते है। दोनों की एक ही काम में झोंक है। एक ने घर छोड़कर जगत् को घर बना लिया है, और एक घर पर रहकर भी मानो अघोरी है। मुझे तो लगता है, अगर इनका कभी विवाह होगा भी तो वह भी होगा एक योगसाधना की परिणति, दो विशाल हृदय त्याग, तपस्या, स्नेह, उदारता में बिछकर पड़ते-पड़ते जाने कब अचानक एक हो जायेंगे। वे अब कोई गुड्डे या गुड़िया तो हैं नही। आदमी हैं।"

"और अगर न हुए? अगर किसी ने ब्याह का नाम न लिया तो?"

मित्तू चौधरी बोले, "तो क्या हो जायेगा? क्या पृथ्वी पर प्रलय हो जायेगा?" बाद में छवि की माँ के कन्धे पर दोनों हाथ रख उनकी आँखों में आँखें डाल भावप्रवण होने की तरह कहने लगे—"वरना बताओ तो, रवि को छोड़ छवि के लायक और कोई वर है?"

सोचते-सोचते नदी के किनारे-किनारे चले जा रहे थे कोई, सीधी छड़ की तरह पतला लम्बा आदमी। खूब लम्बे पैरों की ओर से ऊपर को दृष्टि किये दिखता कि आकार चल रहा है—ऊपर ही ऊपर की ओर। फिर दिखी भालू सरीखी दाढ़ी-मूँछ, काले-काले बाल नही, सफ़ेद भूरे मिले-जुले। बड़े गेण्डे की तरह मोटी-सी नाक, दृढ़ ऊँची नासा, बड़ी-बड़ी आँखें, उनमें गहरी भावुकता, ऊँचा-चौड़ा ललाट भीत की तरह सीधा उठा। देह के अनुपात में एक बड़ा माथा। इधर-उधर पसरे पड़े टेढ़े-मेढ़े लम्बे-लम्बे बालों से लदा वह सिर और भी बड़ा लगता था। चौड़े कन्धे और सीधी गरदन का मानो गुमान टूटा नहीं। गोरी देह धूप में चिलक रही है। मटियाली खद्दर की मोटी धोती बाँधे है, कन्धे से देह पर तिरछा बँधा है मोटा गेरुआ खद्दर का गमछा या चादर। उसे ढँकने की तरह वहाँ एक हाथ लम्बा एक हाथ चौड़ा ताड़ के पत्ते का आसन भी झूल रहा है। थैले के एक ओर एक अलमूनियम का लोटा लटक रहा है, दूसरी ओर एक छोटी लालटेन, हाथ में गाँठदार पक्के बाँस की एक लाठी।

चला जा रहा है रूप, कोई जल्दी नहीं, परन्तु रुकता नही। मानो यह राह चलना किसी विशेष काम के लिए नहीं। यह जैसे उसका जीवन है। किनारे के नीचे की दुकानों से, फिर जगह-जगह किनारे के बग़ीचों तले अलसायी बातचीत की पंगत से लोग उधर देखते चले जाने के बाद पूछताछ करते, "कौन हैं ये? किधर जा रहे हैं?" परन्तु किसी की आँख की पकड़ में वह नजर नहीं आती, मानो किसी के साथ उनका कोई सम्बन्ध नही। केवल उनके पैर पड़ते-पड़ते आगे चलते, दो लम्बे क़दम, एक लाठी का सिरा।

यही वह चीन्ही हुई धरती है। बाँकी-तिरछी होती नदी बायी ओर चली गयी

है, दाहिनी ओर खेत, थोड़ी-थोड़ी दूर पर एक-एक आम-बगीचे में खिला बौर। सिर के ऊपर लाल पत्ते और आम के बौर। पेड़ के तने पर गिलहरियाँ ऊपर-नीचे दौड़ रही हैं। बीच-बीच में छोटी-छोटी मधुमक्खियों की भाँ-भाँ और कोयल की कुहू-कुहू। कटहल के मोटे तने से छोटे-छोटे बच्चे कटहल फूल आये हैं। किनारे के घने झुरमुट से सागर की महक आ रही है, कभी केसरी के फूलों की सुगन्ध। वो क्या पुराना सुनसाना चम्पा का बाग। फूल खिले हैं। आ गयी कोई देवल की फुलवारी। सोने बाँस का वन है, और घना नारियल का बगीचा ओट में, परन्तु सुगन्ध आ रही है। बकुल के फूल और नागेश्वर के फूलों की सुगन्ध एक साथ घुल-मिल गयी है।

सामने थोड़ी-सी दूर से लालवन, जामुन की कतार लिये बाँसों, फूलों भरा पाटली वन। बीच-बीच में पलाश और शाल्मलि का पेड़। एक ओर एक विराट् सेमल का पेड़, पत्ते बिलकुल नहीं। केवल लाल-लाल फूल। धूप के कारण रंग की आभा सचमुच जैसे धूल में रम गयी है।

याद आ गया। वसन्त। सचमुच जैसे सामान्य ही न रहा। और एक के बाद एक दिखता गया—जंगलों से भरी पहाड़ी दीवार से घिरी कोई छोटी-सी अँधेरी खोह, पर्वत की ढलान से कोई आँखों ओझल, छोटी-सी झोंपड़ियों की बस्ती से हटकर, सामने रंग में चमकता पाटली-वन, नीचे झरने के किनारे अशोक का सघन जंगल, वहाँ भी फूल खिले होंगे, और उन फूलों से भी सुन्दर स्नेह से सराबोर सरल चेहरे, काले चमचमाते—

"फिर कब आओगे बेटे ?...."

"इस लोक में भेंट नहीं हुई तो फिर उस लोक में भेंट होगी। हम सोचते-फिरेंगे कि वह कहाँ गया, ऐसा उसका चेहरा, हमें स्नेह दिया, बुद्धि बतायी, अभय दिया, हमारा भला किया, हमारा लाडला। हम उसके बेटे-पोते, हम उसके साथ मिलेंगे, बताओ वह कहाँ है ?"

उन्हीं छलछलायी आँखों की गहरी दृष्टि....वह एक-दो शब्दवाली भाषा, जो बातें बनाना, बढ़ाकर बतानना जानती नहीं, केवल दिखाती है हृदय की गम्भीरता।

हथेली भींचकर मुँह-आँख की ओर सीधा देख काँपते स्वर में कहा—"तू जा नहीं बेटे, सच तू चला जायेगा ?"

"हाँ, जाना ही पड़ेगा।"

जो लाया था, अन्दर से उसी ने आवाज लगायी है, फिर लौट जाना पड़ेगा। हवा में उड़ते-उड़ते खबर आयी कि वहाँ आदमी अपनी राजी से चुपचाप नया समाज गढ़ रहा है। सचमुच जैसे एक गाँव एक घर है, सब सबके हित के लिए स्नेह में गुँथे-बँधे। उसी तरह आग की चिनगारी यहाँ से उठ वहाँ पड़ती है, भावना फैल जाती है। इच्छा हुई कि देखूँ, जाऊँ, सचमुच क्या कल्पित पूरा हो गया।

अविश्वास भी हुआ नहीं। शुरुआत जहाँ से भी हो, होती तो ? जिस अहीर-

बस्ती में श्रीकृष्णजी जन्मे थे, जिस वनवासी-गोष्ठी के बीच शाक्य मुनि पैदा हुए, जिस अनजान पल्लि में शुरू हुआ है युग पलटने का आन्दोलन—कौन उसे जानता या चीन्हता था पहले! जाना-पहचाना, आँखों में दिख जाने लायक जो देवल खड़ा कर आडम्बर से सजाये लोग प्रतीक्षा कर रहे हैं—प्रकाश और, कहाँ खिला करता है उस जगह को छोड़।

कितनी ठोकरें, अनादर सहकर यह माटी मौन हुई पड़ी रहती है, फिर अकस्मात् कभी कहीं वह हिल उठती है, भूकम्प होने लगता है। वैसे ही कितने अत्याचार, शोषण, लूट सहते हुए युग-युग का अँधेरा, कुसंस्कार, नैराश्य के कूड़े-करकट के ढेर तले दबा रहता है किस देश का आदमी, और फिर उसकी चेतना में भर आती है हलचल—वह कुछ कर दिखाता है।

आदमी इच्छा करे तो काम कर सकता है, हाथ से हाथ मिलाये तो बन जाता है वज्र—कौन जाने हुआ होगा!

तब अपने आप याद आ जाती है कुछ ही बरस पीछे की कहानी। उसने उस अँधेरी गुहा में आश्रम नहीं गढ़ा था। देश ने इच्छा की थी कि वह स्वाधीन होगा। स्वाधीन हो गया। तब पुलिस और मजिस्ट्रेट थे। राजा-महाराजा, नवाब-ज़मींदार, रायसाहब-रायबहादुर लोग थे, और थी थाक-थाक पलटन, बन्दूक, तोप-तमंचे, आकाश में हवाई जहाज़, नदियों में युद्ध का बेड़ा था, देश में भेड़िये थे, झूठा भय था, देह में, मन में सब जगह मानो बन्धन की बेड़ियाँ पड़ी थीं, हिमालय से कन्याकुमारी तक उस विराट् कारागार की छाती चीरकर उठी थी एक ही आवाज़—"महात्मा गान्धी की जय!" और इस देश की जनता ने इतिहास निर्माण कर दिया, एक अभूतपूर्व स्वाधीन जनता की स्थापना कर डाली।

कौन कह सकता है? हो सकता है, आगामी इतिहास में और एक क़दम हो, जब देश-देश के बीच भी बाड़ें नहीं रहेंगी, युद्ध के बीज सूख जायेंगे, परस्पर का हित मनाते हुए यह सारी धरती स्नेह-मैत्री में गुँथ-बँधकर गढ़ा जायेगा एक मानव-समाज। वहाँ धन के लिए रंक छटपटाता नहीं होगा, ग़रीब छटपटाता होगा मन की ख़ातिर, भाईचारे के लिए। हो सकता है, उस पवित्र महानदी का जन्म हुआ है किसी पानी से लबालब खेत से। अतः उसने आश्रम से बाहर पैर निकाला है।

चमड़ी पर रेशमी धूप, सनसनाती हवा। वसन्त स्वागत कर रहा है। आकाश मेघमुक्त है। हिलती-डुलती छाया और झिलमिलाती रोशनी का वही पुराना अनभूला दृश्य। जो दिख रहा है और जो नहीं दिखता, सब एक-एक कर याद पड़ जाता है। धान कटाई के बाद ढोया जा रहा है। जगह-जगह धान के ढेर पर कबूतर और चिड़ियों की भीड़। जगह-जगह भाट-उमादों की धूम, कहीं पाला-गायकों की आवाज़, झांझ-मृदंग। गाय-गोरुओं की देह चिकनी दिख रही है। छान से छींका झूलता होगा, भीत पर अल्पना बनी होगी, और चलते-चलते अचानक छन् से लगता है, दृष्टि ठहर जाती है—

दूर धुँधली तराई पर, सब दृश्य वहीं घुल-मिल गये हैं, टँगा है भारी धुन्ध। वही एक अवगुण्ठन झूल रहा है। उसी के पीछे उनका अतीत है। उसी धुन्ध के अन्दर भी एक चेहरा दिख जाता है, फिर उसके पास और तीन छोटे-छोटे चेहरे। याद आता है कि इसी किनारे-किनारे वे घर लौट रहे थे, आज भी हैं इसी किनारे-किनारे। किसी को देखेंगे ?

दीर्घ साँस से छाती फूल उठती है। फिर उस हूली हूक को दबाये रखते हैं। सचमुच जैसे अपनी छाती को निर्देश देते हों कि छाती तू पत्थर हो जा! और एक ढंग से स्मृति को याद करते। एक को दबाते ही दूसरी निकलकर ऊपर आती। एक नहीं करोड़ों-करोड़, एक का मोह काटकर उन्होंने उन करोड़ों के प्रति मोह को अपने हृदय में स्थान दिया था, वही तो रास्ता दिखा रही है। जहाँ भी गिर पड़े, देश के भाई होंगे उठा लेने के लिए, नहीं तो इस देह को अर्थी पर लाद देने के लिए।

सो रहा गाँव। धान कट गया होगा। खेत के उधर जो जो धान का वन दिखाई पड़ रहा है उसके उस पार है। इस गाँव में तीन चरखे चलाये गये थे, खादी का कपड़ा बुनने के लिए यह गाँव हुआ था एक केन्द्र। दो ने नौकरी छोड़ी। कई बच्चों ने स्कूल की पढ़ाई छोड़ी और देश के काम के लिए निकल आये थे। औरतों ने चरखा चलाया। कितना उत्साह तब था! और फिर घर जलानेवाले पुलिस साहब ने रातों-रात छुपकर गाँव में आग लगा दी। हाँ तो, यही फागुन के अन्तिम दिनों की ही तो बात है! कितनी विकलता! घर राख हो गये, पर अकड़ तिल-भर भी नहीं मिटी। पहले से अधिक तगड़ा संगठन खड़ा हुआ। उसके पीछे थे इस इलाके-भर के लोग। यही उस समय की विशेषता थी। ऊपर जितनी दिख रही थी उतनी ही नहीं, वह तो एक हस्ताक्षर था, समूचा देवल नहीं, देवल के सामने की पताका-भर थी। और अँगरेज सरकार बारम्बार भूल कर रही थी उसे अपने आकार में सीमित मानकर। तब खादी केवल एक प्रकार का मोटा कपड़ा ही नहीं थी, वह एक पवित्र आकांक्षा और आदर्श का प्रतीक थी। वैसे ही महात्माजी। वे सारे भारतवर्ष के प्रतीक थे।

गाँव-भर जलाकर राख कर वे उस स्रोत को जरा भी न रोक सके। कहीं से फिर आ गया बैलगाड़ियों में भर-भरकर पुआल, बाँस, धान, चावल। ठूँस-ठूँसकर गाँववाले लाकर दे जाते। अँधेरे-अँधेरे में माटी रूँधकर गारा बना लेते, दीवारें खड़ी हो जातीं। किसी ने किसी को नहीं कहा कि आओ, श्रमदान करो। विराट् आश्रमघर खड़ा किया गया, फिर क्रमवार घर-द्वार बनाये गये।

बाद में गाँव के उधर उस खूब सघन अमराई में वह जो ताण्डव-लीला हुई! वहाँ आस-पास के गाँवों से आकर कोई दस हजार औरत-मरद जमा हुए होंगे। किसी के हाथ में छड़ी का टुकड़ा भी न था। बस चेहरे की दृढ़ता, छाती का बल था। और उनके आगे दल के दल कतार-कतार में लाठीवाली पुलिस, बन्दूकधारी पुलिस। मोटी तोंदवाला अधेड़ रघुराम डिप्टी घोड़े पर से हुकम दे रहा था। सार्जण्ट साहब एक-एक

की खींच लाता, नंगा कर पीटता। फिर पीछे से आवाज आती, "रघुवा नना, नुण मरा हेला पछकु अना" (रघुवा दादा, लूग बनाया पीछे देख !)। दाँत किटकिटाकर घोड़ा भगाये दौड़ा जाता रघुराम डिप्टी। डण्डा उठाकर हुकुम देता, "लाठी चलाओ ! सालों को सीधा कर दो।" सीधे हुए नहीं। फिर अगली बार आये डिप्टी भीमादास। लोगों का कहना था कि वह कोई पत्थर तोड़नेवाली मशीन थी या सड़क कूटनेवाला रोलर। उस बार गोली चली। तीन जन लुढ़क पड़े। कितने ही बाँधे गये। गाँव को घेरकर कड़ा पहरा खड़ा कर दिया गया। फिर कुछ दिन जाने के बाद तेज हो उठा। तब आये थे डिप्टी अल्ला बख्श। "बेंत चलाओ।" उन्होंने हुक्म दिया। चली थी। खुद घोड़े पर सवार बार-बार चीखते रहे, "और....और....और भी जोर से—!"

ऐसे ही कितनी जगह इस रास्ते के किनारे-किनारे।

कितने लोग पकड़े जाकर जेल गये। वैसे ही पकड़कर उन्हें भी जेल ले गये। आज आरत पण्डा कहने पर कौन पहचानेगा ?

परन्तु तब आरत पण्डा नाम का सचमुच था कोई आदमी ! केवल पुलिस के चक्कर में नहीं, इस माटी में उसकी जड़ें थीं। इसी इलाके के पाटेली गाँव के किसी पीढ़ी के अच्छे-खाते ब्राह्मण-परिवार में जन्मे, इस गाँव के वे हितकारी भाई। चौकीदारी टिक्कस चौदह आने, पथ-कर का राजस्व सात रुपया सात आना, निष्कर बाहाल बारह एकड़, केवल बाग-बाड़ी तीन एकड़, दो एकड़ में पोखरी, ठाकुरजी का खेत पाँच एकड़। राधामाधव ठाकुरजी के मार्फतदार थे। कितनी पीढ़ी का भरा घर। ऐसे जी-हुजूरे बनकर और भी कई लोग गुजारा करते। माँगने पर मिलता। चेहरे दिख जाते हैं। उनकी माँ, पत्नी लक्ष्मी, लव-कुश दोनों बेटे, उनसे छोटी बेटी—सरस्वती। उनके जेल जाने के बाद स्त्री मर गयी, फिर गयीं माँ। बच्चों को मामू ने ले जाकर पाला, सरस्वती का दो वर्ष बाद कहीं ब्याह हो गया, उसकी गोद में नन्ही एक बच्ची। घर टूट गया, जमीन-बाड़ी सब चला गया, गाँव से नाम डूब गया, जेल से लौटकर वन ही वन में इतने बरस बिता दिये, आज इतने दिनों बाद इस चीन्ही माटी पर पैर रख रहे हैं। चौंका दे रही है जीवन्त-स्मृति कि यह क्या हो गया है ! मूँछ-दाढ़ी भिगोती धार बहती जा रही है कि कहाँ गया उनका संयम !

खुद को सँभालने की चेष्टा करते-करते वे किनारे के नीचे कछार पर चले जाकर एक घने कुचला के पेड़ तले खड़े नदी की बालू की ओर चुपचाप देख रहे हैं। खुद को मन ही मन समझाने लगे—वे संयमी हैं, वे अमर आत्मा, आत्मा के गुण नहीं, आसक्ति नहीं, यह व्यक्तित्व सिर्फ प्राकृतिक है, यह संसारी खेल केवल माया है। शोक करना उनका काम नहीं, जैसे कि आनन्द करना भी अनुचित है।

नदी किनारे की हवा चेहरे को छू रही है। तपतपाती धूप में छाया और हवा से आलस्य-सा लग रहा है। आँसू सूख गये हैं। पेड़ के तने के सहारे झुककर आँखें मूँद लीं। मन ही मन सोचा, आये चाहे और कोई धारणा, खुद को छोड़कर और कुछ....

यह मन इस व्यक्तित्व के बन्धन से मुक्ति पाये !

आगे कुछ दिखा नहीं । और फिर दिख गये पहाड़ों की कतारें, जो पीछे छोड़ आये हैं, बाद में और एक घर, चबूतरे की सीढ़ियाँ, चौरा, रास्ते की ओर का दरवाजा, नारियल के पेड़, पिछवाड़े की बाढ़, भीड़, छान-छप्पर, मच्छर गूँज रहे हैं, झाड़ी और फिर वह लक्ष्मी, माँ, दोनों बच्चे । एक घनी बेर की झाड़ी !

आँखें खोलीं । फिर पलकें मुँद रही हैं । दिमाग में चल रहा है मानव-स्वर का संगीत । पत्नी किसी से कुछ कह रही है । बच्चे धमाधम दौड़ रहे हैं । माँ किसी से जोर-जोर से कह रही हैं । बछिया रँभा रही है और गाय उसका उत्तर दे रही है । बस्ती से किसी की बातचीत सुनाई पड़ रही है । दरवाजे पर कोई आवाज दे रहा है । 'जी वे घर पर हैं ।' पत्नी कुछ कह रही है । फिर आँखें खोल दीं ।

ऐसे कितनी ही बार गहरे ध्यान में भी यह स्वर-लहरी चली आती और हिचकोले खाती । और कोई रोक-टोक रहती नहीं । सहज भाव से स्वयं को छोड़ दिया उस स्मृति के ऊपर तैरने के लिए ।

लक्ष्मी ! चिकनी, काली, छरहरी, मानो मकरान गुफा हो, काले पत्थर की मूर्ति हो, जीवन पाकर चंचल हो उठी ! धनुष-सी बाँकी भौंहें, खुली-खुली शान्त आँखों की जोड़ी, उसकी नजर कहती कि वह सब समझती है, सारी बातों में उसका समर्थन है, उसे कोई भ्रान्ति नहीं या भ्रम नहीं । पतली नाक, पतले-पतले होंठ । हलकी-सी हँसी । पैर दोनों कितने छोटे-छोटे । माँ कहती साक्षात् लक्ष्मी के-से पाँव हैं । अलता लगाने पर गुड़हर के फूल-से दिखते । छोटी-छोटी हथेलियाँ, मामल, नरम-नरम । कूँदी हुई-सी अँगुलियाँ, मुँदरी लगे पाँव में चाँदी की पाजेब, नूपुर । भरे-पूरे सुगठित हाथ-पाँव । चंचल चाल । सदा काम में लगी रहती । माँ कहती, यह बहू न होती—

लक्ष्मी ! उसकी देह की पहचानी महक याद आ रही है । घने चिकने बाल घुटनों तक लटकते रहते, और वह अपने हाथ में कंघी लिये बाल सँवारती रहती खड़ी-खड़ी, काम-धाम की बात छेड़े रहती । नाना अलंकारों से देह भरी रहती । नाक में सोने का फूल, गुणा, कानों में कटहल की कली-जैसा फूल, गले में तीन लड़ का हार । हाथों में सोने का अनन्त, पाँच-पाँच सोने की चूड़ियाँ, मगरमुँहा सोने के कंगन, चूड़ा और कमर में तागड़ी । माँ कहती, पहनने के लिए ही तो होते हैं गहने, थोड़े ही डाबा-पेई में सहेजकर रखने के लिए ?

और दिख जाता है । वे स्वयं जब देश के काम में लग पड़े थे, लक्ष्मी के गहने एक-एक उतरकर चले गये देश के काम की खातिर । लक्ष्मी ने कभी आपत्ति न की, उसके चेहरे पर विराज रही थी एक नयी तृप्ति । नीम की सोक पहन खादी ओढ़ सहज सरल सौन्दर्य से उसपर नयी आभा की झलक खिल उठी । तुम देखना, जरूर महात्माजी जीतेंगे, ये दुश्मन छोड़कर चले जायेंगे । अपना देश स्वाधीन होगा—वह कहा करती ।

स्वाधीनता आने तक वह इन्तजार न कर सकी । माँ नहीं रह सकी । फिर

आँखों से धार वह निकली। बह जाये, चुक जाये यह काम भी, यहीं इस कुचला के पेड़ तले—उन्होंने सोचा। फिर आँखें मूँद लीं। सारे चेहरे एक साथ दिख जाते हैं, माँ, उसकी लक्ष्मी, तीनों बच्चे!

और दिख रहा है आखिरी बार पकड़े जाकर विदाई की वेला का वह दृश्य। बारम्बार दिख जाता है। कब रात से आकर पिछवाड़े में छुपे रहे थे। सुबह होने से पहले दिख गया—डिपटी बाबू, पुलिस साहब, कतार में खड़ी बन्दूकधारी फ़ौज, लाल पगड़ी बाँधे टोपी पहने बाबू लोग। पालतू कुत्ता भूँकता-भूँकता दाँत दिखा रहा था। लाठी दिखाते ही हट जाता, फिर लपककर आता। लव चार बरस का हुआ था, मुट्ठी ऊँचा कर दौड़ा। सोंधी हथकड़ियाँ। डर था कि कहीं भाग जायेगा या गाँववाले ज़ोर लगाकर छुड़ा लेंगे। माँ रो रही थी। लक्ष्मी फफक रही थी। तीनों बच्चे बिलबिलाकर चीख़ रहे थे। गाँव के लोग एक-एक कर झुण्ड में खड़े थे।

पीछे मुड़कर उसने उन्हें आश्वासन दिया—"रोओ नहीं, धीरज रखो, मन को मज़बूत करो।"

सबको अभय देकर उसने उत्तेजित ध्वनि लगायी थी—"भारतमाता की जय! महात्मा गान्धी की जय!"

और घर की तरफ पीठ किये सामने मुँह किये उस दल के साथ-साथ वे चले आये थे।

उस बार इतनी अकुलाहट के साथ क्यों रो रही थी माँ और लक्ष्मी? वे क्या जान गयी थीं कि अब और भेंट नहीं होगी?

वे दोनों पवित्र आत्माएँ मुक्त हों! उन्हें पुनर्जन्म न लेना पड़े।

फिर वे लम्बे-लम्बे डग भरने लगे थे।

धू-धू हवा, रुक-रुककर बह रही है; उसमें एक स्वतन्त्र ताल है, संगीत है। हर ऋतु में हवा ताल बदलती है, हवा का संगीत भिन्न हो जाता है, फिर उसका अँधेरी रात का संगीत चाँदनी रात के संगीत से भिन्न होता है। तपतपाते दोपहर की हवा में जो संगीत उन्होंने सुना है वह भी भोर के संगीत से अलग है। दूर वन के भीतर, पहाड़ी खोह में, उस झोंपड़ी में हवा की आवाज़ को बरस दर बरस कान लगाये सुनते-सुनते वे उसकी भाँति-भाँति के ताल और राग-रागिणियों के साथ परिचित हो गये हैं जैसे ऊँची-नीची, टीले-गढ़ों से पूर्ण, वसुधा की स्मृति पर दृष्टि देते-देते वे देखते हैं—छाया और रोशनी में अरूप के भीतर नाना रूप। ऐसे ही यह अक्षय भण्डार पड़ा है, सचमुच जैसे रूप-रस-गन्ध का अनन्त समुद्र हो, जिसे जो लेना हो ले, जितने दिन जिसका जैसा पात्र हो तदनुसार। कितने ही आये हैं इस चेतना के अन्दर, कोई संसारी

सम्बन्धों में, किसी के साथ मन का तो किसी के साथ कल्पना का सम्बन्ध। वे चले गये हैं, फिर नये सम्बन्ध नये सम्पर्क लग रहे हैं। रंग लगे हैं, झरे हैं, फिर भी स्वयं में रहता आया है आकाश की तरह जीवन, वहाँ कहाँ है अपनी पसन्द की रुचि या अरुचि ?

वसन्त जला रहा है फूलों की रोशनी। उसी लोह में भरी होगी फूलों की सुगन्ध, महुए के फूलों की भी। और कुछ देर बाद चल पड़ेगा चैत का उत्सव। मधु-नाच-शिकार और पागलों की तरह लेना-पकड़ना। साँप भी केंचुल छोड़कर छरहरा हुआ है, तटबन्ध के पास छप्पर पर से कोई केंचुल फर्र-फर्र उड़ रही है। खुरदरी माटी में घास के झोंटों पर भी, अनाप-शनाप गुल्मों की फुनगियों पर भी छोटे-छोटे फूल खिले हैं।

परन्तु हवा के संगीत में उदासी भरी है। हवा शोक कर रही है। एक साथ इतने फूल खिलकर झर पड़ेंगे। एक साथ फलप्रसू इतने पेड़, इतने जीव-जन्तु झटपट-झटपट विस्मृति के अतल गर्भ की ओर ढलान ही ढलान में दौड़ जायेंगे और थोड़ी दूर। इतने रंग, इतना उत्पादन, इतना भोग—कितने दिन के लिए ?

रह गयी कहाँ ? लक्ष्मी—! फिर चेतना पाकर स्वयं को सँभालने की चेष्टा की। आकाश में, धरती की स्मृति में, रंग में, निर्जन तपस्या की धारणा में, भावों में चाहे जितनी दूर उसे झटकने पर भी लक्ष्मी रह गयी है। इस अन्तर में वैसी की वैसी।

जेल का समय बीता। स्वाधीनता आयी। देश में अपार उत्साह। इतने जमाने का सपना सच हुआ। हमारा देश, हम स्वाधीन हैं। जो आदर्श आँखों के सामने रखकर हम रास्ते पर चल पड़े थे, काम कर रहे थे, स्नेह प्रीति-मैत्री का जीवन, सत्य-अहिंसा और चरित्र बल पर प्रतिष्ठित, सर्वोदय, ग्रामोद्योग, खादी, ग्रामस्वराज, सेवा, त्याग, श्रम की नींव पर गढ़ा जाकर निरीह निष्पाप, सरल, आडम्बरहीन, पूर्ण विकसित समाज, जहाँ अभाव नहीं, अज्ञान नहीं, कलह-झगड़ा नहीं, लूट नहीं, शोषण नहीं, भय नहीं। जहाँ शान्ति, आनन्द, सरलता और सद्गुणों से भरा उन्नत चिन्तन और पूर्ण विकास का भूस्वर्ग झिलमिलाकर सारी पृथ्वी का आदर्श बनेगा और प्रेरणा देगा। वही सपना देखते थे बसी गाँव के चामी-मजूर अघोरी-द्वारी जब महात्माजी और भारतमाता को एक साथ रखकर वे ध्यान करते, और भगवान् से पुकार कहते कि विदेशी राज जाये, राम-राज आये। आ गया है अब वही समय—वैसा ही होगा!

और फिर ? किधर बढ़ते-बढ़ते किधर दिशाचक्र घूम गया। आ गयी हत्या-विभीषिका की ताण्डवलीला, देश के टुकड़े हुए : भारत, पाकिस्तान। लाखों लोग पुराने घर-बार से जड़ें उखाड़ इधर से उधर, उधर से इधर हुए। भारत का नाम छोड़कर लोगों ने दुहाई मचायी अपनी भाषा-भाषी इलाके का नाम लेकर। चीजों के भाव बढ़ गये। एक नया शब्द घिसकर पुराना पड़ गया—काला बाजार, लगी रही एक पर एक हिलोर, और जिधर देखो उधर समता की लड़ाई, दाँवपेंच भर गया समाज

के हर स्तर पर, हर क्षेत्र में। बस क्षमता और स्वार्थ। उसी के लिए दल गढ़ना, प्रतिद्वन्द्विता, निष्ठुरता, असहिष्णुता, झूठे भेष, औरों को दबाने के लिए, औरों से बढ़ जाने के लिए तीव्र सुमुक्त वेग। विद्या या बुद्धि या विचार—नयी-नयी उद्भावनाएँ, यन्त्र, उपकरण, सब नियोजित होते हैं सिर्फ उसी उद्देश्य के लिए। पुरानी मन्थर दुनिया जाग उठी है, चारों ओर गति, नयी सृष्टि, रास्ते, मकान, जायदाद, यान-वाहन, कल-कारखाने, परन्तु सचमुच जैसे डील बढ़ने पर भी माया खराब हो गया है, पुराने शब्दकोश के कई शब्द लुप्त होते जा रहे हैं—सत्य, न्याय, मर्यादाज्ञान, मित्रता, निःस्वार्थ स्नेह, आत्मत्याग, सरलता, शान्ति। एक दूसरे को उबसा रहा है, गरमा रहा है, उदाहरण दिखाकर या कुरेद-कुरेदकर। एक खड़ा हुआ तो दूसरा उसकी टाँग खींचता है। उसे फिर तीसरा खींचता है, अकेला या दल बनाकर। बस सब जगह यही रूप, यही प्रवृत्ति। किसी सूरत में क्षमता हासिल करनी ही पड़ेगी, वरना स्वार्थ का दायरा बढ़ेगा नहीं, क्षमता पाने के लिए किसी भी नीति या आदर्श की बलि देना यथेष्ट नहीं है, जो जरूरत पड़ी किया जायेगा, उसी प्रकार फिर क्षमता को जकड़ रखने के लिए भी फ़साद, चिन्ता, लड़ाई, घूस, झूठ, शत्रुओं का दमन, मित्रों से छल और मित्रों का सर्वनाश, यहाँ तक कि जरूरत पड़ी तो उनकी हत्या तक। आदमी के मन में मानो यही एक चिन्ता है, बस घर-घर में परिवार छिन्न-भिन्न, और वे विशाल-विशाल हवेलियाँ नहीं दिखाई पड़ती। गाँव में अपने-अपने अलग-अलग गुट। एक-एक छोटी-छोटी बात पर दल गढ़ना, केवल सामयिक सुविधा पाने के लिए बल बढ़ाकर छीना-झपटी करना। और फिर उस दल की एकता भी दो दिन की होती। इस दल के लोग दूसरे दल में मिलेंगे, चल पड़ा आया राम-गया राम का सिलसिला, और नये-नये दल। कोई दल अन्तिम नहीं, कोई फ़ैसला आखिरी नहीं, कोई अवस्था स्थिर नहीं, सामाजिक अस्थिरता के समुद्र से निकल रहे हैं असंख्य बुलबुलों की तरह नाना रंग, नाना प्रकार के दो दिन टिकाऊ दल। गुट टूट रहे हैं, बदल रहे हैं, फिर नया रूप लेकर गढ़े जा रहे हैं दुबारा फिर तोड़ने के लिए। स्वार्थ और हिंसा का विष जिनकी नस-नस में फैला हुआ है, जिसकी प्रवृत्ति ही क्षमता हासिल करने की है, चारों ओर से जुटा-जुटाकर लाकर अपने मुँह के पास जमा करने की है, जिसका मार्ग केवल भोग का है—त्याग से बहुत दूर, जिसका उपाय ही शोषण, दमन, दूसरों की रुचि, विचार और दृष्टिकोण की स्वाधीनता का भी अपहरण कर उन्हें अपने मन में पिछलग्गू या सहायक मशीन में परिणत करना है, जो अपने मतलब की सार्थकता के लिए बहुरूपिया बन सकता है, मायावी हो सकता है, उपाय या उपादान की पवित्रता-अपवित्रता को लेकर मगज-पच्ची करता नहीं, वह क्या आदर्श दिखायेगा? क्या परम्परा, कैसे उत्तराधिकारी पैदा करेगा? कैसी शान्ति की स्थापना होगी? सम्मान और विश्वास किसका कितने दिन के लिए प्राप्त करेगा? कोई डर-भय से उसे भला-भला कहेंगे, स्तुति करेंगे, साथ देंगे, कोई पारी थामेंगे अपने स्वार्थ के लिए, परन्तु छल की प्रतिक्रिया होगी

उसके मन के अन्दर का अभाव वे नहीं मिटा सकेंगे। केवल चीजों का उत्पादन बढ़ने, सुख-स्वाच्छन्द्य के लिए उपकरण बढ़ने से उसके मन में स्नेह-सौहार्द, शान्ति, आनन्द, नीति, आदर्श नहीं बढ़ता। आदमी की नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति और उसके अनुरूप और सहायक होने की तरह समाज का संगठन और आभिमुख्य गढ़ना हो तो उसके लिए निष्ठावान् बनकर कार्य करना पड़ेगा। उसी उद्देश्य से विज्ञान को भी आदमी कार्य में लगाता, ताकि लोहे का कोई खाण्डा न बनाकर हल की फाल बनाता। शुरू से यही परिकल्पना तो थी।

अटक गया। चलें—आरत पण्डा ने सोचा—इधर यह पगडण्डी, बैठने पर जड़ फैलेगी, फिर मेरा घर, मेरी बाड़ी, मेरा मित्र, मेरा दल, एक घर छोड़कर चले आने पर कहीं दूसरा घर। हो सकता है वह और बड़ा हो, और मजबूत हो।

जैसे कार्यकर्ता हरिदास है। ऊँची डाक्टरी पढ़ते-पढ़ते पास करने को बस आखिरी परीक्षा बाकी थी कि कानों में पड़ी देश की पुकार—बस, पढ़ाई छोड़कर वह निकले। बार-बार जेल गये, पिछली बार जेल में एक साथ थे वे और आरत पण्डा। लाठी, गोली की मार खाये लोगों की चिकित्सा करते-करते हाथ में यश है—नाम हो गया, नाना योगी आये, घर ही मानो अस्पताल बन गया। पूँजी भी हो जाती, मन करता तो मोटी रकम जमा भी हो जाती, गण-मान्यों की सूची में हरिदास भी एक हो सकता था। परन्तु युवक हरिदास में तब पवित्र होमाग्नि जल रही थी। जब बड़े शहर में इतनी ख्याति फैल रही थी, तब वे सब कुछ छोड़-छाड़कर वन प्रदेश की ओर चल पड़े, पहाड़ों में घूम-फिर आदिमवासी भाई-बहनों की सेवा करने, क्षय और कुष्ट पीड़ितों की चिकित्सा करने। वे त्यागी हरिदास, तपस्वी हरिदास।

बाद में कैसे हुआ उनमें यह परिवर्तन? ऐसे होता कैसे है? कन्ध गाँव में जो छोटी-सी झोपड़ी उनका आश्रय-स्थल या आश्रम था, धीरे-धीरे उसी की श्रीवृद्धि में मानो उन्होंने अधिक से अधिक ध्यान लगाया। आँगन में सीमेण्ट बिछी, दीवारें ईंट की बनी। पिछवाड़े में बगीचा हुआ। पहाड़ की ढलान में उनका अरहर का खेत बना। मुर्गी पालना और हंस पालना शुरू हुआ। आश्रमघर के पिछवाड़े चबूतरे पर छान मे भीगी साड़ी झूलकर सूखी, गुहाल में गाय रँभाने लगी। बरामदे के नीचे घना सूर्यमुखी मिरच के पौधे, उनपर मुट्ठी की मुट्ठी लम्बी-लम्बी कच्ची मिरच लगी हुई। केले के झाड़ों से छोटा-मोटा वन ही हो गया। पालतू बिल्ली ने म्याऊँ की, पालतू कुत्ते ने पहरा दिया, घर के फर्श पर फसल भरकर रखी गयी टोकरी, ओबरी, बोरे। छीके में रहे कुम्हड़े और कद्दू झूलकर, वह बना एक स्वस्थ, सफल चासी का घर। अघोरी, तपस्वी, कर्मी हरिदास का व्यक्तित्व उन्हीं सब में कहीं छुप गया!

बाद में लुढ़कते गये और एक सीढ़ी नीचे। लोहा-सीमेण्ट या कपड़ा-चीनी का काला-बाजार करने की सुविधा न थी, परन्तु मगसिर महीने में कन्धों से खरीदा धान, मण्डिया आषाढ़-श्रावण में उन्हें ही बाढ़ी लगाकर ड्योढ़े में व्याज पाने का अपना सुयोग

कभी छोड़ते, पूरी मात्रा में सुविधा उठाती, बिना तय किये दर पर रुपये उधार दे फिर उनके बदले बेगार करवाने के लिए उन्हें टहलुए मिल गये। प्रत्यक्ष राजनीति में न घुसने पर भी वे, उसी वक्त गाँव में दो तरफ के दलों में कलह लगा, दोनों दलों को कब्जे में रख गाँव के मामलातदार बने। अब वे कार्यकर्ता हरिदास नहीं, सेठ हरिदासजी हैं, डाक्टर हरिदास हैं। आस-पास के गाँव-गली में स्कूल-फण्ड, कलह-दंगे, मुकदमेबाजी—सबमें उनका हाथ होता। किसी दिन उनके पुराने साथी उन्हें सचमुच जैसे 'पलातक-दह' कर चुके हैं। जहाँ वे एक दिन सम्मानित और आदृत हुए थे, वहीं अब घृण्य हैं। फिर भी वही आदमी तो हैं वे। वही चेहरा-मोहरा, वही चाल!

वो हरिदास और ये हरिदास! सोचा भी नहीं जा सकता। देह काँप उठती है। आँखों के आगे तैर गयीं एक-एक कर सारी छवियाँ। कितने प्रकार की—रंगी-रंगी। जो देह भूख-प्यास को गौरव मानती थी वह फिर खोजने लगी विश्राम। जो [illegible] निर्यातन-अत्याचार में तपकर खालिस सोने की तरह चमक उठा था—प्रणाम, खुशामद, भेंट-मिलन, फूल-माला आदि में डूबकर वह हो गया खोखला, गन्दा, दुर्बल, लड़खड़ाता, सिर्फ ढेले या लग्गी का निशाना!

हो सकता है, युवक हरिदास सचमुच व्रतधारी नहीं हुए थे, उनकी देह या मन तपस्या में डूबा न था, किशोरपन की भाव-प्रवणता ने सामयिक विराट् आह्वान में भभक कर उन्हें कुछ दिन के लिए अपने अन्दर से धकेल दिया था महान् आदर्शवाद के बहाव में, साधारण आदमी की आँखों में देवता बन कार्य करने के लिए। अपने अन्दर की आग शीतल हो गयी, चला कुछ दिन तक देवता-देवता का अभिनय, बाद में उसमें क्लान्ति आ गयी, कपूर उड़ गया—कपूर की महक भी उड़ गयी, बाद में खाली रूमाल। लोभ-मोह-दुर्बल मन मामूली-सा आदमी, वह भी अभिमान कर कहता, "मुझसे तुम क्यों यह आशा करते हो कि मैं देवता बना रहूँगा? तुम क्यों स्वयं देवता बनते नहीं?"

परन्तु ?—

सोचते-सोचते उसी कगार पर पहुँच दूर देखते हुए आरत पण्डा मानो अस्थिर हो रहे हैं। हृदय में कचोट-सी होने लगती है।

जो आदर्श तब उन हरिदास की चेतना को आच्छन्न किये था, उनके मुँह को भाषा दी थी, उनके हाथों कार्य करवाया था, सारी विपदों का सामना करने के लिए बार-बार उन्हें खींच लिया था आराम की अवस्था से खाली उजाड़ की तरफ, क्या वह झूठ है? दीप बेकार हो गया। बत्ती नहीं, तेल नहीं, अतः जो दीप एक दिन दप-दप जल रहा था वह आज बुझ गया है। चिलिका के कूल पर दीपदाण्डिया पहाड़[1] पर अब

१. दीपदाण्डिया पहाड़—जगन्नाथ मन्दिर (पुरी) के शिखरबन्ध पर कुछ विशिष्ट पर्वों पर विशाल दीप जलाते हैं। चिलिका के 'दीपदाण्डिया पहाड़' की चोटी पर भी उस समय विशाल दीप जलाते थे कि पुरी मन्दिर के शिखरबन्ध से इतनी मील दूर होने पर भी स्पष्ट दिख जाया करता था।

वह विराट् दीप नहीं जलता। तो भी आज रोशनी खो नहीं गयी है। आदमी के अन्तर में जो सद्विचार अब भी झकझका उठता है एक दिन फिर वह बढ़ जायेगा, बिन्दु-बिन्दु आलोक एकत्र होकर बन जायेगा आलोक का झरना, युग बीत सकता है, एक देह, एक उम्र, समय के अनन्त प्रवाह में परम्परा की धारा में वह कितनी बार उगकर अस्त होता होगा, परन्तु देर में यह मानव-जाति पूर्णता पायेगी, अन्धेरा हारेगा, प्रकाश जीतेगा।

जेल से लौट, औरों को दिखता हो ऐसे कर्मक्षेत्र से हटकर जब कि बिना नाम के जीवन को अपनाकर अपने विवेक और विचार के अनुसार जीवन बिताते-बिताते घूमते रहे इतने साल। तब अपनी परीक्षा कर चिन्तनधारा को सँवारते समय आखिर में यह विचार मन में आया था बारम्बार, यह विश्वास जीवन-साथी बनकर रहा, अब भी है।

आरत पण्डा सोच रहे थे—विपद् को पहचानना जरूरी है कार्यकर्ता के लिए। तीर्थ कर आये, और भात पका, खाकर हाण्डी वहीं पटक आने की विधि है, अब मेरा-मेरा कहकर यह संचय करने को मन, अपने लिए संचय करने का मन। अपने लिए संचय करते-करते हिंसा, द्वेष, बढ़ता जायेगा, फिर रोका नहीं जा सकेगा।

पैर चल पड़े। फिर रास्ता।

गाँव के झुरमुटों के किनारे-किनारे, नदी के तटबन्ध के सहारे-सहारे। गाढ़ा नीला होकर दपदपाती धूप में पानी कितना सुन्दर दिख रहा है। कटे हुए पोड-पिठऊ के रंग की भीत पर केलों का झुरमुट और उसके बीच पुआल की छावनी से बनी सुनहली छात, हरे और नीले रंग के हलके सघन विभिन्न रंगों के विभिन्न पेड़-पौधों की शोभा, उसी के सहारे-सहारे मानो उनका अपना प्रिय विचार और धारणाएँ शोभा-बहुल होकर सजे हैं, तटबन्ध के सहारे जामुन में लाल कोंपलें खिल गयी हैं, जगह-जगह घने हरे किशोर पेड़ के सिर पर रखे होने की तरह एक-एक लाल पत्ता। इन्हीं से क्या कभी किशोर कृष्ण की परिकल्पना की थी कवि ने?

सचमुच जैसे वासन्ती रास चल रहा है। भरी दुपहरी, नदी के किनारे-किनारे, कछार में, रास्ते में, सब जगह। नीचे देखने पर बच्ची की तरह नन्ही-नन्ही लताएँ, सब्ज, बैजनी, नीली, धीमी हवा में ढुलकती-सी, नाचती-सी। नन्हे-नन्हे नाकों पर रंग-बिरंगे फूलों का थिरकता कर्ण-महोत्सव। वहाँ भी कितनी प्रकार की रंग-बिरंगी छोटी-छोटी तितलियाँ। ऊपर की ओर देखने पर सिर्फ जामुन ही नहीं, ललवाँसे कोंपा और हलके तोतई पत्तों से सजा-धजा छरहरी किशोरी की तरह नीम का पेड़ भी खड़ा है। बीच-बीच में पलास के पत्ते दिखाई नहीं पड़ते, बित्ते-बित्ते-भर में बड़े-बड़े रक्तिम लाल फूल, लाल सब्ज कलियाँ बाँकी-टेढ़ी सफेद डाल पर गुँथे होने की तरह लदे हैं सारे पेड़ पर, मानो पेड़ लाल होकर जल उठा है। पेड़ से निकलकर लाल घाँस चारों ओर छिटक रही है। लगता है जैसे ये सब फूल न हों, लाल-लाल चिड़ियाँ हैं जो वसन्त के

महोत्सव में शामिल होने यहाँ एकत्रित हुई हैं, सफेद डाब को चोंच में दबाये फिरक-फिरककर झूल रही हैं पास-पास सटकर।

बरोहें लटकाकर विराट्-विराट् खम्भों पर कितनी ऊँची विराट् गच्छ छात टेके जगह-जगह जो बरगद कितनी पीढ़ी से खड़े हैं, कोई बीघा कोई दस बीघा जमीन घेरे, घर की तरह यहाँ हैं, यहाँ नये पत्ते नयी बरोहें निकलकर नया स्थापत्य मिल रहा है। नदी के किनारे-किनारे इस तरह घर की तरह कितने ही बरगद, किसी के तने में सिन्दूर लगाकर ठाकुरजी बैठे हैं, कहीं पत्थर की कारीगरी से पूर्ण ठाकुरजी के भग्नांश एकत्र जमा किये गये हैं, और देवस्थान बनाया गया है, और कहीं पर कोई दूसरी मूर्ति पड़ी है। यही जैसे—

रास्ते के किनारे नरिसो गाँव का बरगद—बारह एकड़ जमीन घेरे चौराहीस खींबों पर खड़ा विशाल बरगद, उसके नीचे हनुमान्जी की मूर्ति। एक के बाद एक गाँव लगे हुए हैं, तटबन्ध के सहारे-सहारे, फिर खेतों के उस पार, नदी के उस ओर, धुँधले बगीचे की ओट में। फीते की तरह पतली पगडण्डी, और बैलगाड़ी की लीक ताजा दिख रही है। रास्ता और उगायें गये पेड़ और खेत, बखार, सब याद करा देता है आदमी और उसके समाज को।

ये दिख रहा है गाँव का नमूना रूप। कोई आडम्बर नहीं, घूरकर देखने लायक कोई सज्जा नहीं। यह आदमी अपने को बड़ा मानता नहीं या दूसरे को बड़ा समझता नहीं। बड़ा सिर्फ ठाकुरजी को समझता है, जो इस सृष्टि के हेतु हैं, आधार हैं। कितनी नीति, आदर्श लेकर आदमी यहाँ स्वच्छन्द जीवन बिता निश्चिन्त हुआ है। गुण में भला होने का यहाँ नियम है, इसके लिए कोई नाम नहीं खोजता, उससे बाहर होने पर बात चलती है।

परन्तु इतने जुग की नीतिमत्ता होकर भी यह क्या हुआ? एक-दूसरे का शोषण करता है। स्नेह-प्रीति डूब गये, सामलाती चलन समाप्त हो गया, ठाउदरी बढ़ गयी। लोग दूसरों को क्या देंगे, अपने बाप-भाइयों को भी दो मुट्ठी देने में हिचकने लगे। पुरानी जाति-भेद की बात ढीली हुई तो नये धन का भेद-भाव शुरू हुआ। जमींदार-मुकद्दम गये तो आये धन या क्षमतावान् लोग, औरों के झुण्ड के झुण्ड को काबू में रखने। नये-नये तरीके निकले। गाँव का चेहरा बचा है, वरना अपने पैरों खुद, कोई किसी को न पूछता है न कहता है, समूह-कल्याण की बात—सर्वे भवन्तु सुखिन:—सिर्फ मन्त्र पढ़ते समय के लिए रह गया है। आदमी की दृष्टि में एकमात्र प्रश्न बचा है—कि इससे कितने पैसे मिल सकते हैं? अत: स्नेह का नाता उड़ ही गया, लोग परायों की क्या मदद करेंगे, अपने बाप-भाइयों को मुट्ठी-भर दाने देने में भी पीछे हट रहे हैं। परिवार कहने पर बस स्वामी, स्त्री और बाल-बच्चे। जिन्होंने पढ़ाई की, उन्होंने गाँव छोड़ा। गाँव में जो रहे वे आपस में लड़ने-झगड़ने में रहे, मुकदमा-कचहरी में लगे, गाँव शहर को भी टप गया। सबों ने दोष दिया। फिर सबने कहा, ये तो होने की बात, अब अवस्था

बदली है, भाव बढ़े हैं, मशीन-कारीगरी का जमाना आ गया, कृषि-युग के समाज में जो नीति और अभ्यास थे, औद्योगिक समाज का चलन उससे भिन्न है, अतः पुराने जमाने की दुहाई न देकर आदमी को चिन्ता करनी चाहिए कि इस नये युग के अनुसार सुख-सुविधा कैसे बढ़ेगी; अर्थात् आदमी सिर्फ अपने हित की बात सोचे ताकि उसका रोजगार बढ़े, स्वास्थ्य-सुविधा-विद्या बढ़े, चलन की रूप-गति बढ़े।

पर भारत पण्डा का मन नहीं माना। वे कल-कारखानों या मशीन के विरोधी न थे, वे सोच रहे थे कि आदमी ने कच्ची चीजें खाने की बजाय आग का प्रयोग जान रसोई बनाकर खाना सीखा, यह भी उद्योग की विजय है। पेड़ से चुनकर लाने की बजाय जमीन में हल चलाकर अन्न उपजाया—यह भी तो विज्ञान है, खेती करना भी विज्ञान है, बुद्धि लगाकर विज्ञान का सहारा लेकर मानव-जाति असभ्य से सभ्य बनी है, सभ्यतर हुई है।

जो मशीन आदमी के देह-कष्ट को कम करती है, सुख-सुविधा बढ़ाने में सहायता करती है, वह तो जरूरी है। परन्तु वे ये भी सोच रहे थे कि कल-कारखाने, विज्ञान स्वयं देवता नहीं या नीति नहीं। आदमी को सहायता देने के लिए उसकी उत्पत्ति, आदमी के हृदय में स्नेह-प्रीति दया-शान्ति-आनन्द को अटूट रखकर उसके उचित व्यवहार करने की जरूरत है; आदमी को कर्कश निष्ठुर-स्वार्थी असामाजिक अमानवीय कर गढ़ने के लिए नहीं। वे सोच रहे थे, झोंपड़ी तोड़ मकान बनाने में दोष नहीं है, अतः अधिक से अधिक हों, परन्तु मकानों की सुविधा गाँव के सब लोगों को मिलनी चाहिए, केवल एक-दो को ही नहीं। और उस पक्के मकान में रहने पर भी आदमी में उचित स्नेह, प्रीति, नीति और आदर्श रहना चाहिए, 'सुख-दुख में साथी हों, एक साथ मेहनत करें, बाँट-चूँटकर खायें, अपने स्वार्थ को भुलाकर पहले औरों के हित की सोचें, सचाई से चलें।

वरन् वे जेल से लौटकर देख रहे थे समाज में पुराना रोग और भी जोर पकड़ गया है, अथच जो उत्साह-उद्दीपना नये युग के सपने को निकट लायी थी, वह नहीं है। और इतने दिन बाद वे फिर गाँव लौट रहे हैं एक बड़ी आशा लेकर—विचार बदल रहा है। दायरा जो भी हो, नया विचार वहाँ दिखाई पड़ रहा है। मालभूमि में खूब पुराने चम्पा के पेड़ पर फूल खिलने पर जैसे दूर-दूर तक सुगन्ध फैल जाती है, वैसे ही उसकी सुगन्ध उन्हें खींच लायी है।

कल भी रात में यही बात सोच रहे थे, जब चिकने काले तारों-भरे आकाश तले ऊपर की ओर मुँह किये मैदान में चित लेटे स्वयं को इस सृष्टि के साथ सम्पूर्ण रूप से मिला देने की चेष्टा कर रहे थे। बहुत वर्षों की आदत, वो ही युगों पहले की बात, जब उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि देश स्वाधीन न होने तक वे कुछ विशेष नीतियाँ मानकर चलेंगे। उनमें एक नीति यह भी थी कि वर्षा अथवा हाड़ कँपाते जाड़े को छोड़कर वे हरदम रात के समय खुले में धोती बिछाकर ही सोयेंगे। घर के अन्दर नहीं, या

चबूतरे पर नहीं । जहाँ तक सम्भव हो, लोगों के घर-बार से दूर किसी उजाड़ में । नीचे धरती माता ऊपर आकाश, सर्वत्र इसी समन्वय के बीच अटल विराग एवं अविचल, भरोसा लिये वे रात में अपनी देह को भी अपने मठ के निमित्त निवेदन कर देते, जब दूसरे दिन भोरे-भोरे नींद टूटती, वे यही अनुभव करते उठते—'मैं इच्छा से या अपने लिए नहीं उठता । उठ रहा हूँ उन्हीं की इच्छा से, उन्हीं का कार्य करने के लिए ।'

कल सांझ रुक गये थे तटबन्ध के पास वाले मशान पर । तटबन्ध के उस ओर कच्चा रास्ता चला गया है कछार की ओर, पास ही एक छोटी-सी तलैया । छोटी-सी खाली डीह, पास ही आठ-दस पेड़ों का बगीचा, कुछ हटकर अहीरों का एक घर । सांझ को किसी अहीर ने आकर 'बाबाजी' समझ 'पालागन' कही थी, औटाया हुआ दूध कटोरा-भर श्रद्धा से पिलाकर आशीष ले गया था । उसके तीन-तीन बेटों के मरने के बाद एक ही बेटा जीया था, उस बेटे का तीन बरस का एक लड़का, देह में कुछ जाता ही नहीं, कृमि दोष है, रात में दांत किटकिटाता है, इधर दांतों में कीड़े काटते हैं । उसी बच्चे के लिए उसे आशीष चाहिए, अपने लिए नहीं ।

"भगवान् मंगल करेंगे, बेहेरा भाई, आदमी बड़ा चीज है ।"

बस ! प्रसन्नता से भरी दृष्टि थोड़ी-सी । बेहेरा गद्गद हो गया, कृतार्थ होकर प्रणाम कर कितनी खबरें सुना गया ।

वे कह रहे थे कि यह निरवंसिया डीह है । पहले इसपर चकर पधान का घर था । चकर-ठाकर घर-द्वार देखते थे, फिर कितनी से कितनी बढ़ गयी खेती । गाँव-भर की सारी जमीन मानो उन्हीं की हो । जमीन बढ़ते-बढ़ते जा टकरायी शहर के किसी की जमीन के साथ, बस घर में आया विरामहीन मुकदमा । बाद में हैजा आया और घर के सब चले गये । बूढ़ा चकर पधान बचा । कितना रोया, कितना तड़पा, फिर भी चीमड़ जीवन छूटा नहीं । चार बरस घसीटे, फिर चले गये । चकर पधान के इस डीह को घुरबा हलवाई ने खरीदा । घुरबा हलवाई का घर भी निरबंस हो गया । बेटी थी सो परायी हो गयी । और कोई नहीं ।

आरत पण्डा रात में यहीं धरती पर लम्बे पसरे पड़े रहे तो याद आया कि पीठ तले ये जो माटी है, यहाँ कोमल शिशु जनम लेकर सोये होंगे । कितने गू-मूत, जूठन, पान की पीक भी यहीं पड़ी होगी, इसी डीह की माटी पर आदमी की गृहस्थी, यहाँ कितने प्रकार का सम्पर्कमय स्पर्श । बाद में घर की डीह समतल हुई, बरसा ने कूटा, हवा उड़ा ले गयी, चौरस हो अब सुन्दर घास का मैदान है ।

कभी यहाँ सोये-सोये घुरबा हलवाई सोचता होगा कि यह उनका पूर्वादिकाल का घर, यहाँ उन्होंने स्वयं जैसे जीवन बिता दिया वैसे हँस-खेल जायें उनके भविष्य की पीढ़ी पर पीढ़ी उत्तराधिकारी लोग, उनके वंश की डोर अटूट रहे, अचल लक्ष्मी वास करें इस घर में । शायद यहीं इसी जगह कितने ब्राह्मणों को भोजन कराया होगा, यहीं तो होम करवाया था । चमचमाती दोपहर में कितनी ही बार यहीं अलसाया लेटा पड़ा

धुरुव पधान अपने लगाये हुए नारियल के पेड़ों और वन के उगे दरख्तों को देखते हुए, सोच रहे होंगे कि सहेजकर रखे गये धन की तरह धरती की तरह ये भी उन्हीं के बाल-बच्चों के काम आयेंगे, वे ही इन्हें भोगेंगे, और कोई नहीं—बाद में शंकर पधान, शंकर पधान ने भी ठीक इसी तरह सोचा होगा।

चूल्हे पर भात की हण्डी चढ़ी खद-बद खद-बद उबल रही होगी....मानो कि वह शब्द सुनाई पड़ रहा है। बच्चे दुम-दाम उछलते-कूदते होंगे। घर कितने मच्छर, छज्जे के तले कितने चमगादड़, भीत में कितने खटमल। झमझम करती झाँझरें, भीनी-भीनी महक, पिछवाड़े में चम्पा के फूल, पोखरी में नन्ही-नन्ही भाँवरें, कल-कल आवाज़। आदमी ने कितने सम्पर्क छूटे-जोड़े थे, सहेजे थे। सब पोंछकर चला गया। कहीं गुम हो गया। अब वन बढ़कर फैल गया है ऊपर, और कहीं वन साफ कर गाँव बस गया है। सचमुच जैसे शून्य से सब उत्पन्न होता है, शून्य में मिल जाता है। ऊपर काला स्याह आकाश, टिमटिमाते तारे, तब भी थे, वैसे ही अब भी हैं।

फैल रही है। धूप और हवा में जिसके खोउई नये-नये पत्ते तेजली खिड़क-छिड़ाकर झटक रहे हैं, उस विशाल पीपल पर भी आदमियों का ही स्पर्श और स्मृति है। उसके नीचे कितने लोग बैठे होंगे, गये होंगे। नदी की बालू सूनी जरूर पड़ी है, धूप का ताप वहाँ आग की धौंस की तरह नाच रहा है, परन्तु उसी बालू में पार की पार असंख्य पद-चिह्न पड़े होंगे। आँखों से न दिखने पर भी पहचान में आ रहे हैं, धोती-चोटी में गाँठ बाँधी है और वे फर-फर उड़ रही हैं, पताका की तरह थामे लौट रहे हैं दल। यह जो वीरान-सा दिख रहा है वसार वही झुककर काम में जुटे रहते, सरसों पत्ती-पत्ती बढ़ती, फूल खिलाती, गोल-गोल ऊपर उठते तम्बाकू के पौधे घने सब्ज रंगवाले। छोटी-छोटी पुआल से छायी गयी झोंपड़ियाँ मेंढक के बैठने की तरह तैयार होतीं, चारों ओर पीपा-कद्दू, बैंगन, मिरच के पौधे मिल-जुलकर घना-गहरा बन जाता।

थकते नहीं पैर, वे चल रहे हैं।

इतनी धूप में कोई न आये उनके पास, वे स्वयं सबके पास हैं। माँ के पास बच्चा लेटा-लेटा दूध पीता होगा, घर-भर के लोगों के लिए काम करते-करते थककर घरनी चटाई पर लेटी होगी। किताब पढ़ते-पढ़ते किताब पर गाल टिकाये मुँह 'आँ' किये खर्राटे लेती होगी।

जैसे पद्म-मोलसरी महकती है, बकुल के फूल महक उठते हैं, वैसे ही आदमी की चेतना में कोई महक है सचमुच—उन्होंने सोचा। अतः आदमी की महक आदमी के नाक में पड़ती है। आह! बाउरी-बस्ती के रास्ते पर वे चल पड़े। किसी के घर के सहारे बड़ी बकरी बँधी थी, उन्हें देखकर मिमिया उठी। छोटे-छोटे नंग-धड़ंग बच्चे उन्हें देख भाग गये।

फूलसरा के पास बाउरी-बस्ती। पहचानी-पहचानी-सी लग रही है। यह क्या वही बाउरी-बस्ती है? फिर कहाँ गया वह सब? इस बाउरी-बस्ती के उस युग के हस्ताक्षर? टूटे-फूटे झोपड़े, भीत से छान तक झरे हुए लेप, झाँटे, बेंवड़े की फुनगी, टूटी तलई, फटी चटाई दबी छान के किसी छेद में टूटी टोकरी ठूँस दी गयी है, तो किसी और छेद में सूखे कद्दू की बेल खुद जाली बना रही है। बाहर घर के चारों ओर कूड़े-करकट का ढेर, कहीं घोंघे के खोल, तो उधर गोबर, गन्दगी। छाजन में धूर के धूर मैले फटे-पुराने चीथड़े। फुरफुराते रूखे बालोंवाले आदमी, जीविका के लिए पराये घर की बाड़ी-पिछवाड़ी ठीक रखते-रखते अपने लिए समय ही नहीं रहता, दूसरों की दया की आस में रहते-रहते चेहरे के साथ जुड़-सा गया दास्यभाव, उदासी, विषण्णता। मजूरनी स्त्रियाँ, हाथ में मोटे गिलट के कंगन, बिन पोंछे, मैले-गन्दे नंग-धड़ंग बच्चे, फरफराते सिर में कुलबुलाती लीख-जूँएँ!...

वह दृश्य बदल गया है! सब जगह मजबूत भीतें, सोने की तरह चिकचिकाती नयी छपरायी छान। चबूतरा चिकना लिपा-पुता, और चबूतरे से नीचे चौरस बनाया गया, ऊबड़-खाबड़ कहीं नहीं। भीत पर सब ओर अल्पना अंकित है—धान के पौधे,

आदमी, चिड़ियाँ, लता-फूलों के चित्र। घर-बार रास्ता सब साफ-सुथरा, कतार में छोटे-छोटे नारियल के गाछ उगाये हुए। पक्की बाड़ के घेरे के उस ओर पिछवाड़े का बगीचा, स्वस्थ पेड़-पौधे गुहाल भी साफ-स्वच्छ, वहाँ कतार में गायें बाँधने के खूँटे। कहीं हृष्टपुष्ट बैलों की जोड़ियाँ छाया तले बँधी विश्राम ले रही हैं।

बीच में खुला-खुला कमरा, उस घर से पुराण पढ़ने की आवाज आ रही है। चारों ओर घने कनेर के गाछ बढ़ गये हैं, घेरा लगाये हैं, छाया किये हैं। घरों में आगे जगह-जगह ध्यान से बँधी जो साड़ियाँ सूख रही हैं, वे सब रंग-रंग की देशी साड़ियाँ हैं। जगह-जगह चबूतरे पर जो आदमी बैठे हैं वे साफ़-सुथरे हैं, साफ धोती पहने हैं, बच्चे भी साफ-सुथरे, सिर के बालों में कंघी की हुई है। जूठा बरतन माँजने बाउरानियाँ बस्ती के उस सिरे पर नहीं गयीं, बीच आँगन में—धोने नहीं बैठी हैं। बाउरी-बस्ती में साधारणतया जो हाव-हाव लगी रहती थी, यहाँ उसका लवलेश भी नहीं। उलटे मानो यहाँ इस छाया तले शान्ति विराज रही है। सब में संयम है, श्री है।

स्वयं खिंचे जाने की तरह चल पड़े वे खुली कोठरी की ओर। आधी दीवार घूम गयी है, दो कतार में तीसेक लोग फर्श पर बैठे हैं। खुले के उस तरफ एक छोटी-सी कोठरी है; उसी कोठरी में कई ताड़-पत्र की पोथियों की गद्दी है, वहाँ कोई बूढ़ा एक ताड़-पोथी पढ़ रहा है। महाभारत पढ़ी जा रही है।

उन्हें देखकर अचानक चंचलता फैल गयी।

"आज अहोभाग्य !....पधारिए बाबाजी महाराज !"

"प्रणाम बाबाजी"...."दण्डवत् बाबाजी !"

"पाटे पर चरण रखें, महाराज। ताकि चरण पखारें।"

"आ तो हमारे घर से बिछावन तो लेतो आना, री बेटी !"

"गुड़ का पना लेते आना। देखो, दही मिलाकर।"

पाँव धुले, चटाई डाली गयी, बाबाजी महाराज विराजे, बाउरी लोग घेरकर बैठे। कुलवृद्ध अक्रूर बाउरी उठ खड़ा हुआ। हाथ जोड़कर बोला, "क्षमा माँग रहे हैं। बाबाजी को गाँजे की जरूरत हो रही होगी, बस हमें इसके लिए क्षमा करें। हमारा दैन्य! तिरनाथ मेले के नाम पर पहले इस बस्ती में खूब गाँजे की धूम मचा करती थी, जिस दिन से अपना गाँव इस तरह मामलाती हो गया, हमने मण्डल-सभा बुलाकर निष्पत्ति कर डाली कि अब इस गाँव में और गाँजे का दम नहीं भरा जाये।"

आरत पण्डा मुग्ध हो चुके थे। कहा, "नहीं, नहीं बाबा, मैं गाँजा फूँकनेवाला नहीं हूँ। बोलो, सब ठीक है तो ? खाना-पीना, देह, चलन—क्यों पहले की तरह ही है, या कुछ बदला भी है ?"

"हाँ महाराज बदला है।" एक-एक कर उनमें से कहता गया। केवल बदला ही नहीं, पहले की बात तो हम दुःस्वप्न की तरह भूल भी गये हैं। पहले तो इनकी कट्ठा-भर ज़मीन भी न थी, घर-बार न था, पेड़ में फल होता तो लेकर जाते जमींदार के

रही। बाद में आता सावन-भादों का जमाना, वे ही लोग वे भाई आकर हमें बधाई-वधाई दे गये, काम में मन लगा, हाथ में कर आ गया, इसका भी है सदा सावन-भादों गीत, सारा गाँव एक घर की तरह हर्षित-भाव में गुन-गुन में गान-तान गुँथा-बँधा है।

"पहले की बात नहीं रही महाराज, थोड़ा मोटे-मोटे कर्जे पर पहुँच जाते थे, फिर का अंगूठा टेढ़ा हो जाता था, पहले तो हम आदमियों की गिनती में ही नहीं थे। अब पेशा कर रहे हैं, आप कहते हैं। बाल-बच्चे भी दो अक्षर सीख रहे हैं।"

दोपहर-भर उसी सूने घर में विश्राम लेकर आस-पास के आदमियों से उस इलाके के परिवर्तन का सारा का सारा इतिहास सुन गये। फुलवारा की जनानी—रवि, धीरेंद्र मिश्र, विजि दोष, बड़े मलिक, नन्द दास, रघु जेना, कुन्ता बाउरी, पाटोली और का महिला दल, शिबु घोषाल, जिले-जिले कार्यकर्ताओं के नाम और प्रसंग, बाढ़ का उत्पात, बांध का काम, आस-पास के गाँवों पर नये संस्कृति का प्रभाव, नयी आशा से सभी पेशा के लिए नगर बसना आदि कितनी बातें। उनसे उन्होंने सारी बातें सुनीं। ज्यों-ज्यों सुनते गये त्यों-त्यों अचम्भे में डूबते गये, खुशी से मगन होते गये। मानवता मशालें लेकर यहां आदमी की पारिवारिक अवस्था भी उन्नति की ओर आ रही है, इसके लिए ऊपर से कोई ज़ोर-जबरदस्ती नहीं लादी गयी है, अपने-आप अन्दर से जो उदग्-राग निकलता है उसी के वेग से असम्भव सम्भव हो रहा है।

सांझ हो गयी। फुलवारा की ओर चल पड़े। मानो जैसे यह उनकी तीर्थ-यात्रा है।

दूर खेत के उस ओर घने नारियल के बगीचे तले वह गाँव है। उस जमाने में उसका जैसे कोई नाम-धाम न था। आज वह प्रसिद्ध हो चुका है। अनन्त समय के बीच इस दुनिया में किस गाँव में कौन-सी मशाल जली थी, युग पर युग बीत गये हैं, मशाल वहाँ से बुझकर यहाँ जलती आयी है।

घुमक्कड़ जिन्दगी में जगह-जगह उन्होंने सोचा है—जिनकी बात इतिहास कहता नहीं, बस सूचना-भर देता है, जिन्होंने अपने समय में मानव-जाति के लिए मशाल जलायी थी, निविड भाव से इस माटी और समय के साथ जुड़कर खटकते रहे थे, फिर और न रहे, उनका क्या कुछ भी न रहा? उन्हीं अपरिचितों को याद कर वे अपने रास्ते की नीरवता, निःसंगता तोड़ते रहे हैं, सचमुच जैसे उनकी देह खो जाने पर भी जिस व्यक्तित्व के रंग में वे समय को रँग सके थे, खाली शून्य में वह रह गया है, देख सकने पर देखा जा सकता था। वैसे ही वे सोच रहे थे उस अकलन अगणित मानव-समाज की बात, कोई बुद्धदेव के प्रभाव से प्रभावान्वित, कोई किसी और महापुरुष के प्रभाव से, किसी ने किसी अंश तक सफलता पायी थी। बाद में वह समय बीत गया है, वह गोष्ठी खो गयी है, जहाँ एकदा जनाकीर्ण ग्राम या जनपद के पार से नदी की धार बहती, आज वहाँ बना है खेत। वे सोच रहे थे कि राजनैतिक स्वाधीनता अत्यावश्यक है पर अर्थनैतिक स्वाधीनता के बिना गोष्ठी का विनाश ही निश्चित है; परन्तु नैतिक

स्वाधीनता न होने तक आदमी जीवन का उपभोग कर सकेगा नहीं, सृष्टि के साथ समन्वय रखने का आनन्द पा सकेगा नहीं। रुककर सोचा, शायद यह भी नहीं, नैतिक या राजनैतिक भी नहीं—सारी नीति सारे नामों के ऊपर है जीवन। उसका आरम्भ नहीं, बीच नहीं, शेष नहीं। उसी के बीच निःशब्द पत्ता झर जाता है, पत्ते की कली निःशब्द खिल उठती है, फूल की पंखुड़ी खुल जाती है, अलक्ष्य में ही हवा में केशर उड़ जाती है, और वहीं लगकर आरम्भ होता है नयी सृष्टि का। सोचते-सोचते क्या इसी को मानव धर्म का वेश पहनाकर खड़ा किया था उपभोग करने के लिए? किसी ने अगर देह-सुख को लाकर धर्म के साथ गूँथ दिया था तो कोई ले आया था रूप-रस के उल्लास को। यही क्या उस योग-साधना का हेतु था कि जिस उपाय से हो, अपनी चेतना को चारों ओर परिव्याप्त सृष्टि के साथ जोड़कर जीवन को अनुभव किया जाये?

नहीं, यह भी चित्त की ही एक अवस्था है, सीमित, रूपबद्ध, पूर्ण-सत्य नहीं। लगता है, सत्य शायद अनुभव किया जा सकता है, वर्णन उसका नहीं हो सकता।

भारत पण्डा नीचे रास्ते के बीच में रुककर खड़े हो गये। चारों ओर खाली-खाली खेत, फटकर मुँह बाये माटी, बीच में थोड़ी-सी गोचर। वहाँ तनिक छोड़-छोड़कर ऊँची-ऊँची बाम्बियाँ, मानो कोई बाम्बियों की सभा बैठी हो। ध्यानस्थ होकर अतीत के कई योगी बैठे हों। बीच में एक बबूल की झाड़ी गोल होकर डाल-पत्तों से भरी-पूरी है। नारंगी रंग के सूर्यास्त में रंगीन साड़ी बाँधे खड़ी है, ध्वनि दिखाकर तरुणी हो रूप का सम्भार खिलाकर वह खड़ी है उन्हीं योगी-ऋषियों के बीच। सामने सूर्य अस्त हो रहे हैं, ऊपर आधा तो मेघों से ढूबा हुआ है, एक विराट् लाल गोलार्ध दबता-दबता जा रहा है, आकाश में अपरूप वर्णच्छटा। खाली नीचे रास्ते पर नाना रंग ढुलकते जा रहे हैं, उड़ती-उड़ती आ रही हैं झुण्ड की झुण्ड चिड़ियाँ, क्षण-भर दिख जाती हैं, अगले क्षण नहीं। क्षितिज पर गाँवों की सघन अमराई दिखाई पड़ रही है। उनके ऊपर रंग-रंग के बादलों के टुकड़े। ऊपर का ढक्कन खुल गया। समूचा सूरज दिख रहा है, सीधे ताक रहे हैं उधर, सारा अन्तर थरथराकर भेदता जा रहा है एक व्यक्तित्व का स्पर्श। कुछ सोच नहीं पाते।

दूर से धूल उड़ती दिखाई दे रही है, मानो एक धूल की बदली फाँके खुले खेत की विस्तृति पर पसरी दिख रही हो। विराट् हिस्सा घेरे है, अस्त जाते सूरज की किरणों से नारंगी वर्ण, सुनहली और लाल रंग में लथपथ होकर धूलिपटल माया के कोहरे की तरह दिख रहा है। पास आते-आते दिख जाता है मानो उस मायावी कोहरे में मायारूप को घेरे खड़े हैं एक दो ताड़ और खजूर के पेड़। कहीं जगह-जगह अकेला-

दुकेला बड़ा और घना पेड़ है, रंगीन धूल की बदली की लहर आहिस्ते-आहिस्ते सूने ही सूने में उलट-पुलट होने लगी है। उसके ऊपर नाना रंगों की आड़ी-टेढ़ी लकीरें नाना भावों की छवियों से भरा अनन्त आलुल आकाश।

भारत पण्डा उसी दृश्य को देखते-देखते अचम्भे में भर उठे। क्यों इधर इतनी धूल उड़ रही है? गोधूलि वेला की तो यह धूल है नहीं, वह तो क्षितिज के आगे सारी कतारों में टँगी रहती है।

शान्ति से माटी में मिलकर सोया था टुकड़ा-टुकड़ा अतीत, युग-युग का अतीत, नये रंग से नये प्रवाह से मनलुभा मायाम्न बनकर उस दिशा को घेरे है। चलते-चलते सचमुच जैसे भारत पण्डा ध्यानस्थ हो गये हैं।

कल्पना में बहते चले गये। ऐसे तो अतीत में कितने ही रौंदने आये थे, कतार के कतार, कदम बढ़ाते राज्य-विजेता आक्रमणकारियों के दल।

कलिंग की छाती पर मगध के राजा अशोक का संहारक अभियान? जलाओ, मारो, काटो, भस्म करो, ध्वंस करो—यही सब!

या कोई कालापहाड़ की मुसलमान-सेना?

समय-समय पर अन्य फिर कोई?

नहीं तो प्रेम और आनन्द के महाभाव में पागल चैतन्य और प्रतापरुद्र (श्री चैतन्य के उड़ीसा आगमन के समय के उड़ीसा के राजा) समेत विराट् जन-समुदाय?

या यह वही—महात्मा गान्धी के साथ-साथ इस देश का जन-समुद्र है—भारत-माता की वन्दना गाते-गाते स्वाधीनता की माँग बुलन्द कर छाती से छाती मिलाकर एकता में बँधे आ रहे हैं—एक-एक नहीं, टुकड़े-टुकड़े में नहीं—एक उद्बुद्ध भारतवर्ष।

प्राचीन धरती की इस जादुई धूल की ओट में छुपा होता है ध्वंस या नूतन सृष्टि, रहता है मृत्यु या जीवन का जुलूस, यह मानो वहाँ युग-युग की तैरती छाया हो, उसका क्रान्तिकारी रंग विह्वल करता है, अपने अंग से न सहने पर उसका तात्पर्य पहचान में नहीं आता—दूर से बढ़ती आ रही ढेर की ढेर लहरों की तरह, उनके पीछे और पीछे कतार की कतार, वे उठायें कि पछाड़ेंगी कि लुढ़कायेंगी।

चल रहे हैं दोनों पैर, आगे ही आगे, और वह लाठी का पोला, कितने देश घूमा। कितने दिन, कितनी रात, कितनी ऋतुएँ, कितना धूप-कोहरा भेदते हुए चले आ रहे हैं मानो सन्त मुकद्दम जाहानियाँ पीर, मक्का-मदीना से निकल इस धरती का बहुत बड़ा हिस्सा घूम चुकने के बाद सामने वो पवित्र तीर्थ, जहाँ प्राची चन्द्रभागा में धुलकर चित्रोत्पला मिल गयी है समुद्र से। सामने सचमुच तो यही है, सामने नाना रंगों का औटा-औटी हुआ सूर्यास्त के समय का वही माया-समुद्र। अब की वह विख्यात बालिवन्त (टीला) पर लाठी टेककर खड़े हुए देख रहे हैं—सन्त मुकद्दम जहाँनियाँ। यही क्या यात्रा का अन्त है—वहाँ मिस्र, अरब, मंगोलिया, तिब्बत और उत्तर से दक्षिण सारे भारत में घूम चुकने पर दक्षिण से उत्तर को बढ़ते-बढ़ते अन्त में इसी बालू के टीले पर

सन्ध्या। और अन्तर में पुलक से जल रही है सुगन्ध की अमिट धूप-बत्ती, अपनी महक बिखराती जा रही है घुमक्कड़ हवा में। चेहरे पर वही स्नेह-शीतल प्रशान्त अपूर्व ठवनि, आँखों में वही अविस्मरणीय दृष्टि जिससे दिख जाता कि सब कुछ उँडेलकर इन्होंने सब कुछ पा लिया है, और होठों पर थी उस बाँक में प्रशान्त अनाविल आनन्द और विश्वास की वह विद्युत्-रेखा, जो कहती है—

"आदमी को मैंने देखा है सुख में, दुःख में, पहाड़ में, मरुभूमि में, और हरे-भरे खेत में। उसका रंग भिन्न-भिन्न दिखता है, परन्तु उसके अन्तर में वह एक ही ज्योति है, और अखण्ड यह मानव-जाति, एक ईश्वर की सन्तान है, शान्ति और आनन्द उसका जन्मजात अधिकार है, स्नेह और भाईचारा।"

आरत पण्डा ने उसी बालू के टीले पर से नीचे की ओर सामने देखा। इस बालू पर कतार के कतार काजू के पौधे घुटनों-घुटनों-भर के हो आये हैं। सामने फैली है धरती। उस धरती पर जगह-जगह दो-तीन सौ लोग बिखरे हुए माटी खोद रहे हैं। विराट् एक जगह को घेरकर एक सुन्दर खेत आँखों के आगे तैयार दिखता आ रहा है। उससे तनिक दूर पर दिख रहा है बाग़-बग़ीचे के झुरमुटों से घिरा गाँव!

तो यही है फूलझरा! छन् से आरत पण्डा के मन में धारणा फैल गयी। पुलक आनन्द से वे देखते रहे। माटी नहीं, जड़ता और अँधेरे के तले से उखाड़-उखाड़कर आदमी यहाँ जमा कर रहे हैं शान्ति, आनन्द। यहाँ जीवन झलक रहा है।

अतीत में खो गया हो पाटेली गाँव में उनका घर। फूलझरा में और भी बड़ा घर है, और ये ही तो उनके बाल-बच्चे हैं, कन्धे से कन्धा मिलाये हुए।

काम पूरा होने को आया। काम के बीच वे भी उन्हें कुतूहल से ताक रहे हैं, सूने टीले पर अकेली एक विचित्र मूर्ति को। और थोड़ी देर में तो, काम पूरा हो गया, वे उनके पास आ गये। देखते ही देखते जान-पहचान हुई। फिर तो हर्ष-ध्वनि चारों ओर भर गयी।

इस इलाके में आरत पण्डा लौट आये हैं! पाटेली गाँव न जाकर फूलझरा आये हैं, आज दिन में! कितने गाँवों के लोग आज यहाँ जमा हैं। नहीं, कोई अलग नहीं— आरत पण्डा सोच रहे थे—इनमें प्रत्येक और ये सब मेरे अतीत के स्वप्न हैं, अतीत झर नहीं गया है, सहेजा गया है, परन्तु तब यह था मात्र विचार और कल्पना, आज उसने रूप धर लिया है, इन इतने घटों में, चेहरों पर, आँखों में, यही तो उसका प्रकाश है। चारों ओर मानो समुद्र की अगणित पुलकित किशोर लहरियाँ उनके चारों ओर खेलती-फिर रही हैं। जहानियाँ पार उस समुद्र में लीन हो गये।

लहरें बढ़ी आ रही हैं, अब छाया लम्बी हो आयी। एक जगह इतनी छाया पास ही पास घुलती-मिलती, और इतने जो मानव-रूप हैं, सब मानो कि छाया से ही बने हैं। साँझ हो आयी। छाया लौट रही है, छाया के अन्दर, बाँस का वन, बगीचों की सघनता, घरों की छान, सब उसी छाया के रूप!

देर बाद नींद की खुमारी जैसे टूट जाती है, और लगता है कि मन में जो गुनगुना रहा था, वह तो सपने की बात है, सच नहीं। स्वयं खुश होने लायक कुछ भी तो उसने नहीं किया।

तब फिर क्यों?

तो भी उसके मन के अन्दर भीगा-भीगा नरम भार, और वेदना की अस्पष्ट झंकार उसे समेटे है।

वह भी साफ हो गयी है। अनुभव कर पा रहा है—यह गाँव, यही वह प्रिय गाँव, उसकी कर्मभूमि, जहाँ भावना ने लिया रूप। अनुभव कर पा रहा है—आज उसी शुभ आरम्भ की सालगिरह। कितने लोग। कितना उत्साह, आनन्द। हँसी-खुशी से झूमते छोटे से लेकर बड़े तक इतने चेहरे पास-पास खिल जाते हैं। किसी को पल-भर भी खयाल नहीं, यह उनके चलन का नया ढंग, जीवन की धारा है। किसी एक ने उसे नहीं गढ़ा, वह तो अपने आप ही मानो अंकुरित हुई है, बढ़ उठी है।—एक मानो दूसरे का अवतार, सब अवतार हैं उस एक ही भावना के—शान्ति के।

"वे मुझे चाहते हैं।" किनारा तोड़ती बाढ़ की तरह घुं-घुं करता उल्लास आनन्द उसकी चेतना में प्रवेश कर रहा है। वह घुल रहा है, बिछा जा रहा है।

दिखाई पड़ते जा रहे हैं और कितने गाँव, कितने आदमी, आदमियों की दुनिया-भर में धाराएँ बह गयी हैं। वह खुद एक नहीं, अनेक है।

रात कितनी होगी? तीन या दो? गहरी नींद में सोये हैं सब। कितनी संघर्ष-चेतना! कितनी समस्याओं के दाग, जलती सलाख से दागने की तरह। अब वे सब सोते होंगे।

आदमी का आकार या चेहरा आदमी नहीं, घर है। कोई वामन, कोई असुर की तरह—देखकर आँखों को भ्रम हो जाता है। सचमुच जैसे यह देह घर नहीं, देह ही स्वयं आदमी है। परन्तु घर के भीतर का आदमी भी कभी-कभी पहचान में आ जाता है, रक्त-मांस के नीचे छुपा व्यक्तित्व। कभी लगता—असुर की तरह चेहरे के अन्दर दुर्बल शिशु की तरह आदमी, या नाटे शिशु के अन्दर किसी में मजबूत आदमी, निडर, विचारपूर्ण। परन्तु कितने हैं वैसे? अस्थिर, लड़खड़ाते, अशान्त आदमी। जीवन में सुख-शान्ति क्या है उसे पहचानने से पूर्व ही उम्र पूरी हो जाती। पल-भर शान्ति और चैन पाने के लिए सारे जीवन-भर भरसक लड़ना। स्वयं शंका कर वह संसार की भीति-आशंका बढ़ाता, खुद स्वयं को साज-सहेजकर बढ़ाता है स्वार्थ, द्वेष, भाग्य की अनिश्चितता। घर बसाने जाकर बना डालता है मसान। उसकी तेज बुद्धि से बना विज्ञान का उपयोग होता है उसी के विनाश के काम में। अत्यन्त विज्ञता से निर्मित समाज हो जाता है विशृंखल जंगली समाज, जहाँ एक का दूसरे के साथ सम्बन्ध खाद्य-खादक का है। स्वार्थ, नीचता, क्रूरता, अनीति चल रहे हैं एक साथ मिल-जुलकर, मानव-जाति के ध्वंस के लिए, प्रलय-हुताशन बनने की खातिर। चेत उठना ही होगा, रुँधना पड़ेगा,

क्योंकि आदमी को चाहिए—शान्ति !

शान्ति !

कितनी बातें हैं उस एक ही शब्द में !

जितने, जहाँ, जो जन्मे होंगे, सबके मुँह के लिए आधार होगा। सबके रहने के लिए छत होगी। सबके लिए समान अवसर, ताकि वे पढ़-लिख सकेंगे, आदमी बनेंगे, श्रम को कार्य में लगाने की सुविधा पायेंगे, बीमार होने पर चिकित्सा की सुविधा पा सकेंगे, जब काम कर चुके होंगे तो पायेंगे साज-सँभाल, सेवा आदर, चैन से आनन्द से जी सकेंगे, मर सकेंगे।

ताकि कोई उनका खून न चूस सके, कोई कन्धे पर सवार न हो सके, कोई लाल आँख न दिखा सके, नाक-भौंह सिकोड़ न सके, भेद-भाव न कर सके, कोई 'बे' कह न सके, 'हुद्' भी न कह पाये !

स्नेह, विश्वास का देन-लेन, समझ-बूझ और ठोस भाईचारे के अन्दर गुँथी-बँधी एक धरती, एक घर। जीवन वहाँ सरल, सुन्दर, आशा-आनन्द में उज्ज्वल; नित्य नये विकास में वैचित्र्यपूर्ण।

उसी का नाम—शान्ति।

कैसे होगी ?

शान्ति-शान्ति का मन्त्र जपने से तो कुछ होगा नहीं। शान्ति का अभिनय करने से तो अशान्ति ही बढ़ी है। अनन्त काल से कितनी बार हुआ है शान्ति के लिए उद्यम पर यह चिरस्थायी नहीं हो सका।

होगी, किसी न किसी दिन। अवश्य होगी।

नहीं तो यह मानव-जाति बचेगी कैसे ?

यह पृथ्वी जलकर राख जो हो जायेगी !

चाँद अस्त होता आ रहा है, दूर कतार की कतार नारियल के पेड़ों पर उतरता जा रहा है। उत्तेजित होकर रवि मन ही मन सोच रहा है—होगी, अवश्य होगी, केवल ये हाथ-पैर चलते-फिरते रहने की जरूरत है।

सचमुच जैसे वह निरन्तर चलता रहा है—उतार-चढ़ाव, धूप-छाँही रास्ते पर।

मुड़कर देख रहा है। छवि आ रही है उसके पीछे-पीछे।

और अब उसके मन में धुक-धुक नहीं है। शान्त हो वह चला गया और फिर सो रहा।

चिलचिलाती दुपहरिया !

पाटेली गाँव में अमणिराय दस जगह सिली मैली धोती बाँधे, सिर पर भीगा

देर बार नींद की खुमारी जैसे टूट जाती है, और लगता है कि मन में जो गुनगुना रहा था, वह तो सपने की बात है, सच नहीं। स्वयं क्षुब्ध होने लायक कुछ भी तो उसने नहीं किया।

तब फिर क्यों ?

तो भी उसके मन के अन्दर भीगा-भीगा नरम भार, और वेदना की अस्पष्ट झंकार उसे समेटे है।

वह भी साफ हो गयी है, अनुभव कर पा रहा है—यह चांद, यही वह प्रिय गाँव, उसकी कर्मभूमि, जहाँ भावना ने लिया रूप। अनुभव कर पा रहा है—आज उसी शुभ आरम्भ की सालगिरह। कितने लोग। कितना उत्साह, आनन्द। हँसी-खुशी से सबसे छोटे से लेकर बड़े तक इतने चेहरे पास-पास खिल जाते हैं। किसी को क्षण-भर का ख्याल नहीं, यह उनके चलन का नया ढंग, जीवन की धारा है। किसी एक ने उसे नहीं गढ़ा, वह तो अपने आप ही मानो अंकुरित हुई है, बढ़ उठी है।—एक मानो दूसरे का अवतार, सब अवतार हैं उस एक ही भावना के—शान्ति के।

"वे मुझे चाहते हैं।" किनारा तोड़ती बाढ़ की तरह घूं-घूं करता उल्लास आनन्द उसकी चेतना में प्रवेश कर रहा है। वह खुल रहा है, बिछा जा रहा है।

दिखाई पड़ते जा रहे हैं और कितने गाँव, कितने आदमी, आदमियों की दुनिया-भर में धाराएँ बह गयी हैं। वह खुद एक नहीं, अनेक है।

रात कितनी होगी ? तीन या दो ? गहरी नींद में सोये हैं सब। कितनी संघर्ष-चेतना ! कितनी समस्याओं के दाग, जलती सलाख से दागने की तरह। अब वे सब सोये होंगे।

आदमी का आकार या चेहरा आदमी नहीं, घर है। कोई वामन, कोई असुर की तरह—देखकर आँखों को भ्रम हो जाता है। सचमुच जैसे यह देह घर नहीं, देह ही स्वयं आदमी है। परन्तु घर के भीतर का आदमी भी कभी-कभी पहचान में आ जाता है, रक्त-मांस के नीचे छुपा व्यक्तित्व। कभी लगता—असुर की तरह चेहरे के अन्दर दुर्बल शिशु की तरह आदमी, या नाटे शिशु के अन्दर किसी में मजबूत आदमी, निडर, विचारपूर्ण। परन्तु कितने हैं वैसे ? अस्थिर, लड़खड़ाते, अशान्त आदमी। जीवन में सुख-शान्ति क्या है उसे पहचानने से पूर्व ही उम्र पूरी हो जाती। पल-भर शान्ति और चैन पाने के लिए सारे जीवन-भर भरसक लड़ना। स्वयं शंका कर वह संसार की भीति-आशंका बढ़ाता, खुद स्वयं को साज-सहेजकर बढ़ाता है स्वार्थ, द्वेष, भाग्य की अनिश्चितता। घर बसाने जाकर बना डालता है मसान। उसकी तेज बुद्धि से बना विज्ञान का उपयोग होता है उसी के विनाश के काम में। अत्यन्त विज्ञता से निर्मित समाज हो जाता है विशृंखल जंगली समाज, जहाँ एक का दूसरे के साथ सम्बन्ध खाद्य-खादक का है। स्वार्थ, नीचता, क्रूरता, अनीति चल रहे हैं एक साथ मिल-जुलकर, मानव-जाति के ध्वंस के लिए, प्रलय-हुताशन बनने की खातिर। चेत

क्योंकि आदमी को चाहिए—शान्ति !

शान्ति !

कितनी बातें हैं उस एक ही शब्द में !

जितने, जहाँ, जो जन्मे होंगे, सबके मुँह के लिए आधार होगा। सबके रहने के लिए छत होगी। सबके लिए समान अवसर, ताकि वे पढ़-लिख सकेंगे, आदमी बनेंगे, श्रम को कार्य में लगाने की सुविधा पायेंगे, बीमार होने पर चिकित्सा की सुविधा पा सकेंगे, जब काम कर चुके होंगे तो पायेंगे साज-सँभाल, सेवा आदर, चैन से आनन्द से जी सकेंगे, मर सकेंगे।

ताकि कोई उनका खून न चूस सके, कोई कन्धे पर सवार न हो सके, कोई लाल आँख न दिखा सके, नाक-भौंह सिकोड़ न सके, भेद-भाव न कर सके, कोई 'वे' कह न सके, 'हद' भी न कह पाये !

स्नेह, विश्वास का देन-लेन, समझ-बूझ और ठोस भाईचारे के अन्दर गुँथी-बँधी एक धरती, एक घर। जीवन वहाँ सरल, सुन्दर, आशा-आनन्द में उज्ज्वल, नित्य नये विकास में वैचित्र्यपूर्ण।

उसी का नाम—शान्ति।

कैसे होगी ?

शान्ति-शान्ति का मन्त्र जपने से तो कुछ होगा नहीं। शान्ति का अभिनय करने तो अशान्ति ही बढ़ी है। अनन्त काल से कितनी बार हुआ है शान्ति के लिए उद्यम . यह चिरस्थायी नहीं हो सका।

होगी, किसी न किसी दिन। अवश्य होगी।

नहीं तो यह मानव-जाति बचेगी कैसे ?

यह पृथ्वी जलकर राख जो हो जायेगी !

चाँद अस्त होता आ रहा है, दूर कतार की कतार नारियल के पेड़ों पर उतरता रा है। उत्तेजित होकर रवि मन ही मन सोच रहा है—होगी, अवश्य होगी, केवल ।-पैर चलते-फिरते रहने की जरूरत है।

सचमुच जैसे वह निरन्तर चलता रहा है—उतार-चढ़ाव, धूप-छाँही रास्ते पर।

मुड़कर देख रहा है। छवि आ रही है उसके पीछे-पीछे।

और अब उसके मन में धुक-धुक नहीं है। शान्त हो वह चला गया और रहा।

ी दुपहरिया !

ेली गाँव में अगणिराव दस जगह सिली मैली धोती बाँधे, सिर पर भीगा

यहाँ। बाद में आया सामलाती का जमाना, वे ही गाँव के भाई आकर इन्हें जमीन-बाड़ी दे गये, काम में मन रमा, हाथ में बल आ गया, इनका भी हो गया सामलाती गाँव, सारा गाँव एक घर की तरह हानि-लाभ में युग-युग में गाय-गाय गुँथा-बँधा है।

"पहले की बात कहाँ रही महाराज, बोझा ढोते-ढोते कन्धे पर घट्टे पड़ जाते थे, पैर का अँगूठा टेढ़ा हो जाता था, पहले तो हम आदमियों की गिनती में ही नहीं थे। अब चेष्टा कर रहे हैं, जाग रहे हैं। बाल-बच्चे भी दो अक्षर सीख रहे हैं।"

दोपहर-भर उसी खुले घर में विश्राम लेकर आरत पण्डा धाउरियों से उस इलाके के परिवर्तन का सारा का सारा इतिहास सुन गये। फूलझरा की कहानी—रवि, घोबेई मिश्र, बिशि डोम, बई मलिक, नन्द दादा, रघु जेना, कुरुपा बाउरी, पाटेली गाँव का महिला दल, सिन्धु चौधरी, कितने-कितने कार्यकर्ताओं के नाम और प्रशंसा, बाढ़ का उत्पात, बाढ़ का काम, आस-पास के गाँवों पर नये संगठन का प्रभाव, नयी आशा से नयी चेष्टा के लिए कमर कसना आदि कितनी बातें। उनसे उन्होंने सारी बातें सुनी। ज्यों-ज्यों सुनते गये त्यों-त्यों अचम्भे में डूबते गये, खुशी में मगन होते गये। मानवता बढ़ाने को लेकर यहाँ आदमी की पारिपार्श्विक अवस्था की उन्नति की जा रही है, इसके लिए ऊपर से कोई जोर-जबरदस्ती नहीं लादी गयी है, अपने-आप अन्दर से जो उच्छ्वास निकलता है उसी के वेग से असम्भव सम्भव हो रहा है।

साँझ हो गयी। फूलझरा की ओर चल पड़े। लगा जैसे वह उनकी तीर्थ-यात्रा है।

दूर खेत के उस ओर घने नारियल के बगीचे तले वह गाँव है। उस जमाने में उसका वैसे कोई नाम-वाम न था। आज वह प्रसिद्ध हो चुका है। अकलन समय के बीच इस दुनिया में किस गाँव में कौन-सी मशाल जली थी, युग पर युग बीत गये हैं, मशाल यहाँ से बुझकर वहाँ जलती आयी है।

घुमक्कड़ जिन्दगी में जगह-जगह उन्होंने सोचा है—जिनकी बात इतिहास कहता नहीं, बस सूचना-भर देता है, जिन्होंने अपने समय में मानव-जाति के लिए मशाल जलायी थी, निविड़ भाव से इस माटी और समय के साथ जुड़कर छटपटते रहे थे, फिर और न रहे, उनका क्या कुछ भी न रहा? उन्हीं अपरिचितों को याद कर वे अपने रास्ते की नीरवता, नि:संगता तोड़ते रहे हैं, सचमुच जैसे उनकी देह खो जाने पर भी जिस व्यक्तित्व के रंग में वे समय को रँग सके थे, खाली शून्य में वह रह गया है, देख सकने पर देखा जा सकता था। वैसे ही वे सोच रहे थे उस अकलन अगणित मानव-समाज की बात, कोई बुद्धदेव के प्रभाव से प्रभावान्वित, कोई किसी और महापुरुष के प्रभाव से, किसी ने किसी अंश तक सफलता पायी थी। बाद में वह समय बीत गया है, वह गोष्ठी खो गयी है, जहाँ एकदा जनाकीर्ण ग्राम या जनपद के पार से नदी की धार बहती, आज वहाँ बना है खेत। वे सोच रहे थे कि राजनैतिक स्वाधीनता अत्यावश्यक है पर अर्थनैतिक स्वाधीनता के बिना गोष्ठी का विनाश ही निश्चित है, परन्तु नैतिक

सन्ध्या। और अन्तर से पुलक से जल रही है सुगन्ध की अमिट धूप-बत्ती, अपनी महक बिछाती जा रही है घुमक्कड़ हवा में। चेहरे पर वही स्नेह-शीतल प्रशान्त अपूर्व ठवनि, आँखों में वही अविस्मरणीय दृष्टि जिससे दिख जाता कि सब कुछ उँडेलकर इन्होंने सब कुछ पा लिया है, और होठों पर थी उस बाँक में प्रशान्त अनाविल आनन्द और विश्वास की वह विद्युत्-रेखा, जो कहती है—

"आदमी को मैंने देखा है सुख में, दुख में, पहाड़ में, मरुभूमि में, और हरे-भरे खेत में। उसका रंग भिन्न-भिन्न दिखता है, परन्तु उसके अन्तर में वह एक ही ज्योति है, और अखण्ड यह मानव-जाति, एक ईश्वर की सन्तान है, शान्ति और आनन्द उसका जन्मजात अधिकार है, स्नेह और भाईचारा।"

आरत पण्डा ने उसी बालू के टीले पर से नीचे की ओर सामने देखा। इस बालू पर क़तार के क़तार काजू के पौधे घुटनों-घुटनों-भर के हो आये हैं। सामने फैली है धरती। उस धरती पर जगह-जगह दो-तीन सौ लोग बिखरे हुए माटी खोद रहे हैं। विराट् एक जगह को घेरकर एक सुन्दर खेत आँखों के आगे तैयार दिखता आ रहा है। उसमें तनिक दूर पर दिख रहा है बाग-बगीचे के झुरमुटों से घिरा गाँव!

तो यही है फूलझरा! छन् से आरत पण्डा के मन में धारणा फैल गयी। पुलक आनन्द से वे देखते रहे। माटी नहीं, जड़ता और अँधेरे के तले से उखाड़-उखाड़कर आदमी यहाँ जमा कर रहे हैं शान्ति, आनन्द। यहाँ जीवन झलक रहा है।

अतीत में खो गया हो पाटेली गाँव में उनका घर। फूलझरा में और भी बड़ा घर है, और ये ही तो उनके बाल-बच्चे हैं, कन्धे से कन्धा मिलाये हुए।

काम पूरा होने को आया। काम के बीच वे भी उन्हें कुतूहल से ताक रहे हैं, सूने टीले पर अकेली एक विचित्र मूर्ति को। और थोड़ी देर में तो, काम पूरा हो गया, वे उनके पास आ गये। देखते ही देखते जान-पहचान हुई। फिर तो हर्ष-ध्वनि चारों ओर भर गयी।

इस इलाके में आरत पण्डा लौट आये हैं! पाटेली गाँव न जाकर फूलझरा आये हैं, आज दिन में! कितने गाँवों के लोग आज यहाँ जमा हैं। नहीं, कोई अलग नहीं—आरत पण्डा सोच रहे थे—इनमें प्रत्येक और ये सब मेरे अतीत के स्वप्न हैं, अतीत झर नहीं गया है, सहेजा गया है, परन्तु तब यह था मात्र विचार और कल्पना, आज उसने रूप धर लिया है, इन इतने घटों में, चेहरों पर, आँखों में, यही तो उसका प्रकाश है। चारों ओर मानो समुद्र की अगणित पुलकित किशोर लहरियाँ उनके चारों ओर खेलती-फिर रही हैं। जहानियाँ पार उस समुद्र में लीन हो गये।

लहरें बढ़ी आ रही हैं, अब छाया लम्बी हो आयी। एक जगह इतनी छाया पास ही पास घुलती-मिलती, और इतने जो मानव-रूप हैं, सब मानो कि छाया से ही बने हैं। साँझ हो आयी। छाया लौट रही है, छाया के अन्दर, बाँस का वन, बगीचों की सघनता, घरों की छान, सब उसी छाया के रूप!

दुकेला बड़ा और घना पेड़ है, रंगीनि धूल की बदली की लहर आहिस्ते-आहिस्ते सूने ही सूने में उलट-पुलट होने लगी है। उसके ऊपर नाना रंगों की आड़ी-टेढ़ी लकीरें नाना भावों की छवियों से भरा अनन्त अकलन आकाश।

भारत पण्डा उसी दृश्य को देखते-देखते अचम्भे से भर उठे। क्यों इधर इतनी धूल उड़ रही है? गोधूलि वेला की तो यह धूल है नहीं, वह तो क्षितिज के आगे सारी कतारों में टँगी रहती है।

शान्ति से माटी में मिलकर सोया था टुकड़ा-टुकड़ा अतीत, युग-युग का अतीत, नये रंग से नये प्रकाश से मनलुभा मायारूप बनकर उस दिशा को ढाँपे है। चलते-चलते सचमुच जैसे भारत पण्डा ध्यानस्थ हो गये हैं।

कल्पना में बहते चले गये। ऐसे तो अतीत में कितने ही रौंदते आये थे, कतार के कतार, कदम बढ़ाते राज्य-विजेता आक्रमणकारियों के दल।

कलिंग की छाती पर मगध के राजा अशोक का संहारक अभियान? जलाओ, मारो, काटो, भस्म करो, ध्वंस करो—यही सब!

या कोई कालापहाड़ की मुसलमान-सेना?

समय-समय पर अन्य फिर कोई?

नहीं तो प्रेम और आनन्द के महाभाव में पागल चैतन्य और प्रतापरुद्र (श्री चैतन्य के उड़ीसा आगमन के समय के उड़ीसा के राजा) समेत विराट् जन-समुदाय?

या यह वही—महात्मा गान्धी के साथ-साथ इस देश का जन-समुद्र है—भारत-माता की वन्दना गाते-गाते स्वाधीनता की माँग बुलन्द कर छाती से छाती मिलाकर एकता में बँधे आ रहे हैं—एक-एक नहीं, टुकड़े-टुकड़े में नहीं—एक उद्बुद्ध भारतवर्ष!

प्राचीन धरती की इस जादुई धूल की ओट में छुपा होता है ध्वंस या नूतन सृष्टि, रहता है मृत्यु या जीवन का जुलूस, यह मानो वहाँ युग-युग की तैरती छाया हो, उसका क्रान्तिकारी रंग विह्वल करता है, अपने अंग से न सहने पर उसका तात्पर्य पहचान में नहीं आता—दूर से बढ़ती आ रही ढेर की ढेर लहरों की तरह, उनके पीछे और पीछे कतार की कतार, वे उठायेंगे कि पछाड़ेंगी कि लुढ़कायेंगे।

चल रहे हैं दोनों पैर, आगे ही आगे, और यह लाठी का पोला, कितने देश घूमा। कितने दिन, कितनी रात, कितनी ऋतुएँ, कितना धूप-कोहरा भेदते हुए चले आ रहे हैं मानो सन्त मुकद्दम जाहानियाँ पीर, मक्का-मदीना से निकल इस धरती का बहुत बड़ा हिस्सा घूम चुकने के बाद सामने वो पवित्र तीर्थ, जहाँ प्राची चन्द्रभागा में घुलकर चित्रोत्पला मिल गयी है समुद्र से। सामने सचमुच तो यही है, सामने नाना रंगों का औटा-औटा हुआ सूर्यास्त के समय का वही माया-समुद्र। अब तो वह विख्यात बालिवन्त (टीला) पर लाठी टेककर खड़े हुए देख रहे हैं—सन्त मुकद्दम जहानियाँ। यही क्या यात्रा का अन्त है—वहाँ मिस्र, अरब, मंगोलिया, तिब्बत और उत्तर से दक्षिण सारे भारत में घूम चुकने पर दक्षिण से उत्तर को बढ़ते-बढ़ते अन्त में इसी बालू के टीले पर

सन्ध्या। और अन्तर से पुलक से जल रही है सुगन्ध की अमिट धूप-बत्ती, अपनी महक बिखाती जा रही है घुमक्कड़ हवा में। चेहरे पर वही स्नेह-शीतल प्रशान्त अपूर्व ध्वनि, आंखों में वही अविस्मरणीय दृष्टि जिससे दिख जाता कि सब कुछ उँड़ेलकर इन्होंने सब कुछ पा लिया है, और होठों पर थी उस बांक में प्रशान्त अनाविल आनन्द और विश्वास की वह विद्युत्-रेखा, जो कहती है—

"आदमी को मैंने देखा है सुख में, दुःख में, पहाड़ में, मरुभूमि में, और हरे-भरे खेत में। उसका रंग भिन्न-भिन्न दिखता है, परन्तु उनके अन्तर में वह एक ही ज्योति है, और अखण्ड यह मानव-जाति, एक ईश्वर की सन्तान है, शान्ति और आनन्द उसका जन्मजात अधिकार है, स्नेह और भाईचारा।"

आरत पण्डा ने उसी बालू के टीले पर से नीचे की ओर सामने देखा। उस बालू पर कतार के कतार काजू के पौधे घुटनों-घुटनों-भर के हो आये हैं। सामने फैली है धरती। उस धरती पर जगह-जगह दो-तीन सौ लोग बिखरे हुए माटी खोद रहे हैं। विराट् एक जगह को घेरकर एक सुन्दर खेत आंखों के आगे तैयार दिखता आ रहा है। उससे तनिक दूर पर दिख रहा है बाग-बगीचे के झुरमुटों से घिरा गांव!

तो यही है फूलझरा! छन् से आरत पण्डा के मन में धारणा फैल गयी। पुलक आनन्द से वे देखते रहे। माटी नहीं, कड़वा और बँजरे के दले से उखाड़-उखाड़कर आदमी यहां जमा कर रहे हैं शान्ति, आनन्द। यहां जीवन झलक रहा है।

अतीत में खो गया हो पाटेली गांव में उनका घर। फूलझरा में और भी बड़ा घर है, और ये ही तो उनके बाल-बच्चे हैं, कन्धे से कन्धा मिलाये हुए।

काम पूरा होने को आया। काम के बीच वे भी उन्हें कुतूहल से ताक रहे हैं, सूने टीले पर अकेली एक विचित्र मूर्ति को। और थोड़ी देर में तो, काम पूरा हो गया, वे उनके पास आ गये। देखते ही देखते जान-पहचान हुई। फिर तो हर्षध्वनि चारों ओर भर गयी।

इस इलाके में आरत पण्डा लौट आये हैं। पाटेली गांव न जाकर फूलझरा आये हैं, आज दिन में! कितने गांवों के लोग आज यहां बने हैं। नहीं, कोई कष्ट नहीं— आरत पण्डा सोच रहे थे—इनमें प्रत्येक और ये सब मेरे अतीत के स्वप्न हैं, अतीत भर नहीं गया है, सहेजा गया है, परन्तु तब यह था मात्र विचार और कल्पना, आज उसने रूप धर लिया है, इन इतने घटों में, चेहरों पर, आंखों में, इन में उसका प्रकाश है। चारों ओर मानो समुद्र की अगणित पुलकित किशोर लहरियों के घरों और खेतों- फिर रही है। जहानियां पीर उस समुद्र में लीन हो गये।

लहरें बढ़ी आ रही हैं, अब छाया लम्बी हो आयी। ... इतनी छाया पास ही पास घुलती-मिलती, और इतने जो मानव-रूप हैं, ... कि छाया में हैं बने हैं। सांझ हो आयी। छाया लौट रही है, छाया के ... का दल, बगीचे की सघनता, घरों की छान, सब उसी छाया के रूप।

देखता छवि को आँक रहा है, उसकी उस लहर में धीरे-धीरे हिलती डुलती वह गयीं उसकी वे निरीह आँखें। अपने आप में विभोर होने की तरह वह दृष्टि, जो अचानक छलछला उठती, कौतुक से हँसती। नहीं तो जहाँ अचानक मर जाती थमे तूफानी आकाश में बिजली, तब उसका स्थूल रूप पिघलकर वह हो जाती एक महाभाव!

जोगी-बस्ती, पाण (डोम)-बस्ती, बीच में पाटेली गाँव के सामलाती में उस दिन शाम को उत्सव हो रहा था। स्वयं रवि मिन्धु चौधरी के घर गया था—उन्हें और छवि को कह आने के लिए। उसका वह जो उत्साह, छाती के अन्दर जो आनन्द की पुलक—फिर वहाँ धक-धक होने लगी। छवि के प्रति उसका इतने दिनों का संचित आवेग फिर अपने अन्दर से निकल उसकी आँखों में माया-अंजन पोत गया। उसी मोह में फिर उसने कल्पना में देखा उसी दृश्य को, और फिर उसके पीछे-पीछे के कई दृश्यों को, मानो बार-बार वे उसकी आँखों के आगे अभिनीत होते जा रहे हैं।

और इस गुमसान रात में, जब वह अपने मरम भाव में तल्लीन है, उसे लग रहा है कि उसके जीवन का वह भाग उधर है, एक साथ हुए बिना इस जीवन की सार्थकता कहाँ? पारद का एक अंश और एक अंश के साथ मिलने से पूर्व शायद ऐसा ही लगता है, उसमें किसी प्रवणता का आलोड़न। अपने मन को आधी नींद में टटोलने की तरह वह क्षण-भर सोचता रह गया। और सोचने लगा कि यह क्या उसकी विशिष्ट दुर्बलता है, या किसी स्वस्थ मानव-व्यक्तित्व की बिलकुल साधारण प्रवृत्ति, कोई पाप नहीं, पुण्य नहीं, सिर्फ दैव का इंगित—कि युवक-युवती एक हों, प्रकृति की लीला पूर्ण करो, सृष्टि को चिर श्यामल करो, सतेज करो!

अपने साथ लड़ते-लड़ते वह फिर हाथ उठा लेता है निःसहाय भाव से, बहाव के तोड़ में बहता चला जा रहा है। हर्ज भी क्या है? वह सोचता है कि संसार तो यही चाहता है, यह उसकी दुर्बलता नहीं है, यह तो स्वाभाविक परिणति है।

दिख जाता है सामलात की सभा में कितने लोग जुटे थे, स्त्री-पुरुष। वहाँ छवि भी बैठी थी। अब भी देख पा रहा है—हँसते समय उसके होठों की भंगिमा, उन दाँतों की चपल चमक, एक बार कौंध कर उसके अन्तर तक में हलचल मचाकर फिर वह मुँह बन्द हो जाता। उसकी आँखों के भाव-समुद्र में विचित्र प्रकाश, बिना बोले भी कितनी बातें वह कह जाती। कान तले उसके गाल-माथे पर वो थोड़ी-सी जगह जहाँ लहराती-सी लटें खेलतीं। गरदन घुमाते समय गले के पीछे की ओर। उसका जरा-जरा-सा हाव-भाव। कब वह दोनों हथेलियों को पास-पास कर अँगुली में अँगुली फँसा कैसी पागल मुद्रा बना रही है, कभी होठों की रेखा पर अँगुली का सहारा लगाकर उझकती देख रही है। नाभा धीमे से फूल उठता है, दब जाता है। कभी कोने ही कोने से देखते-देखते अचानक छवि की नजर उसकी दृष्टि की पकड़ में आ जाती है, वह सिर झुका लेती है। कभी उसकी दृष्टि छवि की संयत देह पर टिक गयी थी, और वह स्वयं उसकी आँखों द्वारा पकड़ा गया है, उसकी देह वाष्पायित हो उठी। दृष्टि में, कामना में

देर बाद नींद की खुमारी जैसे टूट जाती है, और लगता है कि मन में जो गुनगुना रहा था, वह तो सपने की बात है, सच नहीं। स्वयं शुभ होने लायक कुछ भी तो उसने नहीं किया।

तब फिर क्यों ?

तो भी उसके मन के अन्दर भीगा-भीगा नरम भाव, और वेदना की अस्पष्ट झंकार उसे समेटे है।

यह भी साफ हो गयो है, अनुभव कर पा रहा है—यह गांव, यही यह शिव गौर, उसकी कर्मभूमि, जहाँ भावना ने लिया रूप। अनुभव कर पा रहा है—आज उसी शुभ आरम्भ की सालगिरह। कितने लोग। कितना उत्साह, आनन्द। हँसी-खुशी से झूमते छोटे से लेकर बड़े तक इतने चेहरे पास-पास खिल जाते हैं। किसी को तन-भर का ख्याल नहीं, यह उनके चलन का नया ढंग, जीवन की धारा है। किसी एक ने उसे नहीं गढ़ा, यह तो अपने आप ही मानो अंकुरित हुई है, बढ़ उठी है।—एक मानो दूसरे का अवतार, सब अवतार हैं उस एक ही भावना के—शान्ति के।

"वे मुझे चाहते हैं।" किनारा तोड़ती बाढ़ की तरह घूं-घूं करता उल्लास आनन्द उसकी चेतना में प्रवेश कर रहा है। वह घुल रहा है, बिछा जा रहा है।

दिखाई पड़ते जा रहे हैं और कितने गाँव, कितने आदमी, आदमियों की दुनिया-भर में धाराएँ बह गयी हैं। वह खुद एक नहीं, अनेक है।

रात कितनी होगी ? तीन या दो ? गहरी नींद में सोये हैं सब। कितनी संघर्ष-चेतना ! कितनी समस्याओं के दाग, जलती सलाख से दागने की तरह। अब वे सब सोये होंगे।

आदमी का आकार या चेहरा आदमी नहीं, घर है। कोई वामन, कोई असुर की तरह—देखकर आँखों को भ्रम हो जाता है। सचमुच जैसे यह देह घर नहीं, देह ही स्वयं आदमी है। परन्तु घर के भीतर का आदमी भी कभी-कभी पहचान में आ जाता है, रक्त-मांस के नीचे छुपा व्यक्तित्व। कभी लगता—असुर की तरह चेहरे के अन्दर दुर्बल शिशु की तरह आदमी, या नाटे शिशु के अन्दर किसी में मजबूत आदमी, निडर, विषादपूर्ण। परन्तु कितने हैं वैसे ? अस्थिर, लड़खड़ाते, अशान्त आदमी। जीवन में सुख-शान्ति क्या है उसे पहचानने से पूर्व ही उम्र पूरी हो जाती। पल-भर शान्ति और चैन पाने के लिए सारे जीवन-भर भरसक लड़ना। स्वयं शंका कर वह संसार की भीति-आशंका बढ़ाता, खुद स्वयं को साज-सहेजकर बढ़ाता है स्वार्थ, द्वेष, भाग्य की अनिश्चितता। घर बसाने जाकर बना डालता है मसान। उसकी तेज बुद्धि से बना विज्ञान का उपयोग होता है उसी के विनाश के काम में। अत्यन्त विज्ञता से निर्मित समाज हो जाता है विशृंखल जंगली समाज, जहाँ एक का दूसरे के साथ सम्बन्ध खाद्य-खादक का है। स्वार्थ, नीचता, क्रूरता, अनीति चल रहे हैं एक साथ मिल-जुलकर, मानव-जाति के ध्वंस के लिए, प्रलय-हुताशन बनने की खातिर। चेत उठना ही होगा, रुंधना पड़ेगा,

क्योंकि आदमी को चाहिए—शान्ति !

शान्ति !

कितनी बातें हैं उस एक ही शब्द में !

जितने, जहाँ, जो जन्मे होंगे, सबके मुँह के लिए आधार होगा। सबके रहने के लिए छत होगी। सबके लिए समान अवसर, ताकि वे पढ़-लिख सकेंगे, आदमी बनेंगे, श्रम को कार्य में लगाने की सुविधा पायेंगे, बीमार होने पर चिकित्सा की सुविधा पा सकेंगे, जब काम कर चुके होंगे तो पायेंगे साज-सँभाल, सेवा आदर, चैन से आनन्द से जी सकेंगे, मर सकेंगे।

ताकि कोई उनका खून न चूस सके, कोई कन्धे पर सवार न हो सके, कोई लाल आँख न दिखा सके, नाक-भौंह सिकोड़ न सके, भेद-भाव न कर सके, कोई 'बे' कह न सके, 'हट्' भी न कह पाये !

स्नेह, विश्वास का लेन-देन, समझ-बूझ और ठोस भाईचारे के अन्दर गुँथी-बँधी एक धरती, एक घर। जीवन वहाँ सरल, सुन्दर, आशा-आनन्द में उज्ज्वल; नित्य नये विकास में वैचित्र्यपूर्ण।

उसी का नाम—शान्ति।

कैसे होगी ?

शान्ति-शान्ति का मन्त्र जपने से तो कुछ होगा नहीं। शान्ति का अभिनय करने से तो अशान्ति ही बढ़ी है। अनन्त काल से कितनी बार हुआ है शान्ति के लिए उद्यम पर यह चिरस्थायी नहीं हो सका।

होगी, किसी न किसी दिन। अवश्य होगी।

नहीं तो यह मानव-जाति बचेगी कैसे ?

यह पृथ्वी जलकर राख जो हो जायेगी !

चाँद अस्त होता आ रहा है, दूर कतार की कतार नारियल के पेड़ों पर उतरता आ रहा है। उत्तेजित होकर रवि मन ही मन सोच रहा है—होगी, अवश्य होगी, केवल ये हाथ-पैर चलते-फिरते रहने की जरूरत है।

सचमुच जैसे वह निरन्तर चलता रहा है—उतार-चढ़ाव, धूप-छाँही रास्ते पर।

मुड़कर देख रहा है। छवि आ रही है उसके पीछे-पीछे।

और अब उसके मन में धुक-धुक नहीं है। शान्त हो वह चला गया और फिर सो रहा।

चिलचिलाती दुपहरिया !

पाटेली गाँव में अगणिराथ दस जगह सिली मैली धोती बाँधे, सिर पर भीगा

डोरिया गमछा डाले तटबन्ध के ऊपर चढ़ रहा था। उसका घर वहाँ से थोड़ी ही दूर है, बीच में बाँस का झुरमुट न होता तो उसकी छान दिखती। उसे कहीं जाना न था, पर खा चुकने के बाद ठूँठ की तरह अकेले अपने दरवाज़े पर बैठे-बैठे खीज-सी लगी। पहले इसी चिलचिलाती दोपहरिया में कितनी ओर घूमना होता, लोग अपना कलह का थैला खोलकर दिखाते, पैसा देकर बुद्धि लेते। उसी तरह प्रत्येक उत्तेजना को रास्ता दिखाकर हर चौथे-पाँचवें दिन शहर जाना पड़ता। पीछे-पीछे अपनी तरफ़ की कहानी लिये-दिये लोग उत्साह में जाते। हाकिम के आगे क्या कहना पड़ेगा, जिरह होने पर क्या कहना पड़ेगा, इसी तरह का गहरा सलाह-मशविरा चलता। राह-खर्च, खाना-पीना, शहर घूमना सब उन्हीं पर। घर लौटते समय कोट की जेब में नोट होते, पक्ष-वाले देते, पक्ष को जिसके पास जुटाते वह भी देता, दूसरा पक्ष भी कभी-कभी देता।

कहाँ गये वे दिन! हूक-सी उठ रही थी अगणिराय के मन ही मन में। सचमुच, और वे दिन नहीं आयेंगे। कलह लगता, कहाँ-कहाँ से लोग आते और आपस में मेट कर चले जाते हैं, मुकदमा होता ही नहीं। लोग आते ही नहीं। घर चलता नहीं।

असहाय दृष्टि से नदी की धू-धू करती बालू को देखते हुए अगणिराय ने हवा में पेड़-पौधों की साँय-साँय, झाँय-झाँय सुनी, बायीं ओर देखा, तटबन्ध के तले इमली के पेड़ की जड़ में कोई बैठे हैं, उसे साथी चाहिए। उधर ही चल पड़ा।

इमली के नीचे तने का सहारा लेकर बैठा है बूढ़ा किशेई ओझा। नदी की ओर दृष्टि, सिर थोड़ा झुक गया है, माथे के बाल, आँखों की पलकें, छाती के बाल सब जूट हो चुके। बूढ़े की ठुड्डी पर चार अँगुल की रुपहली दाढ़ी। उस समय अगणिराय के विकल मन में बूढ़े के चेहरे को गौर से देखने की इच्छा हुई। पहलेवाली बात होती तो सदा की तरह सोचते—इस बूढ़े के सिर का मोल तो एक कौड़ी भी नहीं, ज़रा-सी बात पर आग-बबूला हो जाता है—न बुद्धि न विचार। परन्तु अब वह दिख रहा है—ऋषि की तरह, निश्चल, ध्यान में लीन-जैसा। बूढ़े का और उसका एक ही विचार है—सामलाती को लेकर, एक साथ मिलकर गाली दी जा सकती है, चाहे कोई सुनने-वाला न हो!

पर श्रोता भी दो जन सुन रहे हैं। बिका मुदुली खुरपी से तटबन्ध पर घास छील रहा है धीमे-धीमे, धनुआ केवट ने हाथ में लिया है एक छोटे जाल का काम। बैठा-बैठा बुन रहा है। बिका मुदुली को अगणिराय की लिहाज़ नहीं। गाई नहीं या कि गाय नहीं कि जिधर हिला दो झूल जायेगा, सही थोथा। परन्तु धनुआ केवट कैसा तो अड़बंगा-सा है। जो ज़िद पकड़ लेगा बस वही! समझते-बूझते लोगों के बीच भी अरणे, अबूझे, अड़बंगे लोग होते हैं—अगणिराय ने सोचा, अपने खोये हुए चेहरे की भौंहें दिखा दीं। अगणिराय उधर ही चलने लगा।

"और पाँच घर कल सामलाती में चले गये। धनुआ केवट ने उधर देखे बिना ही कहा। मज़ाक़ के लहजे में पूछा, "बताना तो कौन-कौन है?"

बिका मुदुली ने खुरपी से खोदते हुए कहा, "जानता हूँ !"

किणेई ओझा ने कुछ नहीं कहा, कछार पर जो पीपल का पेड़ खड़ा है उसकी डाल हवा में झूल रही है, अधर में नाना ढंग से वह हिल रही है, नाच रही है। किणेई ओझा की निगाह मानो वहीं अटक गयी हो—धुँधले आकाश के आगे एक हिलती पुरानी डाल। धनुआ केवट का प्रश्न....फिर अगणिराय ने मुँह बिदकाया। कहा, "पाँच हुए तो क्या, और पचास हुए तो क्या ?"

बिका मुदुली ने कहा, "वही तो।"

अगणिराय ने धनुआ केवट से पूछा, "तुम कब सामलाती में मिल रहे हो ?"

धनुआ केवट ने गुप्त रहस्य के बारे में चर्चा करने के ढंग से कहा, "जाल की बुनाई तो चल रही है, देखते हो।"

अगणिराय में उत्साह न था। और कुछ बोले बिना वह चुपचाप नदी की ओर देखता किणेई ओझा के पास बैठे रहा। उसकी भंगिमा में क्लान्ति और पराजय के चिह्न थे।

मन ही मन जितना चाहे, पर समय उसकी मुट्ठी से खिसकता जा रहा है, स्वत: सृष्टि गढ़ी जा रही है, कहा न माननेवाले और मनमानी करनेवाले दल बढ़ उठे हैं, गुट बाँधकर उसकी जड़ काट दी है। उसे और कुछ कहना नहीं।

हवा में तैर आयी मृदंग की आवाज, और साथ में रुक-रुककर छन्दमाला की पंक्ति का गाना। किणेई ओझा अचानक सीधा होकर बिलबिला उठा—

"सुनो, रावण वध !"

"रावण वध, या सीता-बनवास, कैसे जाना ?"

सिर हिला-हिलाकर किणेई ओझा ने कहा, "ना, ना, रावण-वध।"

धनुआ केवट ने कहा, "अपने बचपन से हमने देखा है खुद उस तख्ते रावण नाचता है, जान नहीं सकेंगे क्यों ? सचमुच आज साँझ को सामलाती में रावण-वध करेंगे।"

उसमें भी अगणिराय को उत्साह नहीं। उपहास की-सी सूखी हँसी में कहा, "हे !"

परन्तु किणेई ओझा कान लगाये रहा, मानो एक ही झटके में वह उस भूले अतीत की ओर लौट गया है। झटका चला गया, बाद में वह विकल होकर असहाय भाव से अपनी दुर्बल बाँहों को उठा हाथ की ओर देखने लगा। कलाई मरोड़ी, हथेली उलट-पलट की, देखा, केवल नस-नस और झुर्रीदार चमड़ी। उसने एक गहरी साँस छोड़ी। वह सोच रहा था, तब प्रतापी लंकेश्वर बनकर मंच पर खड़ा हो जाता तो भीड़ में हलचल मच जाती, परन्तु वो तो कब की बात हो गयी, उसके बाद तो कितने ही लोग रावण बनकर नाच चुके हैं, उसके दिन तो कभी के चुक गये !

और साथ-साथ वे पुराने दिन भी लद गये हैं। इस जमाने में तो छोकरे बने हैं

मुरब्बी, पुराना चलन भी गया कहीं नहाने, छोटा-बड़ा, छूत-अछूत सबका विचार डूब गया। निजी या अपना कहने लायक कोई बात ही नहीं रही। बस गुट, सामलाती, औरतें बीच बाजार घूमती फिरेंगी, मरदों की तरह काम-धन्धा करेंगी, मान-अपमान रह ही नहीं गया!

दो दिन के खेल की तरह सामलाती टूट जाती तो वह उसे हँसी में उड़ा देता और उन लोगों को कहता, "तब तो मेरी बात में गन्ध आ रही थी, मैंने कहा था कि नहीं?"

पुरानी देह का और भरोसा भी तो नहीं रहा, वह सुख देखना अब और भाग में नहीं। उन्हीं का बल बढ़ रहा है, जिधर सुनो, उन्हीं की बात होती है। बस उन्हीं की जयजयकार, ये कान और कितना सुनेंगे?

दूर से दिखता है—कोई आ रहा है। दुर्बल, लड़खड़ाता, एकदम बुढ़ऊ, भृकुटि पण्डित। भृकुटि पण्डित उत्तेजित हैं।

"किधर गये ये पण्डितजी?" धनुआ केवट ने पूछा।

"अपना सराध करने।"

"आपका सराध?"

"और किसका? ये देखो न, पूजा करने को कह रहा था, समझा-बुझा, लिखा-बताकर आया था, सारी व्यवस्था तो लिखवा दी थी, तालिका के मुताबिक सामान आता सात रुपये का, मुझे ले-देकर और खरचा होता दो-तीन रुपये। आज कहता है क्या न कि ये तीन रुपये निकाले हैं, वाई में विधि-विधान से पूजा करवा दें, और आप लें दो पावली। तीन रुपये में दुनिया-भर के देवी-देवताओं का वरण कर राजी कर विदा करूँगा। हैं रे बेटे! कहने लगा तीन रुपये नहीं तीन सौ नये पैसे हैं, पूरे न पड़ें तो न सही, और हैं भी नहीं।"

"किसकी बात कह रहे हैं पण्डितजी?" अगणिराय पूछ रहे थे।

"अरे, वो हटिया. . हटिया और कौन? पूजा नहीं करवानी थी तो ये इतना तमाशा लगाकर मुझे घाम ही घाम दौड़ाने की क्या जरूरत थी?"

अगणिराय ने मुसकराकर कहा, "आप वैसे हो, तभी तो इतनी बात। नहीं तो कमर कमकर दफा पर दफा लगा देते कि बस बाप को मौसा कहकर बुलाना पड़ता—वह तो चीज ही क्या है? पर आप क्यों सुनने लगे हमारी बात?"

भृकुटि पण्डित कहने लगे, "जाने दो, बाबा, जो जैसा करेगा, वह वैसा ही फल पायेगा। पूजा-मनौती बोलेगा क्यों और हँसी-ठट्ठा करवाये क्यों? न करवायी, न दिया कुछ, उस बात का कोई विचार मेरे मन में नहीं है, ग्रह जानें, ठाकुरजी जानें, वे जानें, अपनी बात खुद समझेंगे।"

चिन्ता मुदुली ने एक ही बात कही, "ठीक, बिलकुल ठीक।"

धनुआ केवट ने कहा, "ठीक-ठीक नहीं, गधे की टाँग। सुनिए पण्डितजी,

चिढ़ना नहीं। देखें। ठाकुरजी, देवता अब आदमी के रास्ते से बातें सुनते ही नहीं। हाथ-पैर चलाने पर, पसीना बहाकर काम करने से वे सुनते हैं। तभी पूजा-ऊजा में लोगों का उतना पहले की तरह आग्रह नहीं रहा। पहले मैं ही कोई कम मानता था ?"

भृकुटि पण्डित बोले, "अरे, इस लोक में ना जीतेगा, उस लोक में तातो वैतरणी पार होगा कैसे ?"

अगणिराय हँसकर बोला, "वो चिन्ता तब होगी। वैतरणी के ऊपर भी आदमी जाने के लिए पुल बन जायेगा।"

बात घुमाकर भृकुटि पण्डित ने कहा, "ओह ! ये जो घाम है !" वे भी उसी पेड़ के नीचे बैठ गये। कहने लगे, "किस घड़ी में आज आदमी निकला कि फूटा धेला भी नहीं !"

अगणिराय कहने लगा, "आठ आना ही सही, मिल रहा था, ले आते, मना क्यों कर आये ? अगली बार के लिए मन करता तो खींचतान करते।"

बिका मुदुली ने कहा, "हाँ, ठीक-ठीक !"

भृकुटि पण्डित ने कुछ नहीं कहा।

बैठे रहे पेड़ के नीचे वे तीनों, गाँव का पुरोहित, गाँव का टाउटर और पुराने दिनों में गाँव की दलबन्दी का नेता।

कभी धर्म के नाम पर, कभी क़ानून और अधिकार के नाम पर, कभी अपने स्वार्थ के लिए या ऐंठ के लिए कितनी बार उठाया है, गिराया है इस गाँव को। कितने घर टूटे हैं, कितनों में कितने कलह लगे हैं। अब यहाँ सब शान्ति है। नया चलन, नया मन है। उनका अब और जोर नहीं चलता, उनकी तरफ लोग नहीं, बात का असर नहीं होता। युद्ध में जो नेता थे, शान्ति में वे अख्यात हो गये। अँधेरे में वे बड़े बने थे, प्रकाश में वे कुछ भी न रहे। जाल बुनना रोककर धनुआ केवट ने अपनी गरदन मोड़कर उपेक्षा में उनके चेहरे की ओर देखा। उनके बारे में सोचने लगा।

तब वे दूर देख रहे थे, वहाँ जहाँ कछार टूटकर दो पुरसा गहरा होकर नदी की बालू चली गयी है, उसी कछार के कगार पर जगह-जगह एकाध पेड़ हैं, दोपहर की तपन में हिल रहा है, उसके उधर खाली खुला पड़ा है।

धुँधला-सा हो गया। छाया उतर रही थी। कण्डों की राख-सा आकाश। अकेले पेड़ के उस ओर बालू उड़ाता घूमाल उठा, पेड़ मानो मुड़-माड़कर माटी से लग गये हों।

तभी खुरपी रखकर बिका मुदुली तटबन्ध के ऊपर हाथ दिखा उल्लास से चिल्ला पड़ा—"वो...!"

कई स्त्रियाँ आ रही हैं। कीर्तन अहीर की बहू, सतुरा डोम की पतोहू, केला की पत्नी आगे-आगे हैं। उनके पीछे-पीछे और भी कई। वे लोग बिना रुके चली गयीं, उन तीनों के पीछे-पीछे दाशी की भौजाई, धनू परिडा की स्त्री, बली, मल्ली, सिन्धु चौधरी की बेटी छवि, चांद, रघुआ की माँ, तीन-चार अपरिचित औरतें भी, और

सबके पीछे रोहीनाथ की स्त्री दूल।

बिना मुद्दों ने हँसकर पीछे से पुकारा, "किधर ?"

दूल ने बताया, "तण्डीकूल !"

अगणिराय ने टोकते हुए कहा, "अरे, पगलो, इस जलती दोपहर में दो कोस रास्ता तण्डीकूल, कहाँ से ?"

दूल ने कहा, "उनके गाँव से हमें लेने जो आयी हैं। चार जनी गयी, देखा नही ? हमारे यहाँ जैसा हुआ, उनके यहाँ वैसा शुरू किया है, सो हमें बुलाया है।"

अगणिराय ने आपत्ति कर कहा, "बुलाया तो क्या औरतें अपना घर-बार छोड़ चिलचिलाती दुपहरिया में पैदल जायें ! दो कोस ?"

दूल हँस पड़ी। बोली, "क्यों नही जायेंगी ?" वह दल से बिछड़ गयी थी। पीछे की ओर देखे बिना फुदकती-फुदकती चली गयी। किणेई ओझा चुपचाप बैठा था, अचानक सिर झटकाकर वह बोला, "कैसे ?"

यही उसका आक्रमण से पूर्व का संकेत है। परन्तु उस स्वर में भय और बल न था। वह आवाज उनके कानों तक पहुँची नही। वो चली जा रही हैं, देवदारु के जोड़े के नजदीक तक पहुँच गयी होंगी। हवा के कारण साड़ी के आँचल फूल गये हैं। खूब उत्साह से जा रही हैं। मानो अनेक पाल उड़ाता-उड़ाता कोई बोहित जा रहा है।

किणेई ओझा ने दुर्बल आवाज में गँवारकर कहा, "देखते हो इनकी बात ! क्या समय आ गया !" हाँफ-हाँफकर कह गया, "गाँव-भर को पागलपन लगा है, जात-कुजात नही, स्त्रियाँ रास्ते पर फिरने लगी, *अर्पतिया गया*, *मागुणिया गया*, गाँव के लोगों की बुद्धि नाश हो गयी। सब सत्यानाश हो गया है !"

भृकुटि पण्डित ने चीं-चीं कर कहा, "धरम-करम तो गया, आचार-विचार डूबा, सब उजड़ा, सब उलट गया !"

धनुआ केवट उठ खड़ा हुआ। कहने लगा, "क्यों, फ़ालतू बैठे 'गया-गया' चीखते हो ? क्या बिगड़ गया ? अच्छे आदमी हो ! हाथ से तिनका तो टूटे नही और बातें तीसमार खाँ की ! लम्बी-चौड़ी !"

"कैसे ?" किणेई ओझा बिहुँक उठे।

अगणिराम कहने लगे, "रहने दो, उसे कहने दो, भई !"

धनुआ केवट कह रहा था, "अच्छी तरह कहूँगा। जो आपकी बातें मानते थे वो सब सयाने लड़के तो हो गये खराब। आपका विचार आपकी अपनी सुविधा के लिए है। अब का विचार सबकी सुविधा की खातिर। यही है आपके लिए अड़चन। और अब गँदला पानी नही कि मछली मारने का मौका मिले। आप सब इसीलिए बड़बड़ा रहे हैं। आप लोग एक-एक जन्तु हैं, एक-एक जंगली सूअर !"

वह चला गया।

आगे तण्डीकूल, यह नीचा रास्ता पार करने के बाद। बगीचे का झुरमुट दिखाई पड़ रहा है। रास्ते में धुन्ध टूटकर धूप निकली थी, उमस से देह चिपचिपा रही थी। घाम की चमक मुरझा गयी थी, आँखों के सहने लायक हो चुकी। पैरों को धूल अब और गरम नहीं लगती। वे चल रही थीं।

उस रास्ते के उधर थोड़ा-सा हरा-भरा। घने-घने बकुल के पेड़ घेरकर विमान की तरह छोटा-सा पुराना मन्दिर दिख रहा है—ऊपर त्रिशूल! उसके उधर सुन्दर पत्थर के रंग की तरह गाढा सब्ज थोड़ा-सा पानी। बायीं ओर दिख जाता है रास्ते पर सेमल का पेड़, लाल-लाल फूल, झर रहे हैं, और उसके पीछे गाँव तक आम का बगीचा लगा हुआ है।

आगे-आगे जा रही थी छवि। पीछे से सवारी में किसी की बहू आयी। 'हाकुम देवोला हाकुम देवोला' कहते-कहते पालकी के कहार फुदक-फुदककर आगे चले गये। पीछे से खिलखिलाहट सुनाई पड़ रही है। बात-चीत की आवाज़ आ रही है, साथ की औरतें सवारी के बारे में बातें कर रही हैं।

मन्दिर पास आता जा रहा है। अब दिख रहा है सीधे केवड़े की कतारों के बीच गाँव को रास्ता गया है। पालकी गाँव के छोर तक हो चुकी होगी। नारियल के पेड़ों की छाया तले गाँव की बस्ती कुछ-कुछ दिख रही है। पालकी देख लोगों की भीड़ बढ़ गयी है। फिर भी वह दूर है। ढेर सारे पत्ते और धूल की भँवर घुमाता-घुमाता चला आ रहा है बगूला। सचमुच वह भी जैसे कोई अकेला बटोही हो।

कहते हैं—यही रास्ता जाता है फूलझरा।

कितनी दूर? छवि उसी सूखे धूल-भरे रास्ते की ओर ताकती हुई तनिक रुक गयी। वे पीछे रह गयी हैं। बाद में, मुड़कर चली गयी देवल के आगे बकुल की छाया तले। कोई कपोत गुटरगूँ-गुटरगूँ कर रहा था जो चुप होकर उसके चेहरे की ओर देख थोड़ी दूर उड़ गया। पोखरी के किनारे सफेद गाय चर रही है।

छाया तले, बकुल के फूलों की महक, देह को हवा छू रही है। पलकें बोझिल-बोझिल-सी लग रही हैं। छवि ने झुककर बकुल के कुछ फूल उठा लिये और अँजुरी भरकर खड़ी हो गयी। उसके चेहरे पर हँसी भरी थी। मन ही मन वह देख रही थी रवि को!

पीछे से उनकी बात-चीत से चुप्पी टूट गयी।

किसी एक ने कहा, "चल री, राह के किनारे छाया देख रुकने पर यहीं हम रह न जायें कहीं।"